श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय

छिंदवाड़ा

ज्ञान रत्न

तृतीय वर्ष

सन् २०१३

प्रकाशक

श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान

छिंदवाड़ा मध्यप्रदेश

श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय
छिंदवाड़ा

ज्ञान रत्न

तृतीय वर्ष

सन् २०१३

प्रकाशक
श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान
छिंदवाड़ा मध्यप्रदेश

मूल्य २५० रुपया

प्रस्तावना

अध्यात्म सुमनों की सुरभि से साधना का उपवन सदा सुरभित होता रहा है। संतों की साधना और साहित्य इस आध्यात्मिक वसुंधरा की संस्कृति को शाश्वत पहचान देती है। साहित्य का स्वर्णकाल भक्तिमय, संतमय था। विशेष रूप से चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तो अनेक संतों द्वारा नि:सृत, अनुभूत दर्शन, योग, सिद्धांतों की परिचायक है। वीतरागी संत आचार्य प्रवर श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य जी महाराज ऐसे ही संत शिरोमणी हैं। जिन्होंने स्वयं वीतराग धर्म की निश्चय साधना करते हुए शुद्धात्मानुभव रूप चौदह ग्रंथों में जैनागम का सारभूत सृजन किया है। उनकी यह वाणी स्वप्रसूत ज्ञानगंगा है, जिसने भारतीय साहित्य वाङ्मय में आध्यात्मिक परम्परा को नवीन मार्ग दिया है। रत्नराशियों की तरह आभावान यह चौदह ग्रंथ किसी जीव के मोक्षगमन में प्रेरणा बन जायें तो कोई आश्चर्य नहीं। अत: श्रीमद् जिन तारण तरण ज्ञान संस्थान ने मुक्ति प्रेरक, सहकारी इन ग्रंथों को श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय के पंचवर्षीय पाठ्यक्रम का आधार बनाया है। इस आधार की भावभूमि जैनाचार्यों की मूल परम्परा को अनुश्रुत करती है। तीर्थंकरों की दिव्य देशना, गणधरों की वाणी, आचार्यों की लिपियों ने संत पुरुषों को यह गंगधारा सौंपी है; वहीं आज घर-घर में प्रवाहित करने का लक्ष्य इस ज्ञानयज्ञ की महत्वाकांक्षा है। इक्कीसवीं सदी, भौतिकता, विदेशी संस्कृति, संस्कारों का तिरोहित होता जाना आज के समय की शोचनीय चिन्ता है। इस प्रभाव ने संसार, देश व समाज में आध्यात्मिक, धार्मिक संस्कारों को धूमिल किया है। अत: पुन: आध्यात्मिक क्रांति का शंखनाद करते हुए श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान पंचवर्षीय पाठ्यक्रम द्वारा शिक्षा, प्रयोग, आचरण, स्वाध्याय और प्रचार के साधन के माध्यम से जैनागम, सिद्धांत एवं आम्नाय में दक्ष करने हेतु इस कर्तव्य-रथ पर आरूढ़ है।

अखिल भारतीय तारण तरण दिगंबर जैन समाज का यह प्रथम अद्भुत चरण है। अध्यात्म रत्न बाल ब्र. श्री बसंत जी की प्रबल प्रेरणा से ही श्रीसंघ के मार्गदर्शन में श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय का यह स्वरूप धर्मनगरी छिंदवाड़ा में साकार हुआ है। सत्य तो यह है कि आत्म साधक चिंतक बाल ब्र. श्री बसंत जी ने आचार्य प्रवर श्री जिन तारण तरण की दिव्य देशना को जन-जन तक पहुँचाने का विचार वर्षों से संजोया था, वह श्रीसंघ तथा विद्वत्जनों के अपूर्व सहयोग से मूर्त रूप ले रहा है।

श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान द्वारा संचालित श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय पत्राचार माध्यम से देश, समाज के समस्त वर्गों में स्वाध्याय की रुचि जाग्रत कर, उन्हें शास्त्री की गरिमामय उपाधि से अलंकृत करेगा। समाज में प्रचलित आचरण-अध्यात्म एवं परम्परा से सम्बंधित समस्त भ्रांतियों का उन्मूलन कर सम्यक् आचरण का प्रयास करना भी इसका एक लक्ष्य है। आधुनिक शैक्षणिक गतिविधियों के माध्यम से शिक्षण-प्रशिक्षण, वक्ता-श्रोता गुणों का विकास इस लक्ष्य का सहायक होगा। इस ज्ञानरथ-ज्ञानयज्ञ का महती लक्ष्य अध्यात्म जाग्रति, अध्यात्म प्रभावना, भारतीय

संस्कृति की मूल मोक्षदायिनी वृत्ति का विकास करना है। संसार के समस्त जीवों में संयम, सद्ज्ञान, सद्‌चारित्र जागृत हो। नैतिकता, स्वाध्याय, विनम्रता की वृत्ति का विकास हो। परम्पराओं का सम्यक् आगम प्रेरित आचरण, पूज्य-पूजक विधान का ज्ञान, गुरुवाणी की प्रभावना के संस्कारों का विकास हो। मानव मात्र के जीवन में यह पाठ्य योजना आध्यात्मिक बीजारोपण कर परम आनंद में निमित्त बने। इसके लिये श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान कृत संकल्पित है। इस हेतु बहुमूल्य सुझाव भी आमंत्रित हैं।

इस पवित्र धर्म प्रभावना उपक्रम में पूज्य बाल ब्र. श्री बसंत जी की प्रेरणा, श्रद्धेय बाल ब्र. श्री आत्मानंद जी, श्रद्धेय बाल ब्र. श्री शांतानंद जी, श्रद्धेय ब्र. श्री परमानंद जी, श्रद्धेय ब्र. श्री सुखानंद जी, श्रद्धेय ब्र. श्री मुक्तानंद जी, श्रद्धेय ब्र. श्री चिदानंद जी, श्रद्धेय ब्र. श्री नित्यानंद जी, बाल ब्र. श्री अरविंद जी, बाल ब्र. राकेश जी, विदुषी बाल ब्र. बहिन उषा जी, बाल ब्र. सुषमा जी, बाल ब्र. सरला जी, ब्र. किरण जी, बाल ब्र. रचना जी, ब्र. मुन्नी बहिन जी, ब्र. आशारानी जी, बाल ब्र. संगीता जी एवं समस्त तारण तरण श्रीसंघ सदैव प्रथम स्मरणीय है। समाज के श्रेष्ठिजन, विद्वानों, चिंतकों, लेखकों तथा प्रत्यक्ष-परोक्ष, तन-मन-धन से सहयोग करने वाले सदस्यों, संयोजकों तथा समस्त साधर्मी बंधुओं, प्रवेशार्थियों का भी श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान आभार व्यक्त करता है। जिनका सहयोग ही इस ज्ञान यज्ञ की सफलता है।

श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान
संचालन कार्यालय - श्री तारण भवन,
संत तारण तरण मार्ग,
छोटी बाजार, छिंदवाड़ा (म.प्र.) ४८०००१

आभार

श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान उन सभी व्यक्तियों, संस्थाओं, मंडलों और प्रकाशकों का आभारी है, जिन्होंने इस पाठ्य पुस्तक के निर्माण में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से अपना बहुमूल्य योगदान दिया है। पाठ्य पुस्तक में संकलित विषय वस्तु के रचनाकारों, प्रकाशकों का भी कृतज्ञ है। छायाचित्र, रेखाचित्र, परिभाषाओं एवं सिद्धांतों के सम्पादन में सहयोगी समस्त विद्वत्‌जनों, कलाकारों के प्रति आभारी है, जिन्होंने समय-समय पर अपने अमूल्य सुझाव दिये हैं।

प्रेरणा

भारतीय संस्कृति में 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति' इस मंत्र पर विज्ञजनों का विश्वास है। बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती, इस सिद्धांत पर समग्र संस्कृति अडिग है। ज्ञान ही आत्मशांति और मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करने वाला महान तत्व है। यह आत्मा का परम श्रेष्ठ और असाधारण गुण है।

आत्म ज्ञान ही जीव का परम मित्र है। आत्म ज्ञान की प्राप्ति ही इस जीवन का परम ध्येय है, जिसकी प्राप्ति के लिये योगी, ज्ञानी अपना समस्त जीवन समर्पित कर देते हैं। कल्याणकारी परम ध्येय की प्राप्ति का मुख्य साधन है - स्वाध्याय।

श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान स्वाध्याय की परम्परा के माध्यम से सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्रांति का जागरण करने के लिये कटिबद्ध है। छिंदवाड़ा से यह जागरण का संदेश सम्पूर्ण देश में प्रसारित हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है।

समाज के सभी वर्गों के लिये यह प्रयास समान रूप से किया जा रहा है। समाज के प्रत्येक वर्ग की यह जिम्मेदारी है कि इस उपक्रम के माध्यम से अपने प्रणेता आराध्य एवं समग्र जिन सिद्धांत का ज्ञान कर अपने जीवन को मंगलमयी दिशा प्रदान करें। वर्तमान समय में स्वाध्याय ही एक मात्र शांति की प्राप्ति का साधन है अत: सभी भव्य जीव ज्ञान की प्राप्ति के इस श्रेष्ठ साधन का सदुपयोग कर अपने कल्याण का पथ प्रशस्त करें। इन्हीं मंगल भावनाओं सहित............

ब्र. बसन्त

ज्ञान के विहान में बढ़ते चरण.......

तारण समाज में धार्मिक शिक्षा की प्राप्ति का एकमात्र माध्यम श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय अपने आपमें एक सामर्थ्यवान संस्था है, जिसका संचालन श्री तारण तरण ज्ञान संस्थान के अंतर्गत किया जा रहा है। आज वर्तमान समय में सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि के लिये मुक्त महाविद्यालय सभी के लिये समान रूप से उपयोगी है। पंचवर्षीय पाठ्यक्रम के माध्यम से ज्ञान की एक विशिष्ट अलख जगाने के लिये यह महाविद्यालय प्रयत्नशील है।

अत्यंत प्रसन्नता का विषय है कि इस वर्ष श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान के अंतर्गत श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय तृतीय वर्ष में प्रवेश कर रहा है। समाज में ज्ञान के उपार्जन हेतु यह अभिनव प्रयास प्रशंसनीय है। शिक्षण व्यवस्थित विधि से दिया जा सके इस हेतु जो तीन वर्ग निर्धारित किये गये हैं, समाज के सभी वर्गों के जिज्ञासुओं को इस पाठ्यक्रम से अनिवार्य रूप से लाभ लेना चाहिये। ज्ञानार्जन पूर्वक ही समाज में आध्यात्मिक जागरण सम्पन्न हो सकेगा और यही ज्ञान जीवन की सार्थकता का सोपान होगा। सभी प्रवेशार्थियों का जीवन मंगलमय हो इन्हीं पवित्र भावनाओं सहित...............

सिंघई ज्ञानचंद जैन
बीना

श्रीमंत सुरेशचंद जैन
सागर

सम्पादकीय

'परस्परोपग्रहोजीवानाम्' विश्व में समस्त द्रव्य उपकार करते हैं। ये उपकार परस्पर आश्रय हेतु नहीं, अपितु स्वावलंबन का उपकार है। सर्वोदयी महावीर के संदेश में कण-कण की स्वाधीनता ध्वनित होती है। वस्तु स्वातंत्र्य का उद्घोष करने वाले ऐसे तीर्थंकरों, आचार्यों की इस धन्य-धरोहर से भारत धरा रससिक्त रही है और सदैव इस रस से सराबोर करती रही है, जिसका बीज मंत्र है कि 'विश्व का प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतंत्र है, वह अपने परिणमन का कर्ता-हर्ता स्वयं है, उसके परिणमन में पर का हस्तक्षेप रंचमात्र भी नहीं है।' यह स्वावलंबन आत्मानुभूति की पर्याय है। जो सभी धर्मों का सार है। इसी से धर्म का आरंभ और इसी से पूर्णता होती है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने इसको ही उत्तम सुख प्राप्त करने का मार्ग बताया है - **''एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि। एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं।। २०६।। समयसार।।''** अर्थात् हे भव्य जीवो! एक मात्र निजात्मा में ही लीन हो जाओ, हमेशा इसमें ही संतुष्ट रहो, इससे ही तृप्त हो जाओ। तुम्हें उत्तम सुख की प्राप्ति अवश्य होगी। परम्परा गुरु आचार्य तारण-तरण ने इसी उत्तम सुख में स्थित ध्रुव स्वभाव को नमन किया है - **''अनंत दर्सनं न्यानं, वीर्जं नंत अमूर्तयं। विस्व लोकं सुयं रूपं, नमामिहं धुव सास्वतं।।५।। तारण तरण श्रावकाचार।।''** अनंत चतुष्टयमयी अमूर्तिक स्वरूप में लीन ध्रुव स्वभाव ही वास्तव में साध्य है। **''बंध हेत्वभाव निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षो मोक्षः।। १०।। २।। तत्त्वार्थ सूत्र।।''** अर्थात् बंध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा द्वारा समस्त कर्मों का नाश हो जाना ही मोक्ष है। यही साध्य है, जिसकी सिद्धि का उपाय है - सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः और 'अन्यत्र केवल सम्यक्त्व ज्ञानदर्शन सिद्धत्वेभ्यः।' सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है और जब केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व के अतिरिक्त अन्य भावों का अभाव हो जाता है तब मोक्ष होता है। अतः **''मार्गणा हो जीव की, जो खोजें निज जीव। लोकत्रय त्रयकाल में अनुभव करो सदीव।।''**

आत्मानुभव की यह प्रभा ज्योतितः शुद्ध स्वभाव को प्रकाशित करती है। ज्योति से ज्योति के इस प्रकाश को प्रभावना द्वारा द्वार-द्वार पहुँचाने के लिये 'ज्ञानरत्न' की मनोज्ञ आभा छिंदवाड़ा में प्रज्वलित हुई है। अध्यात्मरत्न बाल ब्र. बसंत जी की पावन प्रेरणा ने श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय को स्थापित किया है। पत्राचार विधि से शुद्धात्मानुभव की बहुआयामी प्रभा का प्रकाश करने हेतु तृतीय वर्ष 'प्रवीण' की पाठ्यपुस्तक 'ज्ञानरत्न' आपके हाथों में समर्पित है। पंचवर्षीय पाठ्यक्रम में आचार्य श्री तारण तरण स्वामी जी विरचित चौदह ग्रंथों सहित छहढाला, जैन सिद्धांत प्रवेशिका, तत्त्वार्थ सूत्र, द्रव्य संग्रह, अध्यात्म अमृत कलश, योगसार आदि आगम प्रमुख ग्रंथों का समावेश है। साथ ही देव शास्त्र गुरू पूजा, अध्यात्म आराधना, वृहद मंदिर विधि, आचार्य परिचय, त्रिकालवर्ती महापुरुष के अतिरिक्त प्रथमानुयोग के कथानकों द्वारा सिद्धांत बोध को भी सम्मिलित किया गया है। जो इस ज्ञान यज्ञ को पूर्ण करेगा।

ज्ञानरत्न का प्रथम फलक (अध्याय-१) श्री तारण तरण श्रावकाचार है। जिसकी गाथा ०१ से १६७ तक पाठ्य विषय है। अविरत सम्यक्दृष्टि और व्रती श्रावक की चर्या, वैराग्य भावनाओं का चिंतवन, आत्मा का स्वरूप और अधर्म के लक्षणों से परिचित कर आचार्य तारण स्वामी, तारण पंथ की चर्या इस अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है। वास्तव में यह गाथात्मक ग्रंथ चारित्रपरक होने पर भी निश्चय ध्रुव स्वभाव की आराधना का ग्रंथ है। मूल

में तो ऊँ-ह्रीं-श्रीं ही लक्ष्य है। यह अध्याय जीवन की दिनचर्या संतुलन के साथ ही पाठकों के चिन्तन वैभव को प्रकाशित करेगा।

ज्ञानरत्न का द्वितीय फलक (अध्याय-२) श्री तत्त्वार्थ सूत्र है। जिसके पूर्वार्द्ध अध्याय १ से ५ तक २०० सूत्र अध्ययन क्रम में रखे गये हैं। आचार्य उमास्वामी ने रत्नत्रय-मोक्षमार्ग की स्थापना करते हुए जीव के असाधारण भावों की सम्यक् समझ के लिये इन्द्रिय, योनि, जन्म और शरीर के साथ सम्बंध को भी समझाया है। तीनों लोकों के विशद् विवेचन से चिंतन चक्षु विस्तार और गहनता के पर्याय बनेंगे। जीव तत्त्व की व्याख्या को पूर्ण करने के लिये अजीव तत्त्व का स्वरूप निरूपित किया गया है। आत्म स्वरूप का ज्ञान होने पर ही आत्मलीनता की ख्याति होती है। चिंतन की प्रवीणता के लिए यह अध्याय अभिप्रेरित करेगा।

ज्ञानरत्न का तृतीय फलक (अध्याय-३) पुनः श्री तत्त्वार्थ सूत्र के उत्तरार्द्ध अध्याय ६ से १० के रूप में ज्ञान रश्मियों को प्रकाशित कर रहा है। इसमें १४८ सूत्र हैं। आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा का विशद् स्वरूप गागर में सागर की तरह सूत्रों में पिरोकर सूत्रधार तक पहुँचाया है। यह सूत्रधार मोक्ष तत्त्व है। वास्तव में परिपूर्ण, अविनाशी, मोक्ष की सिद्धि ही ज्ञानरत्न के पाठकों की प्रवीणता को प्रमाणित करेगी।

ज्ञानरत्न का चतुर्थ फलक (अध्याय-४) जैन सिद्धांत प्रवेशिका के उत्तरार्द्ध अध्याय ३ से ५ हैं। इसमें आगम के विषयों का सैद्धांतिक प्रश्नाभ्यास कराया गया है। श्री गोपालदास बरैया जी ने सूझबूझ के साथ छोटे-छोटे प्रश्नों में आगम के गंभीर विषयों का सरल निरूपण किया है। साधक की चारित्रिक प्रवीणता में वृद्धि हेतु कर्म के बंध, उदय और सत्व के साथ गुणस्थानों में कर्म प्रकृति का सूक्ष्म विवेचन इस अध्याय का महत्वपूर्ण अंश हैं। जैनागम में प्रवीणता हेतु कोई विषय इसमें अछूता नहीं है। अंत में वस्तु को जानने के विभिन्न उपाय, लक्षण, प्रमाण, नय, निक्षेप पाठकों की प्रवीणता को कुशाग्रता प्रदान करेंगे।

समग्रतः मुक्तिपथ पर अग्रसर होना ही पथ की पहिचान बन जाये इस हेतु 'ज्ञानरत्न' की पाठ्यवस्तु अपने नाम 'प्रवीण' को चरितार्थ करने में कारण बनेगी ऐसी आशा है। मनः मस्तिष्क की परिपक्वता, चारित्र के अंकुरण, श्रद्धान की सम्यक्त्वता और ज्ञान की समस्त रश्मियों को झलकाने के लिये पुस्तक में रेखाचित्र, चार्ट, प्रश्नोत्तर माला, शास्त्र सम्मत उद्धरण विषयानुरूप सम्पादित किये गये हैं। मॉडल प्रश्नपत्र परीक्षा की कठिनाइयों को कम करने में सहायक सिद्ध होंगे।

ज्ञानोदय, ज्ञानपुष्प की तरह ज्ञानरत्न भी साधनायुत आत्मिक शक्तियों का प्रकाश करने में सक्षम बने इसलिये बाल ब्र. श्री बसंत जी ने अनथक परिश्रम पूर्वक जटिल सिद्धांतों को सारगर्भित रसमयता, रोचकता देने का प्रयास किया है। सम्पादकों ने आवश्यक विषयों में संशोधन कर इसे सरलतम रूप में प्रदान करने का उपक्रम किया है तथापि त्रुटियाँ संभावित हैं। जिनका निदान सुधी पाठक, विद्वत्जनों द्वारा अपेक्षित है। इस सम्पादन में अनेक कर्मठ हाथों, चितेरे चित्रकारों, विचारवान बौद्धिक मस्तिष्कों का बहुमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ है। उसके लिये हम सभी के प्रति कृतज्ञ हैं।

डॉ. श्रीमती मनीषा जैन, उप प्राचार्य
श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय
छिंदवाड़ा (मध्यप्रदेश)

प्राक्कथन

विगत दो वर्षों के अध्ययन से हमने श्री मालारोहण जी के माध्यम से सम्यग्दर्शन का स्वरूप, श्री पंडितपूजा जी के माध्यम से सम्यग्ज्ञान का स्वरूप तथा श्री कमलबत्तीसी जी के माध्यम से सम्यक्‌चारित्र का स्वरूप समझा है। प्रत्येक द्रव्य स्वयं के द्रव्य गुण पर्याय से है अर्थात् जीवद्रव्य, जीव के द्रव्य गुण पर्याय से है और अजीव द्रव्य अजीव के द्रव्य गुण पर्याय से है, इस प्रकार सभी द्रव्य परस्पर स्वतंत्र हैं, कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के लिये सहाई नहीं है। इस प्रकार तत्त्व के अभ्यास से जीव सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है। जो जीव इस प्रकार तत्त्व का विचार नहीं करते हैं, वह देव-गुरु-शास्त्र और धर्म की प्रतीति करते हैं, अनेक शास्त्रों का अभ्यास करते हैं, व्रत, तप आदि करते हैं तथापि स्वानुभव नहीं करते इसलिये सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं कर पाते, इस प्रकार प्रत्येक जीव ने अज्ञानता पूर्वक व्यवहार चारित्र का अनंत बार पालन किया है। ग्यारह अंग और नौ पूर्व का ज्ञान भी प्राप्त किया परन्तु सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई।

मोक्षमार्ग में व्यवहार का अस्तित्व तो है किन्तु उसका आश्रय नहीं है। आत्मा त्रैकालिक सत्ता है तथा उसका चैतन्य लक्षण रूप धर्म भी त्रिकाल एक रूप ही वर्तता है। आत्मा की साधनामय शुद्धता ही जिन धर्म है, आत्मा को समझने के लिये जिस जीव को अंतर में सच्ची लगन एवं उत्कण्ठा जाग्रत हो गई है, वह अपनी लगन से निज शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त करता ही है। जिस प्रकार मात्र बाह्य व्रत, तप या मंत्र जप से आत्म स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती उसी प्रकार पर लक्ष्य पूर्वक शास्त्राभ्यास से भी आत्मा प्राप्त नहीं होती, हम जब आत्मवस्तु की ओर दृष्टि करेंगे तब ही आत्म स्वरूप की प्राप्ति होगी।

यह जीव अनादिकालीन संसार परिभ्रमण में वैराग्य भाव पूर्वक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करता है। पुनश्च व्यवहार सम्यग्दर्शन तथा आत्मानुभूति पूर्वक निश्चय सम्यग्दर्शन का पालन करने वाला श्रावक अविरत अवस्था में तत्वार्थ का आराधन करता हुआ व्रती और महाव्रती होकर क्रमशः मुक्ति को प्राप्त करता है। इन सभी विषयों का सुन्दर विवेचन आचार्य श्रीमद् जिन तारण स्वामी जी ने तारण तारण श्रावकाचार जी ग्रंथ में सरल भाषा में किया है। जिसकी १६७ गाथाएँ इस वर्ष के पाठ्यक्रम में सम्मिलित की गई हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र ऐसा अनुपम ग्रंथ है जिसमें मोक्षमार्ग का स्वरूप, उत्पाद व्यय ध्रौव्य, निश्चय-व्यवहार, कर्म प्रकृतियों का स्वरूप, द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, मुनि दशा, केवलज्ञान तथा समग्र मोक्ष मार्ग का स्वरूप अत्यंत सरल विधि से स्पष्ट किया गया है, इस महत्वपूर्ण ग्रंथ को भी तृतीय वर्ष के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया है।

अध्यात्म रत्न श्रद्धेय बाल ब्र. बसन्त जी महाराज के निर्देशन में एवं उनके अथक प्रयासों से यह महाविद्यालय पत्राचार के माध्यम से सम्पूर्ण देश में समाज के सभी वर्ग के सदस्यों में स्वाध्याय की रुचि जागृत करने के लिये कृत संकल्पित है, तथा सभी जिज्ञासु जीवों का जीवन सम्यग्ज्ञान के पुष्पों से सुवासित हो इन्हीं मंगल भावनाओं सहित तृतीय वर्ष में प्रवेश कर रहा है।

प्रो. डॉ. उदय कुमार जैन, प्राचार्य
श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय
छिन्दवाड़ा (म.प्र.)

डालचंद जैन (पूर्व सांसद)
अध्यक्ष – विश्व अहिंसा संघ, नई दिल्ली
अध्यक्ष – मध्यप्रदेश स्वतंत्रता संग्राम सेनानी फेडरेशन, भोपाल (म.प्र.)

निवास : श्रीमंत भवन, बी.एस. जैन मार्ग
राजीव नगर, सागर (म.प्र.)
नि. : २६८०२७, २६८०५९
आ. : २६८०४९,२६८०१७
फैक्स : (०७५८२) २६८०७९ तार : बालक
email : sagarmp@hotmail.com

अध्यात्म रत्न बा. ब्र. बसंत जी
संस्थापक
श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय
छिंदवाड़ा

सादर जय तारण तरण

श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय की योजना प्रारंभ कर श्री तारण तरण दिग. जैन समाज में एक नया युग प्रारंभ करने की दिशा में अच्छी पहल की शुरुआत की है। हम इसकी सराहना करते हुए स्वागत करते हैं। हमारी समाज में धर्म के ज्ञान धन की वृद्धि हो, इस योजना में समाज के सभी विद्वानों का सहयोग प्राप्त हो।

योजना की सफलता की कामना करता हूँ।

सादर भावनाओं के साथ.........

आपका शुभेच्छु

डालचन्द जैन

(डालचंद जैन)

दो शब्द

'न्यानं तिलोय सारं'- सम्यग्ज्ञान तीन लोक में सारभूत है।

श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय की स्थापना उपरांत प्रथम वर्ष की परीक्षा सेमेस्टर पद्धति से सन् २०१०-२०११, द्वितीय वर्ष की परीक्षा सन् २०१२ में हुई तथा तृतीय वर्ष की परीक्षा २०१३ में सम्पन्न होगी। द्वितीय वर्ष से सेमेस्टर पद्धति समाप्त हो गई है। परीक्षाफल उत्तम रहे। लोगों ने बहुत उत्साह से प्रवेश फार्म भरे तथा उत्साह से परीक्षा दी है। श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय के कारण लोगों में स्वाध्याय की रुचि बढ़ रही है। प्रवेशार्थियों ने तारण साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया है। समाज में जागृति आई है। मुक्त महाविद्यालय के माध्यम से तारण समाज की बहुत बड़ी कमी की पूर्ति हुई है।

पाँच वर्ष का पाठ्यक्रम पूर्ण होने पर वह दृश्य अत्यंत अलौकिक, अपूर्व व मार्मिक होगा, जब तारण तरण समाज के बन्धु शास्त्री उपाधि से अलंकृत होंगे। उस समय लोगों में परिवर्तन प्रत्यक्ष दिखाई देगा। इस गुरुत्तर कार्य को साकार रूप प्रदान करने में बाल ब्र. बसंत जी की प्रेरणा व मार्गदर्शन मुख्य है।

साधक संघ के सभी साधकों, बहिनों का भरपूर सहयोग प्राप्त हो रहा है। सभी संयोजकों, सभी कार्यकर्ताओं एवं समिति के सदस्यों को उनके सहयोग के लिये बहुत-बहुत धन्यवाद। सभी समाजबंधुओं से सहयोग की आशा करता हूँ।

पं. जयचंद जैन, महासचिव
तारण तरण मुक्त महाविद्यालय
छिंदवाड़ा

समस्त प्रवेशार्थी पंच वर्षीय पाठ्यक्रम पूर्ण कर अपने जीवन को सम्यग्ज्ञानमय बनायें एवं समाज की गरिमा बढ़ायें इन्हीं शुभकामनाओं सहित.............

अध्यक्ष - स.र. श्रीमंत सेठ सुरेशचंद जैन, सागर	कार्यकारी अध्यक्ष - सिंघई श्री ज्ञानचंद जैन, बीना
उपाध्यक्ष - श्री भरतकुमार जैन, परासिया	उपाध्यक्ष - श्री सतीशकुमार समैया, जबलपुर
उपाध्यक्ष - श्री कैलाशकुमार जैन, अमरवाड़ा	उपाध्यक्ष - श्री स.से. किशोरकुमार जैन, शिरपुर
महासचिव - पं. श्री जयचंद जैन, छिंदवाड़ा	कोषाध्यक्ष - श्री शांतकुमार जैन, छिंदवाड़ा
कोषाध्यक्ष - श्री सुभाषचंद जैन, छिंदवाड़ा	सचिव - पं. श्री राजेन्द्रकुमार जैन, अमरपाटन
सचिव - श्री प्रदीप जैन स्नेही, छिंदवाड़ा	सचिव - श्रीमती मीना जैन, चोपड़ा
संगठन सचिव - श्री दिलीप जैन, छिंदवाड़ा	संगठन सचिव - स.से. श्री विकास समैया, खुरई
संगठन सचिव - पं. श्री विजय मोही, पिपरिया	प्रचार सचिव - श्री राजेन्द्र सुमन, सिंगोड़ी
प्रचार सचिव - श्री तरुण कुमार गोयल, छिंदवाड़ा	परामर्शदाता - श्री महेन्द्रकुमार जैन, राजनांदगाँव
परामर्शदाता - पं. श्री देवेन्द्रकुमार जैन, भोपाल	परामर्शदाता - श्री महेशकुमार जैन, परासिया
परामर्शदाता - श्री संजय जैन, धुलिया	परामर्शदाता - श्री मोतीलाल जैन, शिरपुर
परामर्शदाता - श्री नवनीतलाल जैन, शिरपुर	परामर्शदाता - श्री प्रदीपकुमार जैन, शिरपुर

ज्ञानरत्न समर्पित है .....

उव उवन उवन जिनु अषय रमन जिनु।
सुयं रमन सुर सुइ उवनं ।।
विंजन विन्यान न्यान सुइ रमनं।
अष्यर सुर विंजन परम पयं।
भवियन अन्मोय तरन सुइ सिद्धि जयं।।

की
अनवरत ज्ञान धारा प्रवाहित करने वाले
आचार्य प्रवर
श्रीमद् जिन तारण स्वामी जी के प्रति,
जिनके,
स्वानुभूति से प्रस्फुटित अमृत वचन
दैदीप्यमान रत्नमणि के समान ज्ञानानुभव प्रकाशित कर रहे हैं।
साथ ही,
उनकी विशुद्ध आम्नाय को सहेजने वाले
विविध कलाओं में निष्णात
धर्म दिवाकर पूज्य श्री गुलाबचंद जी महाराज,
समाज रत्न पूज्य श्री ब्र. जयसागर जी महाराज,
अध्यात्म शिरोमणी पूज्य श्री ब्र. ज्ञानानन्द जी महाराज
सहित
धर्म प्रभावक जागृत चेतनाओं के प्रति।

अनुक्रमणिका...........

क्र.	विवरण	पृष्ठ क्रमाँक
०१.	नियमावली	I
०२.	परीक्षा योजना	II
०३.	प्रार्थना : ब्र. बसन्त जी	III
०४.	**अध्याय एक** : श्री तारण तरण श्रावकाचार जी : आचार्य तारण स्वामी जी	**००१ - ०४४**
	अ – मंगलाचरण	००१ – ००३
	ब – वैराग्य भावना का चिंतन	००३ – ००९
	स – आत्मा के भेद एवं देव गुरु का लक्षण	००९ – ०१७
	द – अधर्म के पाँच लक्षण एवं प्रश्नोत्तर	०१८ – ०४४
०५.	**अध्याय दो** : तत्त्वार्थ सूत्र जी : आचार्य श्री उमास्वामी जी	**०४५ - १२२**
	श्री आचार्य उमास्वामी जी परिचय एवं ग्रन्थ प्रस्तावना	०४५ – ०४७
	अ – मोक्षमार्ग, जीव का ज्ञान से संबंध	०४८ – ०६८
	ब – जीव का भाव और शरीर से संबंध	०६९ – ०८५
	स –अधोलोक एवं मध्यलोक का वर्णन	०८६ – ०९५
	द – ऊर्ध्वलोक का वर्णन	०९६ – १०६
	इ – अजीव तत्त्व का विवेचन	१०७ – १२२
०६.	**अध्याय तीन** : तत्त्वार्थ सूत्र जी : आचार्य श्री उमास्वामी जी	**१२३ - १८६**
	अ. अष्टकर्म संबंधी आस्रव विवेचन	१२३ – १३६
	ब. शुभास्रव, बारह व्रतों का स्वरूप	१३७ – १५०
	स. बंधतत्त्व, कर्मबंध विवेचन	१५१ – १६३
	द. संवर, निर्जरा तत्त्व का वर्णन	१६४ – १८३
	इ. मोक्ष तत्त्व विवेचन	१८३ – १८६
०७.	**अध्याय चार** : श्री जैन सिद्धांत प्रवेशिका : पं. श्री गोपालदास जी वरैया	**१८७ - २३४**
	अ. जीव की खोज (पाँच भाव, लेश्या आदि विवेचन)	१८७ – २०१
	ब. मुक्ति के सोपान (चौदह गुणस्थान वर्णन)	२०२ – २१७
	स. अधिगम के उपाय (लक्षण, प्रमाण, नय, निक्षेप)	२१८ – २२९
	चिंतन का विषय – निक्षेप	२३० – २३३
०८.	**मॉडल प्रश्न पत्र** ०१–०४	२३४ – २३७

नियमावली -

०१. महाविद्यालय द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम में पंजीयन हेतु सभी इच्छुक विद्यार्थी पात्र हैं, जाति बंधन नहीं है।

०२. एक वर्षीय पाठ्यक्रम के अंतर्गत दिये जाने वाले ४ अध्यायों का पूरा अध्ययन करना अनिवार्य होगा।

०३. सभी पाठ्यक्रमों में प्रवेश हेतु न्यूनतम आयु सीमा १५ वर्ष रहेगी।

०४. प्रत्येक पाठ्यक्रम का अंतिम परीक्षाफल वार्षिक परीक्षा में प्राप्त अंकों को जोड़कर घोषित किया जावेगा।

०५. विद्यार्थियों की संख्या के आधार पर परीक्षा केन्द्र निर्धारित किये जावेंगे। प्रत्येक परीक्षा केन्द्र में न्यूनतम २५ परीक्षार्थी होना अनिवार्य है।

०६. परीक्षा परिणाम की अंकसूची वार्षिक परीक्षा के पश्चात् डाक द्वारा भेजी जावेगी एवं मेरिट में आने वाले छात्रों के लिये विशेष पुरस्कार प्रदान किये जावेंगे।

०७. प्रमाण पत्र पाँचवें वर्ष की परीक्षा के पश्चात् प्रदान किये जावेंगे।

०८. पाँचवे वर्ष की परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले परीक्षार्थियों को 'शास्त्री' उपाधि से अलंकृत किया जावेगा।

०९. आवेदन पत्र प्राप्त होने पर महाविद्यालय द्वारा नामांकन क्रमांक भेजने के पश्चात् पाठ्यक्रम के अनुसार विद्यार्थी को अपनी पढ़ाई स्वयं करना होगी, केन्द्र द्वारा अध्ययन हेतु पाठ्य सामग्री भेजी जावेगी।

१०. विद्यार्थी को व्यक्तिगत रूप से अपने सामाजिक और धार्मिक कार्यों में सक्रिय रहना अपेक्षित रहेगा।

११. समय-समय पर महाविद्यालय द्वारा निर्देशित नियमों का पालन करना।

१२. प्रत्येक विद्यार्थी की प्रवेश शुल्क ३५०/- रु. होगी जो एक मुश्त देय होगी, जिसमें प्रवेश शुल्क, पाठ्य सामग्री एवं परीक्षा शुल्क सम्मिलित है। अगली कक्षा में प्रवेश हेतु समिति द्वारा निर्धारित शुल्क परीक्षा परिणाम घोषित होने के बाद एक माह में जमा करना होगा। पाठ्य पुस्तक में पीछे प्रकाशित किया गया आवेदन पत्र शुल्क सहित भेजें।

१३. प्रत्येक पाठ्यक्रम में प्रशिक्षण एवं प्रायोगिक कार्य हेतु १०० अंक निर्धारित हैं। अत: प्रत्येक विद्यार्थी को प्रशिक्षण में सम्मिलित होना अनिवार्य होगा।

१४. महाविद्यालय कार्यालय से पत्र व्यवहार करने के लिये अपने नामांकन क्रमांक का उल्लेख अवश्य करें।

१५. अलंकरण समारोह तीर्थक्षेत्रों के वार्षिक आयोजन में या अन्य किसी भव्य समारोह में सम्पन्न किया जावेगा।

१६. महाविद्यालय से संबंधित समय-समय पर दी जाने वाली जानकारी और समाचार संत श्री तारण ज्योति एवं तारण बंधु में प्रकाशित किये जावेंगे।

१७. विशेष जानकारी के लिये महाविद्यालय के निर्देशक, प्राचार्य एवं उपप्राचार्य महोदय से सम्पर्क करें।

विद्यार्थियों के वर्ग विभाग एवं प्रोत्साहन योजना -

दर्शन वर्ग - १५ वर्ष से २५ वर्ष तक बालक एवं बालिका वर्ग के लिये (१० वीं कक्षा उत्तीर्ण होना अपेक्षित है।)

ज्ञान ग्रुप - २६ वर्ष से ४० वर्ष तक वयस्क पुरुष एवं महिला वर्ग के लिये।

ममल ग्रुप - ४१ वर्ष से अधिक के प्रौढ़ पुरुष एवं महिला वर्ग के लिये।

उपरोक्त प्रत्येक वर्ग में प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को पुरस्कृत किया जायेगा।

प्रवेश एवं परीक्षा का समय -

(१) इच्छित पाठ्यक्रम में प्रवेश हेतु आवेदन पत्र पूर्ण रूप से भरकर संचालन कार्यालय तारण भवन छिंदवाड़ा के पते पर भेजें। प्रवेश पत्र पाठ्य पुस्तक में पीछे प्रकाशित किया गया है। (२) आवेदन पत्र संचालन कार्यालय को ३० जून तक प्राप्त होना आवश्यक है। (३) प्रवेशार्थियों के लिये महाविद्यालय में प्रवेश १ जुलाई से प्रारम्भ होगा। (४) प्रवेशार्थियों के लिये महाविद्यालय का शुभारम्भ १ जुलाई से होगा। (५) वार्षिक परिणाम डाक द्वारा प्रेषित किये जावेंगे।

प्रवेशार्थियों के लिये आवश्यक नियम (तृतीय वर्ष) -

(१) प्रतिदिन जिनवाणी दर्शन करना। (२) ऊँ नम: सिद्धं मंत्र की जाप करना। (३) प्रतिदिन नियम से स्वाध्याय करना।

परीक्षा योजना

१. श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान द्वारा संचालित श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय के पंचवर्षीय पाठ्यक्रम में प्रत्येक वर्ष में एक बार परीक्षा होगी। परीक्षार्थी को परीक्षा में चार प्रश्न पत्र देना अनिवार्य होगा। प्रत्येक प्रश्न पत्र में न्यूनतम ३३% अंक प्राप्त होने पर ही उत्तीर्ण घोषित किया जावेगा।

अंकों का प्रतिशत/ श्रेणी निम्नानुसार निर्धारित होगा –

अंक	श्रेणी	ग्रेड
००–३२	–	D अनुत्तीर्ण
३३–४४	तृतीय	C उत्तीर्ण
४५–६९	द्वितीय	B उत्तीर्ण
७०–८४	प्रथम	A उत्तीर्ण
८५–१००	विशेष योग्यता	A+ उत्तीर्ण

२. प्रत्येक प्रश्न–पत्र में पूर्णांक १०० होंगे। प्रश्न–पत्र में दो अंकों वाले वस्तुनिष्ठ, चार अंकों वाले (३० शब्दों में) लघु उत्तरीय प्रश्न, ६ अंकों वाले (५० शब्दों में) दीर्घ उत्तरीय तथा १० अंक का एक निबंधात्मक प्रश्न होगा। प्रत्येक प्रश्न–पत्र का प्रारूप निम्नानुसार होगा –

प्रश्न क्रमांक	वस्तुनिष्ठ प्रश्न (२ अंक)	लघु उत्तरीय प्रश्न (४ अंक)	दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (६ अंक)	निबंधात्मक प्रश्न (१० अंक)	प्रश्नों का योग
	रिक्त स्थान, सत्य/ असत्य, सही जोड़ी, विकल्प	परिभाषा, प्रकार, अंतर	अंतर, परिचय, व्याख्या, सारांश	परिचय निबंध	
	प्रश्न संख्या	प्रश्न संख्या	प्रश्न संख्या	प्रश्न संख्या	
प्रश्न १	५	–	–	–	५
प्रश्न २	५	–	–	–	५
प्रश्न ३	५	–	–	–	५
प्रश्न ४	५	–	–	–	५
प्रश्न ५	–	५	–	–	५
प्रश्न ६	–	–	५	–	५
प्रश्न ७	–	–	–	१	१
अंकों का योग	२०×२=४०	५×४=२०	५×६=३०	१×१०=१०	३१ प्रश्न
	४०	२०	३०	१०	१०० अंक

प्रार्थना

नमामि गुरु तारणम्

मोक्ष पथ प्रदर्शकम्, नमामि गुरु तारणम्।
नमामि गुरु तारणम्, नमामि गुरु तारणम्।।

वीर श्री नन्दनं, पुष्पावती जन्मनं।।
गढ़ाशाह प्रमुदितम्, नमामि गुरु तारणम्.....मोक्ष....
दीक्षा तप साधनम्, सेमरखेड़ी वनम्।।
ध्यान धारि निर्मलम्, नमामि गुरु तारणम्.....मोक्ष....
मिथ्या मद मर्दनम्, मोह भय विनाशनम्।।
स्याद्वाद भूषितम्, नमामि गुरु तारणम्.....मोक्ष....
आत्म ज्ञान दायकम्, मोक्ष मार्ग नायकम्।।
सत्य पथ प्रकाशकम्, नमामि गुरु तारणम्.....मोक्ष....
धर्म पथ प्रचारितं, ज्ञानामृत वर्षणम्।।
सूखा निसई शुभम्, नमामि गुरु तारणम्.....मोक्ष....
ज्ञान भाव स्थितम्, समाधि बेतवा तटम्।।
निसई तीर्थ वंदनम्, नमामि गुरु तारणम्.....मोक्ष....
वीतराग जगद् गुरुम्, युगकवि सु निर्मलम्।।
ब्रह्मानंद मोक्षदं, नमामि गुरु तारणम्......मोक्ष....

व्यक्तिगत व्यक्तित्व के विकास हेतु आवश्यक

सर्वप्रथम पद्मासन, अर्द्ध पद्मासन या सुखासन में बैठें, मेरुदंड सीधा रहे, नासाग्र दृष्टि हो, ऐसी मुद्रा में बैठकर संकल्प करें कि - मेरे भीतर अनंत ज्ञान का, अनंत शक्ति का, अनंत आनंद का सागर लहरा रहा है, उसका साक्षत्कार करना मेरे जीवन का परम लक्ष्य है। संकल्प के पश्चात् २ मिनिट श्वासोच्छ्वास पर ध्यान दें, पश्चात् श्वास को गहरे करें एवं ऊँ मंत्र का उच्चारण करें (अपने श्वासोच्छ्वास प्रमाण, श्वास छोड़ते समय ३/४ श्वास में ओ और १/४ श्वास में म् का उच्चारण करें) इसके बाद शांत मौन होकर शून्य ध्यान में आत्म स्वरूप में निमग्न हो जायें।

अंत में ३ बार ऊँ नम: सिद्धं एवं ३ बार ऊँ शांति मंत्र का उच्चारण करके अपने इष्ट शुद्धात्म देव को विनय भक्ति पूर्वक प्रणाम करके ध्यान पूर्ण करें।

अध्याय १

: श्री तारण तरण श्रावकाचार जी :

आचार्य तारण स्वामी जी

अ –मंगलाचरण

ब – वैराग्य भावना का चिंतन

स – आत्मा के भेद एवं देव गुरु का लक्षण

द – अधर्म के पाँच लक्षण एवं प्रश्नोत्तर

अध्याय १ - श्री तारण तरण श्रावकाचार जी

(अ) मंगलाचरण

श्री श्रावकाचार जी ग्रंथ आचारमत का ग्रंथ है। अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक और व्रती श्रावक की चर्या इस ग्रंथ का प्रमुख विषय है। साधु चर्या, अरिहंत और सिद्ध पद का भी संक्षिप्त वर्णन किया गया है। चारित्र परक ग्रंथ होने के साथ ही ज्ञानमयी ध्रुव स्वभाव की श्रद्धा और साधना में सावधान रहने की पावन प्रेरणा प्रदान की है।

देव को नमस्कार -

देव देवं नमस्कृतं, लोकालोक प्रकासकं।
त्रिलोकं भुवनार्थं जोति, उवंकारं च विंदते ।। १ ।।

अन्वयार्थ - [जो] **(उवंकारं च विंदते)** ॐकार स्वरूप शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं **(त्रिलोकं भुवनार्थं जोति)** तीन लोक रूपी भुवन को प्रकाशित करने के लिये ज्योति [केवलज्ञान] स्वरूप हैं **(च)** और **(लोकालोक प्रकासकं)** सम्पूर्ण लोक और अलोक के प्रकाशक हैं अर्थात् जिनके केवलज्ञान में सम्पूर्ण लोक और अलोक दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित होता है [झलकता है] ऐसे **(देव देवं नमस्कृतं)** देवों के देव [देवाधिदेव अरिहंत परमात्मा] को नमस्कार करता हूँ।

उवं ह्रियं श्रियं चिंते, सुद्ध सद्भाव पूरितं ।
संपूर्नं सुयं रूपं, रूपातीत विंद संजुतं ।। २ ।।

अन्वयार्थ - [जो] **(रूपातीत विंद संजुतं)** समस्त रूपों से अतीत है, निर्विकल्पता से संयुक्त है **(सुद्ध सद्भाव पूरितं)** शुद्ध सत्ता स्वरूप भाव से भरा हुआ **(संपूर्नं सुयं रूपं)** परिपूर्ण अर्थात् केवलज्ञानमयी स्वयं का स्वरूप है [ऐसे] **(उवं ह्रियं श्रियं चिन्ते)** उवंकार, ह्रियंकार, श्रियंकार का चिंतन करता हूँ।

नमामि सततं भक्तं, अनादि आदि सुद्धये ।
प्रतिपूर्नं तिअर्थं सुद्धं, पंचदिप्ति नमामिहं ।। ३ ।।

अन्वयार्थ - (प्रतिपूर्नं तिअर्थं सुद्धं) उवंकार, ह्रियंकार और श्रियंकारमयी तिअर्थ से परिपूर्ण शुद्ध **(पंचदिप्ति)** पंचम दीप्ति अर्थात् केवलज्ञान स्वभाव को **(नमामिहं)** मैं नमस्कार करता हूँ **(अनादि आदि सुद्धये)** अनादिकाल से जो आत्मा स्वभाव से शुद्ध है वह वर्तमान पर्याय में प्रगट हो इस हेतु अनादि शुद्धात्म स्वभाव को **(नमामि सततं भक्तं)** मैं सतत् भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ।

परमिस्टी परंजोति, आचरनं नंत चतुस्टयं ।
न्यानं पंच मयं सुद्धं, देव देवं नमामिहं ।। ४ ।।

अन्वयार्थ - [जो शुद्धात्म स्वभाव] **(परमिस्टी परंजोति)** परम इष्ट, परम ज्योति स्वरूप है **(आचरनं नंत चतुस्टयं)** अनंत चतुष्टय में आचरण कर रहा है **(न्यानं पंचमयं सुद्धं)** पंचम केवलज्ञान से शुद्ध है [ऐसे] **(देव देवं नमामिहं)** देवों के देव को मैं नमस्कार करता हूँ।

अनंत दर्सनं न्यानं, वीर्जं नंत अमूर्तयं ।
विस्व लोकं सुयं रूपं, नमामिहं धुव सास्वतं ।। ५ ।।

अन्वयार्थ - (अनंत दर्सनं न्यानं) अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान **(वीर्जं नंत अमूर्तयं)** अनंत वीर्य, अनंत

सुख स्वरूप अमूर्तिक **(विस्व लोकं सुयं रूपं)** समस्त लोक को जानने देखने वाले स्वयं के स्वरूप **(नमामिहं ध्रुव सास्वतं)** शाश्वत ध्रुव स्वभाव को नमस्कार करता हूँ।

नमस्कृतं महावीरं, केवलं दिस्टि दिस्टितं ।
विक्त रूपं अरूपं च, सिद्ध सिद्धं नमामिहं ।। ६ ।।

अन्वयार्थ - [जो] **(केवलं दिस्टि दिस्टितं)** केवलज्ञान की दृष्टि से देखते हैं अर्थात् केवलदर्शन और केवलज्ञान के धारी हैं [उन] **(नमस्कृतं महावीरं)** भगवान महावीर स्वामी को नमस्कार करता हूँ [तथा जिन्होंने] **(विक्त रूपं अरूपं च)** अरूपी स्वरूप को व्यक्त कर लिया और **(सिद्ध)** सिद्ध पद प्राप्त कर लिया है उन **(सिद्ध सिद्धं नमामिहं)** सिद्ध भगवंतों को नमस्कार करता हूँ।

केवली नंत रूपी च, सिद्ध चक्र गनं नमः ।
बोच्छामि त्रिविधि पात्रं च, केवल दिस्टि जिनागमं ।। ७ ।।

अन्वयार्थ - (केवली नंत रूपी च) अपने अनंत चतुष्टय स्वरूप को जिन्होंने प्रगट किया है ऐसे केवलज्ञानी परमात्मा और **(सिद्ध चक्र गनं नमः)** अनंत सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार करके **(केवल दिस्टि जिनागमं)** केवलज्ञानी भगवान द्वारा कथित और जिनागम में वर्णित वस्तु स्वरूप के अनुसार **(बोच्छामि त्रिविधि पात्रं च)** तीन प्रकार के पात्रों का स्वरूप कहूँगा।

गुरु को नमस्कार -

साधऊ साधु लोकेन, ग्रंथ चेल विमुक्तयं ।
रत्नत्रयं मयं सुद्धं, लोकालोकेन लोकितं ।। ८ ।।

अन्वयार्थ - (साधऊ साधु लोकेन) लोक में जो रत्नत्रय की साधना करते हैं ऐसे साधु **(ग्रंथ चेल विमुक्तयं)** चौबीस प्रकार के परिग्रह और पाँच प्रकार के चेल अर्थात् वस्त्रों के त्यागी होते हैं तथा **(लोकालोकेन)** लोकालोक को आलोकित करने वाले **(रत्नत्रयं मयं सुद्धं)** रत्नत्रयमयी शुद्ध स्वभाव को **(लोकितं)** आलोकित करते हैं अर्थात् स्वभाव साधना में संलग्न रहते हैं।

संमिक्तं सुद्ध धुवं दिस्टा, सुद्ध तत्व प्रकासकं ।
ध्यानं च धर्म सुकलं च, न्यानेन न्यान लंकृतं ।। ९ ।।

अन्वयार्थ - (संमिक्तं सुद्ध धुवं दिस्टा) शुद्ध सम्यक्त्व के धारी [वीतरागी साधु] ध्रुव स्वभाव को देखते हैं **(सुद्ध तत्व प्रकासकं)** शुद्ध तत्त्व के प्रकाशक होते हैं **(न्यानेन न्यान लंकृतं)** सम्यग्ज्ञान से अलंकृत तथा **(ध्यानं च धर्म सुक्लं च)** धर्म और शुक्ल ध्यान में रत रहते हैं।

आरति रौद्र परित्याजं, मिथ्या त्रिति न दिस्टिते ।
सुद्ध धर्म प्रकासी भूतं, गुरं त्रैलोक वंदितं ।। १० ।।

अन्वयार्थ - [वीतरागी सच्चे साधु] **(आरति रौद्र परित्याजं)** आर्त रौद्र ध्यान के परित्यागी होते हैं **(मिथ्या त्रिति न दिस्टते)** तीन मिथ्यात्व से रहित होते हैं **(सुद्ध धर्म प्रकासी भूतं)** शुद्ध धर्म का प्रकाश करते हैं **(गुरं त्रिलोक वंदितं)** ऐसे सच्चे गुरु त्रिलोक में वंदनीय हैं।

जिनवाणी को नमस्कार -

सरस्वती सास्वती दिस्टं, कमलासने कंठ स्थितं ।
उवं ह्रियं श्रियं सुद्धं, तिअर्थं प्रति पूर्नितं ।। ११ ।।

अन्वयार्थ - **(सरस्वती सास्वती दिस्टं)** सरस्वती अर्थात् जिनवाणी को शाश्वत जानो [यह] **(कमलासने कंठ स्थितं)** कंठ कमल आसन पर स्थित **(उव ह्रियं श्रियं)** उवंकार ह्रियंकार श्रियंकार **(तिअर्थं)** तिअर्थ से **(सुद्धं)** शुद्ध और **(प्रति पूर्नितं)** परिपूर्ण है।

कुन्यानं त्रि विनिर्मुक्तं, मिथ्या छाया न दिस्टते ।
सर्वन्यं मुष वानी च, बुद्धि प्रकास सास्वती नमः।। १२ ।।

अन्वयार्थ - [जिनवाणी] **(कुन्यानं त्रि विनिर्मुक्तं)** तीन प्रकार के कुज्ञान [कुमति, कुश्रुत, कुअवधि] से रहित है [जिनवाणी में] **(मिथ्या छाया न दिस्टते)** मिथ्यात्व की छाया भी दिखाई नहीं देती **(सर्वन्यं मुष वानी च)** सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि से नि:सृत यह जिनवाणी **(बुद्धि प्रकास सास्वती)** ज्ञान को प्रकाशित करने वाली शाश्वत वाणी है। [ऐसी जिनवाणी को मैं] **(नमः)** नमस्कार करता हूँ।

कुन्यानं तिमिरं पूर्नं, अंजनं न्यान भेषजं ।
केवलि दिस्टि सुभावं च, जिन कंठं सास्वती नमः।। १३ ।।

अन्वयार्थ - [जिनवाणी] **(कुन्यानं तिमिरं पूर्नं)** कुज्ञान रूपी अधंकार से पूर्ण जीवों के लिये ज्ञानांजन रूपी औषधि है **(दिस्टि सुभावं च)** स्वभाव पर दृष्टि कराने वाली **(केवलि)** केवलज्ञानी **(जिन कंठं सास्वती नमः)** जिनेन्द्र परमात्मा के कंठ से नि:सृत शाश्वत सरस्वती को नमस्कार करता हूँ।

देवं गुरं श्रुतं वन्दे, न्यानेन न्यान लंकृतं ।
बोच्छामि श्रावगाचारं, अविरतं संमिक दिस्टितं ।। १४ ।।

अन्वयार्थ - **(न्यानेन न्यान लंकृतं)** ज्ञान ही ज्ञान से अलंकृत **(देवं गुरं श्रुतं वन्दे)** सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की वंदना करता हूँ और **(अविरतं संमिक दिस्टितं)** अविरत सम्यक्दृष्टि के लिये **(बोच्छामि श्रावगाचारं)** श्रावकाचार ग्रंथ कहूँगा। [श्री श्रावकाचार जी ग्रंथ की इन चौदह गाथाओं में इष्ट वंदना के रूप में सच्चे देव, गुरु और शास्त्र की स्वरूप सहित वंदना की है। अंतिम गाथा में समुच्चय वंदन किया है तथा अविरत सम्यक्दृष्टि के लिये आचार्य देव ने श्रावकाचार ग्रंथ कथन करने का संकल्प किया है। मंगलाचरण के पश्चात् आचार्य देव यहाँ संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य का कथन करते हैं कि सम्यक्दृष्टि को संसार शरीरादि से वैराग्य होता है, सम्यक्दृष्टि के अंतरंग में संसार, शरीर और भोगों के प्रति कैसी दृष्टि होती है इसका कथन कर ग्रंथ की विषयवस्तु का शुभारंभ करते हैं।]

(ब) वैराग्य भावना का चिंतन

संसार का स्वरूप -

संसारे भय दुष्यानि, वैरागं जेन चिंतये ।
अनृतं असत्यं जानंते, असरनं दुष भाजनं ।। १५ ।।

अन्वयार्थ - **(जेन)** जो सम्यक्दृष्टि श्रावक **(संसारे भय दुष्यानि)** संसार में भय और दु:ख हैं इस

प्रकार **(वैरागं चिंतये)** वैराग्य का चिंतन करते हैं [वे संसार को] **(अनृतं असत्यं)** क्षणभंगुर, असत्य **(असरनं दुष भाजनं)** अशरण और दु:खों का घर है ऐसा **(जानंते)** जानते हैं।

शरीर का स्वरूप -

असत्यं असास्वतं दिस्टा, संसारे दुष भीरुहं ।
सरीरं अनृतं दिस्टा, असुचि अमेव पूरितं ।। १६ ।।

अन्वयार्थ - [सम्यक्दृष्टि श्रावक] **(सरीरं)** शरीर को **(असत्यं असास्वतं दिस्टा)** असत्य अशाश्वत देखता है **(संसारे दुष भीरुहं)** संसार में दु:ख और भीरुता को प्राप्त कराने वाला **(अनृतं)** क्षणभंगुर **(असुचि अमेव पूरितं)** अपवित्र और ग्लानिकारक पदार्थों से भरा हुआ **(दिस्टा)** देखता है।

भोगों का स्वरूप -

भोगं दुषं अती दुस्टा, अनर्थं अर्थ लोपितं ।
संसारे स्रवते जीवा, दारुनं दुष भाजनं ।। १७ ।।

अन्वयार्थ - (भोगं दुषं अती दुस्टा) भोग दु:ख के कारण [दु:ख देने वाले] अत्यंत दुष्ट हैं अर्थात् अनंत संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं **(अनर्थं अर्थ लोपितं)** अनर्थकारी हैं, अर्थ अर्थात् प्रयोजनभूत स्वभाव का लोप करने वाले हैं [इन भोगों में फंसकर] **(संसारे स्रवते जीवा)** जीव पंच परावर्तन रूप संसार में परिभ्रमण करता है [और] **(दारुनं दुष भाजनं)** घोर दु:खों का पात्र बनता है।

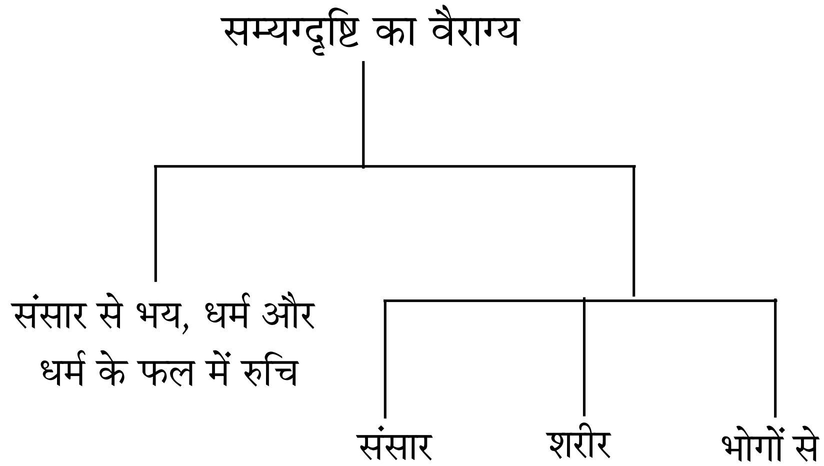

संसार परिभ्रमण का कारण -

अनादि भ्रमते जीवा, संसार सरन संगते ।
मिथ्या त्रिति संपूर्नं, संमिक्तं सुद्ध लोपनं ।। १८ ।।

अन्वयार्थ - (जीवा) जीव **(संसार सरन संगते)** संसार का आश्रय लेकर संसार में प्रवाह रूप से संगति करता है **(संमिक्तं सुद्ध लोपनं)** शुद्ध सम्यक्त्व का लोप करके **(मिथ्या त्रिति संपूर्नं)** तीन प्रकार के मिथ्यात्व [मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व] से पूर्ण हो रहा है [इसलिये] **(अनादि भ्रमते)** अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

मिथ्या देव गुरं धर्मं, मिथ्या माया विमोहितं ।
अनृतं अचेत रागं च, संसारे भ्रमनं सदा ।। १९ ।।

अन्वयार्थ - **(मिथ्या देव गुरं धर्मं)** मिथ्या देव गुरु धर्म के श्रद्धान सहित **(मिथ्या माया विमोहितं)** मिथ्या माया में विमोहित होकर **(अनृतं अचेत रागं च)** क्षणभंगुर अचेतन पुद्गल पदार्थों के राग में लिप्त होकर [यह जीव] **(संसारे भ्रमनं सदा)** अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

अनृतं विनासी चिंते, असत्यं उत्साहं कृतं ।
अन्यानी मिथ्या सद्भावं, सुद्ध बुद्धं न चिंतए ।। २० ।।

अन्वयार्थ - **(अनृतं विनासी चिंते)** क्षणभंगुर विनाशीक वस्तुओं का चिंतन करता है **(असत्यं उत्साहं कृतं)** रागादिक आस्रव भावों में उत्साह करता है **(अन्यानी मिथ्या सद्भावं)** मिथ्यात्व के सद्भाव सहित अज्ञानी बना हुआ जीव अपने **(सुद्ध बुद्धं न चिंतए)** शुद्ध बुद्ध आत्म स्वरूप का चिंतन नहीं करता। [इसलिये अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है।]

मिथ्या दर्सनं न्यानं, चरनं मिथ्या उच्यते ।
अनृतं राग संपूर्नं, संसारे दुष वीर्जयं ।। २१ ।।

अन्वयार्थ - **(मिथ्या दर्सनं न्यानं, चरनं मिथ्या उच्यते)** मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को मिथ्या अर्थात् विपरीत कहा जाता है **(अनृतं राग संपूर्नं)** इस झूठे राग से परिपूर्ण होकर [यह जीव] **(संसारे दुष वीर्जयं)** संसार में परिभ्रमण का बीज बोता है।

मिथ्या संजम ह्रदयं चिंते, मिथ्या तप ग्रहनं सदा ।
अनंतानंत संसारे, भ्रमते अनादि कालयं ।। २२ ।।

अन्वयार्थ - **(मिथ्या संजम ह्रदयं चिंते)** मिथ्यात्व सहित संयम को पालन करने का चिंतन करता है **(मिथ्या तप ग्रहनं सदा)** मिथ्यात्व सहित हमेशा से तप ग्रहण करता रहा है। [इसलिये] **(अनादि कालयं)** अनादिकाल से **(अनंतानंत संसारे भ्रमते)** अनंतानंत संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

मिथ्या दिस्टि च संगेन, कसायं रमते सदा ।
लोभं क्रोधं मयं मानं, गृहितं अनंत बंधनं ।। २३ ।।

अन्वयार्थ - **(मिथ्या दिस्टि च संगेन)** मिथ्यात्व दृष्टि के संग के कारण **(कसायं रमते सदा)** कषायों में हमेशा रमण करता है। **(लोभं क्रोधं मयं मानं, गृहितं अनंत बंधनं)** अनंतानुबंधी लोभ, क्रोध, माया, मान के अनंत बंधनों को ग्रहण कर संसार में परिभ्रमण करता है।

लोभं कृतं असत्यस्या, असास्वतं दिस्टते सदा ।
अनृतं कृत आनंदं, अधर्मं संसार भाजनं ।। २४ ।।

अन्वयार्थ - **(लोभं कृतं असत्यस्या)** रागादि भावपूर्वक यह जीव असत् पदार्थों का लोभ करके **(असास्वतं दिस्टते सदा)** नाशवान संयोगों को हमेशा देखता है [उन्हें अपने मानता है] **(अनृतं कृत आनंदं)** क्षणभंगुर संयोगों में आनंदित होता हुआ मानता हुआ **(अधर्मं संसार भाजनं)** अधर्म के कारण संसार का पात्र बन जाता है।

कोहाग्नि प्रजुलते जीवा, मिथ्यातं घृत तेलयं ।
कोहाग्नि प्रकोपनं कृत्वा, धर्म रत्नं च दग्धये ।। २५ ।।

अन्वयार्थ - **(कोहाग्नि प्रजुलते जीवा)** यह जीव क्रोध रूपी अग्नि में प्रज्वलित हो रहा है [जल रहा है, इस अग्नि को जलाने में] **(मिथ्यातं घृत तेलयं)** मिथ्यात्व घी और तेल की तरह कार्य करता है। **(कोहाग्नि प्रकोपनं कृत्वा)** यह जीव क्रोध रूपी अग्नि को बढ़ाकर **(धर्म रत्नं च दग्धये)** धर्म रत्न को जला रहा है।

मानं अनृतं रागं, माया विनास दिस्टते ।
असास्वतं भाव व्रिद्धंते, अधर्मं नरयं पतं ।। २६ ।।

अन्वयार्थ - [यह जीव] **(मानं अनृतं रागं)** क्षणभंगुर पदार्थों के राग के कारण झूठा मान करता है **(माया विनास दिस्टते)** विनाशीक माया को देखता है [इससे] **(असास्वतं भाव व्रिद्धंते)** अशाश्वत भावों की वृद्धि होती है [और इस] **(अधर्मं नरयं पतं)** अधर्म के कारण जीव नरक का पात्र बन जाता है।

जदि मिथ्या माया संपूर्नं, लोक मूढ रतो सदा ।
लोक मूढस्य जीवस्य, संसारे दुष दारुनं ।। २७ ।।

अन्वयार्थ - **(जदि मिथ्या माया संपूर्नं)** यदि यह जीव मिथ्या माया से परिपूर्ण रहता है और **(लोक मूढ रतो सदा)** हमेशा लोक मूढ़ता में रत रहता है तो **(लोक मूढस्य जीवस्य)** लोक मूढ़ जीव को **(संसारे दुष दारुनं)** संसार में घोर दु:ख भोगना पड़ते हैं।

लोक मूढ रतो जेन, देव मूढस्य दिस्टिते ।
पाषंडी मूढ संगानि, निगोयं पतितं पुनः ।। २८ ।।

अन्वयार्थ - **(लोक मूढ रतो जेन)** जो जीव लोक मूढ़ता में रत है, वह **(देव मूढस्य दिस्टिते)** देव मूढ़ता को भी देखता है [अर्थात् उसका देव मूढ़ता में भी विश्वास रहता है उसे मानता है और] **(पाषंडी मूढ संगानि)** पाषंड मूढ़ता का संग करके **(निगोयं पतितं पुनः)** पुन: निगोद में चला जाता है।

अनायतन मद अस्टं च, संकादि अस्ट दूषनं ।
मलं संपूर्न जानंते, सेवनं दुष दारुनं ।। २९ ।।

अन्वयार्थ - **(अनायतन)** छह अनायतन [कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और तीन इनको मानने वाले] **(मद अस्टं च)** और आठ मद [जातिमद, कुलमद, ज्ञानमद, धनमद, तपमद, बलमद, रूपमद, ऋद्धिमद] **(संकादि अस्ट दूषनं)** शंकादि आठ दोष [शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य, अप्रभावना] हैं। सम्यग्दृष्टि **(मलं संपूर्न जानंते)** इन सबको मल अर्थात् दोषरूप जानते हैं **(सेवनं दुष दारुनं)** इनके सेवन से जीव को दारुण दु:ख भोगना पड़ते हैं।

मिथ्या मति रतो जेन, दोसं अनंतानंतयं ।
सुद्ध दिस्टि न जानंते, असुद्धं सुद्ध लोपनं ।। ३० ।।

अन्वयार्थ - **(मिथ्या मति रतो जेन)** जिस जीव की मति मिथ्यात्व में रत है **(दोसं अनंतानंतयं)** उसको अनंतानंत दोष होते हैं वह **(सुद्ध दिस्टि न जानंते)** शुद्ध दृष्टि को नहीं जानता बल्कि **(असुद्धं सुद्ध**

लोपनं) शुद्ध भाव का लोपन करके अशुद्ध में रत रहता है।

[अनादिकालीन संसार में परिभ्रमण के कारणों का उल्लेख करके आचार्य देव कहते हैं कि संसार से छूटने के लिये क्या उपाय करना चाहिये, संसार के दु:खों से मुक्त होने का उपाय क्या है, इस आशय की गाथाओं का आगे कथन करते हैं।]

सात प्रकृतियों के अभाव से सम्यक्त्व की प्राप्ति

वैराग भावनं कृत्वा, मिथ्या तिक्त त्रि भेदयं ।
कसायं तिक्त चत्वारि, तिक्तते सुद्ध दिस्टितं ।। ३१ ।।

अन्वयार्थ - (सुद्ध दिस्टितं) शुद्ध दृष्टि श्रावक **(वैराग भावनं कृत्वा)** वैराग्य भावनाओं का चिंतवन करके **(मिथ्या तिक्त त्रि भेदयं)** तीन प्रकार के मिथ्यात्व को भेदता है और **(कसायं तिक्त चत्वारि)** चार अनंतानुबंधी कषाय को **(तिक्तते)** त्याग देता है।

मिथ्या समय मिथ्या च, समय प्रकृति मिथ्ययं ।
कसायं चत्रु अनंतानं, तिक्तते सुद्ध दिस्टितं ।। ३२ ।।

अन्वयार्थ - (सुद्ध दिस्टितं) शुद्ध दृष्टि श्रावक **(मिथ्या समय मिथ्या च, समय प्रकृति मिथ्ययं)** मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व और **(कसायं चत्रु अनंतानं)** चार अनंतानुबंधी कषाय - अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का **(तिक्तते)** त्याग कर देता है।

सप्त प्रकृति विछिदो जत्र, सुद्ध दिस्टि च दिस्टते ।
श्रावकं अविरतं जेन, संसार दुष परान्मुषं ।। ३३ ।।

अन्वयार्थ - (श्रावकं अविरतं जेन) जिस अविरत सम्यक्दृष्टि श्रावक के द्वारा **(सप्त प्रकृति विछिदो जत्र)** जहाँ सात प्रकृतियों का विच्छेदन कर दिया जाता है वह **(सुद्ध दिस्टि च दिस्टते)** शुद्ध दृष्टि से स्वरूप को देखता है और **(संसार दुष परान्मुषं)** संसार के दु:खों से पराङ्गमुख हो जाता है।

सम्यक्दृष्टि जीव की दशा

संमिक दिस्टिनो जीवा, सुद्ध तत्व प्रकासकं ।
परिनामं सुद्ध संमिक्तं, मिथ्या दिस्टि परान्मुषं ।। ३४ ।।

अन्वयार्थ - (संमिक दिस्टिनो जीवा) सम्यक्दृष्टि जीव **(मिथ्या दिस्टि परान्मुषं)** मिथ्यात्वमय दृष्टि से पराङ्गमुख हो जाता है **(सुद्ध तत्व प्रकासकं)** शुद्ध तत्त्व का प्रकाशक होता है **(परिनामं सुद्ध संमिक्तं)** उसके शुद्ध सम्यक्त्व रूप परिणाम सतत वर्तते रहते हैं।

संमिक देव गुरं भक्तं, संमिक धर्म समाचरेत् ।
संमिक तत्व वेदंते, मिथ्या त्रिविध मुक्तयं ।। ३५ ।।

अन्वयार्थ - [सम्यक्दृष्टि श्रावक] **(मिथ्या त्रिविध मुक्तयं)** तीन प्रकार के मिथ्यात्व से मुक्त होते हैं **(संमिक देव गुरं भक्तं)** सच्चे देव और सच्चे गुरु की भक्ति करते हैं **(संमिक धर्म समाचरेत्)** सच्चे धर्म में आचरण करते हैं तथा **(संमिक तत्व वेदंते)** सम्यक् तत्त्व का अनुभव करते हैं।

संमिक दर्सनं सुद्धं, न्यानं आचरन संजुतं ।
सार्द्धं त्रिति संपूर्नं, कुन्यानं त्रिविधि मुक्तयं ।। ३६ ।।

अन्वयार्थ - [सम्यक्दृष्टि श्रावक] **(कुन्यानं त्रिविधि मुक्तयं)** तीन प्रकार के कुज्ञान [कुमति, कुश्रुत, कुअवधि] से रहित होता है तथा **(संमिक दर्सनं सुद्धं, न्यानं आचरन संजुतं)** शुद्ध सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र में संयुक्त रहते हुए **(सार्द्धं त्रिति संपूर्नं)** रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त करने हेतु साधना करता है।

संमिक संजमं दिस्टा, संमिक तप सार्द्धयं ।
परिनै प्रमानं सुद्धं, असुद्धं सर्व तिक्तयं ।। ३७ ।।

अन्वयार्थ - [सम्यक्दृष्टि श्रावक को] **(संमिक संजमं दिस्टा)** सम्यक् संयम के प्रति श्रद्धा होती है, वह **(संमिक तप सार्द्धयं)** सम्यक् तप की साधना करता है **(असुद्धं सर्व तिक्तयं)** समस्त अशुद्धता का त्यागी होता है **(परिनै प्रमानं सुद्धं)** उसकी परिणति प्रमाण अर्थात् सम्यग्ज्ञान से शुद्ध होती है।

षट् कर्म संमिक्तं सुद्धं, संमिक अर्थ सास्वतं ।
संमिक्तं ध्रुवं सार्द्धं, संमिक्तं प्रति पूर्नितं।। ३८ ।।

अन्वयार्थ - **(संमिक्तं प्रति पूर्नितं)** सम्यक्त्व से परिपूर्ण श्रावक **(संमिक अर्थ सास्वतं)** शाश्वत यथार्थ स्वभाव को प्रयोजनीय मानता है **(षट् कर्म संमिक्तं सुद्धं)** सम्यक्त्व सहित शुद्ध षट् कर्मों का पालन करता है और **(संमिक्तं ध्रुवं सार्द्धं)** सम्यक् श्रद्धान पूर्वक ध्रुव स्वभाव की साधना करता है।

संमिक देव उपाद्यंते, राग दोष विमुक्तयं ।
अरूपं सास्वतं सुद्धं, सुयं आनंद रूपयं ।। ३९ ।।

अन्वयार्थ - [सम्यग्दृष्टि श्रावक] **(संमिक देव उपाद्यंते)** सच्चे देव की उपासना करता है [वह सच्चा देव] **(राग दोष विमुक्तयं)** राग द्वेष से रहित **(अरूपं सास्वतं सुद्धं, सुयं आनंद रूपयं)** अरूपी शाश्वत शुद्ध और स्वयं आनंद स्वरूपी है।

देव देवाधिदेवं च, नंत चतुस्टै संजुतं ।
उवंकारं च वेदंते, तिस्टितं सास्वतं ध्रुवं ।। ४० ।।

अन्वयार्थ - **(देव देवाधिदेवं च)** सच्चे देव देवाधिदेव परमात्मा जो **(नंत चतुस्टै संजुतं)** अनंत चतुष्टय के धारी हैं **(उवंकारं च वेदंते)** उवंकार स्वरूप शुद्धात्म तत्त्व का अनुभव करते हैं तथा **(तिस्टितं सास्वतं ध्रुवं)** शाश्वत ध्रुव स्वभाव में लीन रहते हैं।

उवंकारस्य ऊर्धस्य, ऊर्ध सद्भाव तिस्टितं ।
उवं ह्रियं श्रियं वन्दे, त्रिविधि अर्थं च संजुतं ।। ४१ ।।

अन्वयार्थ - **(ऊर्ध सद्भाव तिस्टितं)** ऊर्ध्वगामी स्वभाव में लीन **(उवंकारस्य ऊर्धस्य)** श्रेष्ठ परमात्म स्वरूप शुद्धात्म तत्त्व जो **(उवं ह्रियं श्रियं)** उवंकार ह्रियंकार श्रियंकार **(त्रिविधि अर्थं च संजुतं)** तीन अर्थ से संयुक्त है उसकी **(वन्दे)** मैं वंदना करता हूँ। [उवं ह्रियं श्रियं इनको तिअर्थ कहते हैं। इनके मूल बीज मंत्र हैं ॐ ह्रीं श्रीं इनसे इनकी उत्पत्ति हुई है। उवंकार, ह्रियंकार, श्रियंकार के रूप में इनको स्मरण किया

जाता है। जिनका अर्थ क्रमशः शुद्धात्मानुभूति, स्व-पर का यथार्थ निर्णय और स्वरूप लीनता अर्थात् रत्नत्रय है।]

देवं च न्यान रूपेन, परमिस्टी च संजुतं ।
सो अहं देह मध्येषु, यो जानाति स पंडिता ।। ४२ ।।

अन्वयार्थ - (परमिस्टी च संजुतं) परमेष्ठी पद से संयुक्त **(देवं च न्यान रूपेन)** ज्ञान स्वरूपी शाश्वत परमात्म देव **(सो अहं देह मध्येषु)** वह मैं आत्मा हूँ जो इस देह में विराजमान हूँ **(यो जानाति स पंडिता)** ऐसा जो जानता है वह पंडित अर्थात् सम्यग्ज्ञानी है।

कर्म अस्ट विनिर्मुक्तं, मुक्ति स्थानेषु तिस्टिते ।
सो अहं देह मध्येषु, यो जानाति स पंडिता ।। ४३ ।।

अन्वयार्थ - (कर्म अस्ट विनिर्मुक्तं) आठ कर्मों से रहित **(मुक्ति स्थानेषु तिस्टिते)** मोक्ष में जो सिद्ध परमात्मा विराजते हैं **(सो अहं देह मध्येषु)** वैसा सिद्ध मैं इस देह में विराजमान आत्मा हूँ **(यो जानाति स पंडिता)** जो ऐसा जानता है वह पंडित अर्थात् सम्यग्ज्ञानी है।

परमानंद सा दिस्टा, मुक्ति स्थानेषु तिस्टिते ।
सो अहं देह मध्येषु, सर्वन्यं सास्वतं धुवं ।। ४४ ।।

अन्वयार्थ - (परमानंद सा दिस्टा) जो परमात्मा परम आनंदमयी स्वरूप में लीन हैं **(मुक्ति स्थानेषु तिस्टिते)** मोक्ष में विराजित हैं **(सो अहं देह मध्येषु)** वैसा मैं इस देह में विराजमान **(सर्वन्यं सास्वतं धुवं)** सर्वज्ञ स्वरूप शाश्वत ध्रुव तत्त्व भगवान आत्मा हूँ।

दर्सन न्यान संजुक्तं, चरनं वीर्ज अनंतयं ।
मय मूर्ति न्यान संसुद्धं, देह देवलि तिस्टिते ।। ४५ ।।

अन्वयार्थ - (अनंतयं) अनन्त **(दर्सन)** दर्शन **(न्यान)** अनन्त ज्ञान **(चरनं)** अनन्त सुख और **(वीर्ज)** अनन्त वीर्य से **(संजुक्तं)** संयुक्त **(मय मूर्ति न्यान संसुद्धं)** परम शुद्ध ज्ञानमयी मूर्ति [चैतन्य भगवान] **(देह देवलि तिस्टिते)** इस देह रूपी देवालय में स्थित है।

अरिहंत देव तिस्टंते, ह्रींकारेन सास्वतं ।
उवं ऊर्ध सद्भावं, निर्वानं सास्वतं पदं ।। ४६ ।।

अन्वयार्थ - (अरिहंत देव) अरिहंत देव **(ह्रींकारेन सास्वतं)** ह्रींकार अर्थात् शाश्वत केवलज्ञान स्वभाव में **(तिस्टंते)** लीन रहते हैं **(उवं ऊर्ध सद्भावं)** वे परमात्मा ऊर्ध्वगामी स्वभाव से **(निर्वानं सास्वतं पदं)** शाश्वत निर्वाण पद को प्राप्त कर लेते हैं।

(स) आत्मा के भेद एवं देव-गुरू का लक्षण

तीन प्रकार से आत्मा का कथन -

आत्मा त्रिविधि प्रोक्तं च, परु अंतरु बहिरप्पयं ।
परिणामं जं च तिस्टंते, तस्यास्ति गुन संजुतं ।। ४७ ।।

अन्वयार्थ - (आत्मा त्रिविधि प्रोक्तं च) आत्मा को तीन प्रकार से कहा गया है **(परु अंतरु**

बहिरप्पयं) परमात्मा अंतरात्मा और बहिरात्मा **(परिणामं जं च तिस्टंते)** जो जीव जिस प्रकार के परिणाम में स्थित रहता है **(तस्यास्ति गुन संजुतं)** वह उन्हीं गुणों से संयुक्त रहता है।

परमात्मा का स्वरूप –

आत्मा परमात्म तुल्यं च, विकल्पं चित्त न क्रीयते ।
सुद्ध भाव स्थिरी भूतं, आत्मनं परमात्मनं ।। ४८ ।।

अन्वयार्थ – (विकल्पं चित्त न क्रीयते) जब चित्त में आत्मा परमात्मा के समान हूँ – यह विकल्प भी न हो उस समय **(आत्मा परमात्म तुल्यं च)** आत्मा परमात्मा के समान है **(सुद्ध भाव स्थिरी भूतं)** शुद्ध भाव में स्थिर हुआ **(आत्मनं परमात्मनं)** आत्मा ही परमात्मा है।

अंतरात्मा का स्वरूप –

विन्यानं जेवि जानंते, अप्पा पर परषये ।
परिचये अप्प सद्धावं, अंतर आत्मा परषये ।। ४९ ।।

अन्वयार्थ – (विन्यानं जेवि जानंते) जो कोई भी जीव भेदविज्ञान को जानते हैं **(अप्पा पर परषये)** आत्मा को पर से भिन्न परखते हैं [अनुभव प्रमाण स्वीकार करते हैं] **(परिचये अप्प सद्धावं)** जिन्होनें अपने आत्म स्वभाव का परिचय प्राप्त कर लिया है, उन्हें **(अंतर आत्मा परषये)** अंतरात्मा जानो।

बहिरात्मा का स्वरूप –

बहिरप्पा पुद्गलं दिस्टा, रचनं अनंत भावना ।
परपंचं जेन तिस्टंते, बहिरप्पा संसार स्थितं ।। ५० ।।

अन्वयार्थ – (बहिरप्पा पुद्गलं दिस्टा) जो पुद्गल आदि पर वस्तुओं को देखता है उनमें मैं और मेरेपन का सम्बंध मानता है **(रचनं अनंत भावना)** पर पुद्गलों को रचने अर्थात् करने की अनंत भावना करता है [कर्तापने के संकल्प–विकल्पों में संलग्न रहता है] **(परपंचं जेन तिस्टंते)** जो निरंतर प्रपंचों में रत रहता है वह **(बहिरप्पा संसार स्थितं)** बहिरात्मा संसार में स्थित रहता है अर्थात् संसार में जन्म–मरण करता रहता है।

बहिरप्पा परपंच अर्थं च, तिक्तते जे विचषना ।
अप्पा परमप्पयं तुल्यं, देव देवं नमस्कृतं ।। ५१ ।।

अन्वयार्थ – (बहिरप्पा परपंच अर्थं च) जो प्रपंचों को प्रयोजनीय मानता है वह बहिरात्मा है **(तिक्तते जे विचषना)** जो प्रपंचों को त्याग देते हैं वे विचक्षण अर्थात् अंतरात्मा हैं और **(अप्पा परमप्पयं तुल्यं)** आत्मा स्वभाव से परमात्मा के समान है ऐसे **(देव देवं नमस्कृतं)** देवों के देव को नमस्कार करता हूँ।

कुदेव का स्वरूप और मान्यता का फल –

कुदेवं प्रोक्तं जेन, रागादि दोस संजुतं ।
कुन्यानं त्रिति संपूर्नं, न्यानं चैव न दिस्टते ।। ५२ ।।

अन्वयार्थ – (कुदेवं प्रोक्तं) कुदेव के स्वरूप को कहते हैं **(जेन)** जो **(रागादि दोस संजुतं)**

रागादि दोषों से संयुक्त तथा **(कुन्यानं त्रिति संपूर्नं)** तीन प्रकार के कुज्ञान से परिपूर्ण हैं, उन्हें **(न्यानं चैव न दिस्टते)** रंचमात्र भी ज्ञान दिखाई नहीं देता।

माया मोह ममत्तस्य, असुह भाव रतो सदा ।
तत्र देवं न जानंते, जत्र रागादि संजुतं ।। ५३ ।।

अन्वयार्थ - (माया मोह ममत्तस्य) जो माया मोह ममत्व आदि के **(असुह भाव रतो सदा)** अशुभ भावों में हमेशा रत रहते हैं **(जत्र रागादि संजुतं)** जहाँ रागादि से संयुक्त दशा है **(तत्र देवं न जानंते)** वहाँ देवत्वपना नहीं होता ऐसा जानो।

आरति रौद्रं च सद्भावं, माया क्रोधं च संजुतं ।
कर्मना असुह भावस्य, कुदेवं अनृतं परं ।। ५४ ।।

अन्वयार्थ -(आरति रौद्रं च सद्भावं) जिनको आर्त रौद्र ध्यान का सद्भाव रहता है [जो] **(माया क्रोधं च संजुतं)** माया और क्रोध में संयुक्त रहते हैं **(कर्मना असुह भावस्य)** जिनके अशुभ भाव सहित कर्म होते हैं [जो] **(अनृतं परं)** क्षणभंगुर पदार्थों को श्रेष्ठ मानते हैं वे **(कुदेवं)** कुदेव हैं।

अनंत दोष संजुक्तं, सुद्ध भाव न दिस्टते ।
कुदेवं रौद आरूढं, आराध्यं नरयं पतं ।। ५५ ।।

अन्वयार्थ - (अनंत दोष संजुक्तं) जो अनंत दोषों से संयुक्त हैं जिनको **(सुद्ध भाव न दिस्टते)** शुद्ध भाव दिखाई नहीं देता [वे कुदेव हैं] **(कुदेवं रौद्र आरूढं)** कुदेव रौद्र ध्यान में आरूढ़ रहते हैं उनकी **(आराध्यं नरयं पतं)** आराधना करने से नरक में पतन होता है।

कुदेवं जेन पूजंते, वन्दना भक्ति तत्परा ।
ते नरा दुष साहंते, संसारे दुष भीरुहं ।। ५६ ।।

अन्वयार्थ - (कुदेवं जेन पूजंते) जो जीव कुदेवों की पूजा करते हैं, उनकी **(वंदना भक्ति तत्परा)** वंदना भक्ति में तत्पर रहते हैं **(ते नरा दुष साहंते)** वे मनुष्य दुःख सहते हैं तथा **(संसारे दुष भीरुहं)** संसार में दुःख और भीरुता को प्राप्त करते हैं।

कुदेवं जेन मानंते, स्थानं जेवि जायते ।
ते नरा भयभीतस्य, संसारे दुष दारुनं ।। ५७ ।।

अन्वयार्थ - (कुदेवं जेन मानंते) जो जीव कुदेवों को मानते हैं **(स्थानं जेवि जायते)** और जो उनके स्थानों में जाते हैं **(ते नरा भयभीतस्य)** वे मनुष्य हमेशा भयभीत रहते हैं और **(संसारे दुष दारुनं)** संसार में दारुण दुःख को भोगते हैं।

मिथ्या देव और अदेव का स्वरूप तथा मान्यता का फल -

मिथ्या देवं च प्रोक्तं च, न्यानं कुन्यान दिस्टते ।
दुरबुद्धि मुक्ति मार्गस्य, विस्वासं नरयं पतं ।। ५८ ।।

अन्वयार्थ - (मिथ्या देवं च प्रोक्तं च) मिथ्या देव के स्वरूप को कहते हैं **(न्यानं कुन्यान दिस्टते)** जिन्हें ज्ञान भी कुज्ञान दिखाई देता है अर्थात् जो यथार्थ ज्ञान को नहीं जानते जो **(दुरबुद्धि मुक्ति**

मार्गस्य) दुर्बुद्धि जीव उन्हें मोक्षमार्गी कहता है **(विस्वासं नरयं पतं)** उन पर विश्वास करता है वह नरक का पात्र बनता है।

जस्स देव उपाद्यंते, क्रियते लोकमूढयं ।
तत्र देवं च भक्तं च, विस्वासं दुर्गति भाजनं ।। ५९ ।।

अन्वयार्थ - (जस्स देव उपाद्यंते) जिस जीव को ऐसे देव की उपासना करने के भाव रहते हैं वह जीव **(क्रियते लोकमूढयं)** लोकमूढ़ता करते हैं **(तत्र देवं च भक्तं च)** वहाँ मिथ्या देव की भक्ति और **(विस्वासं दुर्गति भाजनं)** विश्वास करके जीव दुर्गति का पात्र बन जाता है।

अदेवं देव प्रोक्तं च, अंधं अंधेन दिस्टते ।
मार्गं किं प्रवेसं च, अंध कूपं पतंति ये ।। ६० ।।

अन्वयार्थ - (अदेवं देव प्रोक्तं च) जो अदेव को देव मानते हैं [वहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे] **(अंधं अंधेन दिस्टते)** कोई अंधा अंधे को रास्ता दिखा रहा हो [इस स्थिति में] **(मार्गं किं प्रवेसं च)** मार्ग में प्रवेश कैसे होगा **(अंध कूपं पतंति ये)** दोनों अंधे अंधकूप में गिर जायेंगे।

अदेवं जेन दिस्टंते, मानते मूढ संगते ।
ते नरा तीव्र दुष्यानि, नरयं तिरयं च पतं ।। ६१ ।।

अन्वयार्थ - (अदेवं जेन दिस्टंते) अदेव को जो देखते हैं **(मानते मूढ संगते)** और मूढ़ों की संगति को मानते हैं **(ते नरा)** वे मनुष्य **(नरयं तिरयं च पतं)** नरक और तिर्यंच गति में पतित होकर **(तीव्र दुष्यानि)** तीव्र दु:खों को भोगते हैं।

अनादि काल भ्रमनं च, अदेवं देव उच्यते ।
अनृतं अचेत दिस्टंते, दुर्गति गमनं च संजुतं ।। ६२ ।।

अन्वयार्थ - (अनृतं अचेत दिस्टंते) क्षणभंगुर अचेतन वस्तु को देखकर अज्ञानी जीव **(अदेवं देव उच्यते)** अदेव को देव कहता है और **(दुर्गति गमनं च संजुतं)** दुर्गतियों में गमन करता है इस प्रकार जीव **(अनादि काल भ्रमनं च)** अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

अनृतं असत्य मानं च, विनासं जत्र प्रवर्तते ।
ते नरा थावरं दुषं, इन्द्री इत्यादि भाजनं ।। ६३ ।।

अन्वयार्थ - (अनृतं असत्य मानं च) जो क्षणभंगुर असत् वस्तुओं को देव रूप में मानते हैं **(ते नरा थावरं दुषं, इन्द्री इत्यादि भाजनं)** वे मनुष्य एकेन्द्रिय इत्यादि के पात्र बनकर स्थावर पर्याय के दु:ख भोगते हैं **(विनासं जत्र प्रवर्तते)** जहाँ निरंतर विनाश ही प्रवर्तित होता रहता है।

मिथ्या देव अदेवं च, मिथ्या दिस्टी च मानते ।
मिथ्यातं मूढ दिस्टी च, पतितं संसार भाजनं ।। ६४ ।।

अन्वयार्थ - (मिथ्या देव अदेवं च) मिथ्या देव और अदेव को **(मिथ्या दिस्टी च मानते)** मिथ्यादृष्टि ही मानते हैं **(मिथ्यातं मूढ दिस्टी च)** और मिथ्यात्व सहित वह मूढ़ दृष्टि जीव **(पतितं संसार भाजनं)** पतित होकर संसार के पात्र बनते हैं अर्थात् संसार में जन्म-मरण करते हैं।

सच्चे गुरु का स्वरूप –

संमिक गुरु उपाद्यंते, संमिक्तं सास्वतं धुवं ।
लोकालोकं च तत्वार्थं, लोकितं लोक लोकितं ।। ६५ ।।

अन्वयार्थ – (संमिक गुरु उपाद्यंते) सच्चे गुरु का स्वरूप कहते हैं जो **(संमिक्तं सास्वतं धुवं)** सम्यक्त्व सहित शाश्वत ध्रुव स्वभाव की आराधना करते हैं **(लोकालोकं च तत्वार्थं)** लोकालोक में प्रयोजनीय शुद्धात्म स्वरूप जो **(लोक लोकितं)** समस्त लोक को आलोकित करने वाला है **(लोकितं)** सच्चे गुरु उसका अवलोकन, अनुभवन करते हैं।

ऊर्ध आर्ध मध्यं च, न्यान दिस्टि समाचरेत् ।
सुद्ध तत्व स्थिरी भूतं, न्यानेन न्यान लंकृतं ।। ६६ ।।

अन्वयार्थ – (ऊर्ध आर्ध मध्यं च, न्यान दिस्टि समाचरेत्) जो त्रैकालिक सत्ता स्वरूप की दृष्टि पूर्वक ज्ञान स्वभाव में आचरण करते हैं अथवा तीन लोक को जो ज्ञान दृष्टि से देखते हैं **(सुद्ध तत्व स्थिरी भूतं)** शुद्ध तत्त्व में स्थिर हुए वीतरागी सद्गुरु **(न्यानेन न्यान लंकृतं)** ज्ञान ही ज्ञान से अलंकृत होते हैं।

सुद्ध धर्मं च सद्भावं, सुद्ध तत्व प्रकासकं ।
सुद्धात्मा चेतना रूपं, रत्नत्रयं लंकृतं ।। ६७ ।।

अन्वयार्थ – (सुद्ध धर्मं च सद्भावं) जिनके अंतरंग में शुद्ध धर्म का सद्भाव रहता है **(सुद्ध तत्व प्रकासकं)** जो शुद्ध तत्त्व के प्रकाशक होते हैं, ऐसे **(सुद्धात्मा चेतना रूपं)** चैतन्य स्वरूप शुद्धात्म तत्त्व के आराधक सच्चे गुरु **(रत्नत्रय लंकृतं)** रत्नत्रय से अलंकृत होते हैं।

न्यानेन न्यानमालंब्यं, कुन्यानं त्रिविधि मुक्तयं ।
मिथ्या माया न दिस्टंते, संमिक्तं सुद्ध दिस्टितं ।। ६८ ।।

अन्वयार्थ – (संमिक्तं सुद्ध दिस्टितं) सम्यक्त्व के धारी शुद्ध दृष्टि साधु **(मिथ्या माया न दिस्टंते)** मिथ्या माया को नहीं देखते **(न्यानेन न्यानमालंब्यं)** ज्ञानपूर्वक ज्ञान स्वभाव का आलंबन लेकर **(कुन्यानं त्रिविधि मुक्तयं)** तीन प्रकार के कुज्ञान से मुक्त रहते हैं।

संसारे तारनं चिंते, भव्य लोकैक तारकं ।
धर्मस्य अप्प सद्भावं, प्रोक्तं च जिन उक्तयं ।। ६९ ।।

अन्वयार्थ – (संसारे तारनं चिंते) संसार से स्वयं तरने का चिंतन करते हैं तथा **(भव्य लोकैक तारकं)** लोक के प्रत्येक भव्य जीव को तारने का उपदेश देते हैं **(च जिन उक्तयं)** और जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित **(धर्मस्य अप्प सद्भावं)** आत्म स्वभाव रूप धर्म का **(प्रोक्तं)** प्रकाश करते हैं।

न्यानं त्रितिय उत्पन्नं, ऋजु विपुलं च दिस्टते ।
मनपर्जयं च चत्वारि, केवलं सिद्धि साधकं ।। ७० ।।

अन्वयार्थ – (न्यानं त्रितिय उत्पन्नं) वीतरागी साधु को तृतीय अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है **(मनपर्जयं च चत्वारि)** वे चौथे मन:पर्यय ज्ञान के **(ऋजु विपुलं च दिस्टते)** ऋजुमति और विपुलमति भेदों को प्राप्त करते हैं तथा **(केवलं सिद्धि साधकं)** केवलज्ञान और सिद्धि के साधक होते हैं।

रत्नत्रयं सुभावं च, रूपातीत ध्यान संजुतं ।
सक्तस्य विक्त रूपेन, केवलं पदमं ध्रुवं ।। ७१ ।।

अन्वयार्थ - **(रत्नत्रयं सुभावं च, रूपातीत ध्यान संजुतं)** सच्चे गुरु रत्नत्रयमयी आत्म स्वभाव के रूपातीत ध्यान में संयुक्त रहते हैं **(सक्तस्य विक्त रूपेन)** वे अपने पुरुषार्थ पूर्वक स्वरूप को व्यक्त करके **(केवलं पदमं ध्रुवं)** केवलज्ञानमयी अविनाशी पद को प्राप्त करते हैं।

कर्म त्रि विनिर्मुक्तं, व्रत तप संजम संजुतं ।
सुद्ध तत्वं च आराध्यं, दिस्टतं संमिक दर्सनं ।। ७२ ।।

अन्वयार्थ - **(कर्मं त्रि विनिर्मुक्तं)** तीन प्रकार के कर्मों [द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म] से मुक्त होने के लिये **(व्रत तप संजम संजुतं)** व्रत तप संयम का पालन करते हुए **(दिस्टतं संमिक दर्सनं)** सम्यग्दर्शन पूर्वक **(सुद्ध तत्वं च आराध्यं)** शुद्ध तत्त्व की आराधना करते हैं।

तस्य गुनं गुरुस्चैव, तारनं तारकं पुनः ।
मान्यते सुद्ध दिस्टि च, संसारे तारनं सदा ।। ७३ ।।

अन्वयार्थ - **(तारनं तारकं पुनः)** जो तारणहार हैं, संसार के जीवों के लिए तारक अर्थात् संसार से पार लगाने वाले हैं **(संसारे तारनं सदा)** जो हमेशा तारण तरण स्वरूप हैं **(तस्य गुनं गुरुस्चैव)** गुरु के उन गुणों को **(मान्यते सुद्ध दिस्टि च)** शुद्ध दृष्टि मानते हैं।

जावत् सुद्ध गुरं मान्ये, तावत् गत विभ्रमं ।
सल्यं निकंदनं जेन, तस्मै श्री गुरवे नमः ।। ७४ ।।

अन्वयार्थ - **(जावत् सुद्ध गुरं मान्ये)** जैसे ही जीव सच्चे गुरु को स्वीकार करता है **(तावत् गत विभ्रमं)** उसी समय उसके समस्त विभ्रम समाप्त हो जाते हैं [सच्चे गरु वही हैं] **(सल्यं निकंदनं जेन)** जो शल्यों को दूर करते हैं **(तस्मै श्री गुरवे नमः)** ऐसे श्री गुरु के लिये नमस्कार है।

कुगुरु का स्वरूप और मान्यता का फल -

कुगुरस्य गुरुं प्रोक्तं, मिथ्या रागादि संजुतं ।
कुन्यानं प्रोक्तं लोके, कुलिंगी असुह भावना ।। ७५ ।।

अन्वयार्थ - **(कुलिंगी असुह भावना)** जो कुलिंगी अशुभ भावना के धारी होते हैं **(मिथ्या रागादि संजुतं)** मिथ्या रागादि से संयुक्त हैं **(कुन्यानं प्रोक्तं लोके)** लोक में कुज्ञान का विस्तार करते हैं **(कुगुरस्य गुरुं प्रोक्तं)** अज्ञानी जीव ऐसे कुगुरुओं को गुरु कहते हैं।

कुगुरुं राग संबंधं, मिथ्या दिस्टी च दिस्टितं ।
राग दोष मयं मिथ्या, इन्द्री इत्यादि सेवनं ।। ७६ ।।

अन्वयार्थ - **(कुगुरुं राग संबंधं)** कुगुरु का राग से सम्बंध रहता है **(मिथ्या दिस्टी च दिस्टितं)** और वह विपरीत दृष्टि से देखता है **(राग दोष मयं मिथ्या)** राग द्वेषमयी भावना सहित होता है **(इन्द्री इत्यादि सेवनं)** स्पर्शन इत्यादि इन्द्रियों के सेवन में ही लगा रहता है।

मिथ्या समय मिथ्यं च, प्रकृति मिथ्या प्रकासये ।
सुद्ध दिस्टी न जानंते, कुगुरु संग विवर्जितं ।। ७७ ।।

अन्वयार्थ - (मिथ्या समय मिथ्यं च, प्रकृति मिथ्या प्रकासये) कुगुरु मिथ्यात्व, सम्यक्‌मिथ्यात्व और सम्यक्‌प्रकृति मिथ्यात्व का प्रकाश करते हैं **(सुद्ध दिस्टी न जानंते)** वे शुद्ध दृष्टि को नहीं जानते **(कुगुरु संग विवर्जितं)** ऐसे कुगुरु का संग नहीं करना चाहिये। [कुगुरु स्वयं मिथ्यादृष्टि होते हैं, इसलिये वे मिथ्यात्व को प्रकाशित करते हैं, जीवन की नौका के सच्चे खिवैया सद्‌गुरु ही हैं।]

कुगुरुं कुन्यानं प्रोक्तं, सल्यं त्रि दोष संजुतं ।
कसायं वर्धनं नित्यं, लोक मूढस्य मोहितं ।। ७८ ।।

अन्वयार्थ -(कुगुरुं कुन्यानं प्रोक्तं) कुगुरु कुज्ञान की चर्चा करते हैं **(सल्यं त्रि दोष संजुतं)** तीन शल्य रूप दोषों से संयुक्त रहते हैं **(कसायं वर्धनं नित्यं)** नित्य ही जिनकी कषाय बढ़ती रहती है **(लोक मूढस्य मोहितं)** और जो लोक मूढ़ता के प्रवाह में मोहित रहते हैं।

इन्द्रियानां मनोनाथा, पसरंतं प्रवर्तते ।
विसयं विषम दिस्टं च, ममतं मिथ्या भूतयं ।। ७९ ।।

अन्वयार्थ - (इन्द्रियानां मनोनाथा) इन्द्रियों का नाथ मन है **(पसरंतं प्रवर्तते)** यह इन्द्रियों के विषयों में पसरता हुआ परिणमता है **(विसयं विषम दिस्टं च)** दुखदायी विषयों को देखता है **(ममतं मिथ्या भूतयं)** और मिथ्या ममत्व रूप ही बना रहता है।

अनृतं उत्साहं कृत्वा, अभावं असुहं परं ।
माया अनृत असत्यस्य, कुगुरुं संसार स्थितं ।। ८० ।।

अन्वयार्थ - (अनृतं उत्साहं कृत्वा) कुगुरु क्षणभंगुर पदार्थों में उत्साह करके **(अभावं)** स्वभाव का अभाव करते हैं [अर्थात् स्वभाव का विस्मरण करते हैं] **(असुहं परं)** अशुभ को श्रेष्ठ मानते हैं **(माया अनृत असत्यस्य)** क्षणभंगुर नाशवान माया में संलग्न रहते हैं **(कुगुरुं संसार स्थितं)** ऐसे कुगुरु संसार में जन्म-मरण करते रहते हैं।

आलापं असुहं वाक्यं, आरति रौद्र संजुतं ।
क्रोध लोभ अनंतानं, कुलिंगी कुगुरुं भवेत् ।। ८१ ।।

अन्वयार्थ - (आलापं असुहं वाक्यं) जो अशुभ वाक्य रूप वचनालाप करते रहते हैं **(आरति रौद्र संजुतं)** आर्त रौद्र ध्यान से संयुक्त रहते हैं **(क्रोध लोभ अनंतानं)** अनंतानुबंधी क्रोध और लोभ सहित **(कुलिंगी कुगुरुं भवेत्)** कुलिंगी कुगुरु होते हैं।

कुगुरुं पारधी संजुक्तं, संसारे वन आश्रयं ।
लोक मूढस्य जीवस्य, अधर्मं पासि बंधनं ।। ८२ ।।

अन्वयार्थ - (कुगुरुं पारधी संजुक्तं) कुगुरु शिकारी की तरह होते हैं **(संसारे वन आश्रयं)** जो संसार रूपी वन के आश्रय से रहते हैं **(लोक मूढस्य जीवस्य)** और लोक मूढ़ता में फंसे जीवों को **(अधर्मं पासि बंधनं)** अधर्म के जाल में बांध लेते हैं।

आरंडते वनं जीवा, वृष डाल पारधी करं ।
विस्वासं अहं बंधे, लोक मूढस्य किं पस्यते ।। ८३ ।।

अन्वयार्थ - **(आरंडते वनं जीवा)** संसार रूपी भयंकर बीहड़ वन में जीव **(वृष डाल पारधी करं)** कुगुरु रूपी पारधी के द्वारा फैलाये गये अधर्म रूपी जाल में **(विस्वासं अहं बंधे)** विश्वास करके स्वयं बंध जाता है ऐसी **(लोकमूढस्य किं पस्यते)** लोक मूढ़ता को क्यों देखते हो। [अर्थात् ऐसी लोकमूढ़ता पर विश्वास क्यों करते हो ?]

कुगुरुं अधर्म पस्यंतो, अदेवं कृत ताड़की ।
विकहा राग दंड जालं, पास विस्वास मूढयं ।। ८४ ।।

अन्वयार्थ - **(कुगुरुं अधर्म पस्यंतो)** कुगुरु अधर्म को देखते हैं **(अदेवं कृत ताड़की)** वे अदेव कुदेव के भय बताकर जीवों को भयभीत करते हैं **(विकहा राग दंड जालं)** दंड अर्थात् मन वचन काय से विकथाओं के राग का जाल फैलाये रहते हैं **(पास विस्वास मूढयं)** उनके जाल में मूढ़ जीव ही विश्वास करते हैं।

वनं जीवा गणं रुदनं, अहं बंधंति जन्मयं ।
अगुरुं लोक मूढस्य, बंधते जन्म जन्मयं ।। ८५ ।।

अन्वयार्थ - [शिकारी के जाल में फंसकर] **(वनं जीवा गणं रुदनं)** वन में जीवों के समूह रुदन करते हैं [वे विचारते हैं कि] **(अहं बंधंति जन्मयं)** हम इस जन्म में बंध गये हैं [शिकारी के जाल में फंसने से केवल एक जन्म का नाश होता है किन्तु] **(अगुरुं लोक मूढस्य)** अगुरु की लोक मूढ़ता में फंसने से **(बंधते जन्म जन्मयं)** जीव जन्म-जन्म के लिये बंध जाता है।

अगुरस्य गुरुं मान्ये, मूढ दिस्टि च संगता ।
ते नरा नरयं जांति, सुद्ध दिस्टी कदाचना ।। ८६ ।।

अन्वयार्थ - [जो जीव] **(अगुरस्य गुरुं मान्ये)** अगुरु को गुरु मानते हैं **(मूढ दिस्टि च संगता)** और मूढ़ दृष्टि जीवों की संगति करते हैं **(ते नरा नरयं जांति)** वे मनुष्य नरक जाते हैं और **(सुद्ध दिस्टि कदाचना)** उनकी कभी शुद्ध दृष्टि नहीं होती।

अनृतं अचेतं प्रोक्तं, जिन द्रोही वचन लोपनं ।
विस्वासं मूढ जीवस्य, निगोयं जायते धुवं ।। ८७ ।।

अन्वयार्थ - [कुगुरु] **(अनृतं अचेतं प्रोक्तं)** क्षणभंगुर अचैतन्य संयोगों की चर्चा करते हैं **(जिन द्रोही वचन लोपनं)** जिनेन्द्र भगवान के वचनों का लोप करने के कारण जिनद्रोही होते हैं **(विस्वासं मूढ जीवस्य)** जो मूढ़ जीव उनका विश्वास करता है वह **(निगोयं जायते धुवं)** निश्चित ही निगोद को प्राप्त होता है।

दर्सन भ्रस्ट गुरुस्चैव, अदर्सनं प्रोक्तं सदा ।
मानते मिथ्या दिस्टी च, न मानते सुद्ध दिस्टितं ।। ८८ ।।

अन्वयार्थ - **(दर्सन भ्रस्ट गुरुस्चैव)** जो कुगुरु दर्शन से भ्रष्ट हैं वे **(अदर्सनं प्रोक्तं सदा)** हमेशा

मिथ्यात्व की ही चर्चा करते हैं **(मानते मिथ्या दिस्टी च)** उन कुगुरुओं को मिथ्यादृष्टि जीव मानते हैं **(न मानते सुद्ध दिस्टितं)** सम्यक्‌दृष्टि जीव कुगुरुओं पर श्रद्धान नहीं करते।

कुगुरुं संगते जेन, मानते भय लाजयं ।
आसा स्नेह लोभं च, मानते दुर्गति भाजनं ।। ८९ ।।

अन्वयार्थ - (कुगुरुं संगते जेन) जो जीव कुगुरु की संगति करते हैं **(आसा स्नेह लोभं च)** आशा स्नेह और लोभ से **(मानते भय लाजयं)** अथवा लाज और भय से उन्हें मानते हैं **(मानते दुर्गति भाजनं)** कुगुरु को मानने वाले जीव दुर्गति के पात्र होते हैं।

कुगुरुं प्रोक्तं जेन, वचनं तस्य विस्वासतं ।
विस्वासं जेन कर्तव्यं, ते नरा दुष भाजनं ।। ९० ।।

अन्वयार्थ - (कुगुरुं प्रोक्तं जेन) कुगुरु जो वचन कहते हैं **(वचनं तस्य विस्वासतं)** उन वचनों का जो विश्वास करते हैं अथवा **(विस्वासं जेन कर्तव्यं)** उनके वचनों पर विश्वास करना अपना कर्तव्य समझते हैं **(ते नरा दुष भाजनं)** वे नर दु:खों के पात्र होते हैं।

कुगुरुं ग्रंथ संजुक्तं, कुधर्मं प्रोक्तं सदा ।
असत्य सहितो हिंसा, उत्साहं तस्य क्रीयते ।। ९१ ।।

अन्वयार्थ - (कुगुरुं ग्रंथ संजुक्तं) कुगुरु परिग्रह से संयुक्त रहते हैं **(कुधर्मं प्रोक्तं सदा)** हमेशा कुधर्म की चर्चा करते हैं **(असत्य सहितो हिंसा)** रागादि और हिंसा के भाव सहित होते हैं तथा **(उत्साहं तस्य क्रीयते)** उन्हीं कार्यों को उत्साह पूर्वक करते हैं।

ते धर्म कुमति मिथ्यातं, अन्यानं राग बंधनं ।
आराध्यं जेन केनापि, संसारे दुष कारनं ।। ९२ ।।

अन्वयार्थ - (ते) वे कुगुरु **(अन्यानं राग बंधनं)** अज्ञान पूर्वक राग के बंधन सहित **(धर्म कुमति मिथ्यातं)** कुमति और मिथ्यात्व में धर्म मानते हैं **(आराध्यं जेन केनापि)** जो कोई भी जीव ऐसे कुगुरु की आराधना करता है वह **(संसारे दुष कारनं)** संसार में दु:ख के कारणों को ही प्राप्त करता है।

अधर्मं धर्म प्रोक्तं च, अन्यानं न्यान उच्यते ।
अचेतं असास्वतं वंदे, अधर्मं संसार भाजनं ।। ९३ ।।

अन्वयार्थ - (अधर्मं धर्म प्रोक्तं च) कुगुरु अधर्म को धर्म कहते हैं **(अन्यानं न्यान उच्यते)** अज्ञान को ज्ञान कहते हैं **(अचेतं असास्वतं वंदे)** अचेतन और अशाश्वत की वंदना करते हैं [कुगुरु द्वारा बताया गया] **(अधर्मं संसार भाजनं)** अधर्म संसार का पात्र बनाने वाला है।

कुगुरुं अधर्म प्रोक्तं च, कुलिंगी अधर्म संचितं ।
मानते अभव्य जीवस्य, संसारे दुष कारनं ।। ९४ ।।

अन्वयार्थ - (कुगुरुं अधर्म प्रोक्तं च) कुगुरु अधर्म की चर्चा करते हैं **(कुलिंगी अधर्म संचितं)** वे कुलिंगी हैं, अधर्म को संचित करते हैं **(मानते अभव्य जीवस्य)** अभव्य जीव ही ऐसे कुगुरु को गुरु मानते हैं और **(संसारे दुष कारनं)** संसार में दु:ख के कारणों को प्राप्त करते हैं।

(द) अधर्म के पाँच लक्षण

अधर्म और अधर्म के लक्षणों का विवेचन

अधर्म का पहला लक्षण - आर्त रौद्र ध्यान

अधर्मं लक्षणस्चैव, अनृतं अचेतं श्रुतं ।
उत्साहं सहितो हिंसा, हिंसानंदी जिनागमं ।। ९५ ।।

अन्वयार्थ - (अधर्मं लक्षणस्चैव) अधर्म के लक्षण का कथन करते हैं **(अनृतं अचेतं श्रुतं)** जो जीव क्षणभंगुर अचेतन वस्तुओं को ही महत्व देते हैं [उन्हें प्राप्त करने के लिये] **(उत्साहं सहितो हिंसा)** उत्साह सहित हिंसा करते हैं **(हिंसानंदी जिनागमं)** इसको जिनागम में हिंसानंदी रौद्र ध्यान कहा गया है।

हिंसानंदी अनृतानंदी, स्तेयानंद अबंभयं ।
रौद्र ध्यानं च संपूर्नं, अधर्मं दुष दारुनं ।। ९६ ।।

अन्वयार्थ - (हिंसानंदी अनृतानंदी, स्तेयानंद अबंभयं) हिंसा में आनंद मानना हिंसानंदी, झूठ में आनंद मानना मृषानंदी, चोरी में आनंद मानना चौर्यानंदी, अब्रह्म में आनंद मानना अब्रह्मानंदी **(रौद्र ध्यानं च संपूर्नं)** यह सब रौद्र ध्यान **(अधर्मं दुष दारुनं)** अधर्म है और घोर दु:खों का कारण है।

आरति रौद्र संजुक्तं, ते धर्मं अधर्म संजुतं ।
रागादि मिश्र संपूर्नं, अधर्मं संसार भाजनं ।। ९७ ।।

अन्वयार्थ - (आरति रौद्र संजुक्तं) आर्त, रौद्र ध्यान में जो जीव संलग्न रहते हैं **(ते धर्मं अधर्म संजुतं)** वे धर्म के नाम पर अधर्म करते हैं **(रागादि मिश्र संपूर्नं)** आर्त रौद्र ध्यान और रागादि मिश्र भावों से परिपूर्ण होते हैं यह **(अधर्मं संसार भाजनं)** अधर्म संसार का पात्र बनाने वाला है।

अधर्म का दूसरा लक्षण - चार विकथा

विकहा राग संबंधं, विसयं कषायं सदा ।
अनृतं राग आनंदं, ते धर्मं अधर्म उच्यते ।। ९८ ।।

अन्वयार्थ - (विकहा राग संबंधं) विकथा का राग से सम्बंध है **(विसयं कषायं सदा)** विकथाओं के द्वारा जीव हमेशा विषय-कषायों का पोषण करते हैं **(अनृतं राग आनंदं)** झूठे राग में आनंद मानते हैं **(ते धर्मं अधर्म उच्यते)** वे अधर्म को धर्म कहते हैं।

विकहा प्रमानं असुहं च, नंदितं असुह भावना ।
ममतं काम रूपेन, कथितं वर्न विसेषितं ।। ९९ ।।

अन्वयार्थ - (विकहा प्रमानं असुहं च) विकथा अपने स्वभाव से ही पूर्णतया अशुभ है, पाप रूप है **(नंदितं असुह भावना)** विकथा करके जीव अशुभ भावनाओं में आनंद मानते हैं और **(ममतं काम रूपेन)** काम तथा रूप के ममत्व पूर्वक विकथाओं की चर्चा करते हैं।

स्त्रियं काम रूपेन, कथितं वर्न विसेषितं ।
ते नरा नरयं जांति, धर्म रत्नं विलोपितं ।। १०० ।।

अन्वयार्थ - (स्त्रियं काम रूपेन) काम और रूप सम्बंधी स्त्रीकथा का **(कथितं वर्न विसेषितं)**

जो जीव कथन करते हैं, विशेषता से वर्णन करते हैं **(धर्म रत्नं विलोपितं)** धर्म रत्न का विलोप करके **(ते नरा नरयं जांति)** वे मनुष्य नरक गति को प्राप्त करते हैं।

राज्यं राग उत्पाद्यंते, ममतं गारव स्थितं ।
रौद्र ध्यानं च आराध्यं, राज्यं वर्न विसेषितं ।। १०१ ।।

अन्वयार्थ - **(राज्यं राग उत्पाद्यंते)** जो जीव राज्य में राग को उत्पन्न करते हैं **(ममतं गारव स्थितं)** वे ममत्व और गारव में स्थित होकर **(राज्यं वर्न विसेषितं)** राजकथा का विशेषता से वर्णन करते हैं यह **(रौद्र ध्यानं च आराध्यं)** रौद्र ध्यान की आराधना है।

हिंसानंदी च राज्यं च, अनृतानंद असास्वतं ।
कथितं असुह भावेन, संसारे भ्रमनं सदा ।। १०२ ।।

अन्वयार्थ - **(हिंसानंदी च राज्यं च)** राजकथा हिंसानंदी रौद्र ध्यान का परिणाम है **(अनृतानंद असास्वतं)** इससे जीव अशाश्वत और झूठे आनंद में रमता है **(कथितं असुह भावेन)** अशुभ भाव से राजकथा का वर्णन करता है और **(संसारे भ्रमनं सदा)** हमेशा संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

भयस्य भयभीतस्य, अनृतं दुष भाजनं ।
भावं विकलितं जांति, धर्म रत्नं न सूझते ।। १०३ ।।

अन्वयार्थ - **(भयस्य भयभीतस्य)** जो जीव भय से निरंतर भयभीत रहते हैं **(भावं विकलितं जांति)** जिनके भावों में विकलता बनी रहती है उन्हें **(धर्म रत्नं न सूझते)** धर्म रत्न नहीं सूझता और **(अनृतं दुष भाजनं)** वे क्षणभंगुर पदार्थों में रंजायमान होकर दु:ख के पात्र बन जाते हैं।

चौरस्य उत्पाद्यते भावं, अनर्थं सो संगीयते ।
असुद्ध परिनाम तिस्टंते, धर्म भाव न दिस्टते ।। १०४ ।।

अन्वयार्थ - [अज्ञानी जीव अपने मन में] **(चौरस्य उत्पाद्यते भावं)** चोर कथा के भाव उत्पन्न करता है **(अनर्थं सो संगीयते)** यह भाव अनर्थकारी कहे गये हैं क्योंकि जीव [चोर कथा रूप] **(असुद्ध परिनाम तिस्टंते)** अशुद्ध परिणाम में स्थित रहता है इसलिये [उसे] **(धर्म भाव न दिस्टते)** धर्म भाव दिखाई नहीं देता।

चौरस्य भावनं दिस्टा, आरति रौद्र संजुतं ।
स्तेयानंद आनंदं, संसारे दुष दारुनं ।। १०५ ।।

अन्वयार्थ - **(आरति रौद्र संजुतं)** आर्त रौद्र ध्यान में संयुक्त होकर जीव **(चौरस्य भावनं दिस्टा)** चोरी की भावना करता है **(स्तेयानंद आनंदं)** स्तेयानंद रौद्र ध्यान में आनंद मानता है **(संसारे दुष दारुनं)** इससे संसार में दारुण दु:ख भोगता है।

चोरी कृत व्रतधारी च, जिन उक्तं पद लोपनं ।
असास्वतं अनृतं प्रोक्तं, धर्म रत्न विलोपितं ।। १०६ ।।

अन्वयार्थ - **(व्रतधारी च)** व्रतधारी होकर **(जिन उक्तं पद लोपनं)** जिनेन्द्र भगवान के कहे हुए पदों का लोपन करना **(असास्वतं अनृतं प्रोक्तं)** चाहे जो कुछ भी अन्यथा मिथ्या प्ररूपण करना **(चोरी**

कृत) चोरी करना है इससे **(धर्म रत्न विलोपितं)** धर्म रत्न का विलोप हो जाता है।

विकहा अधर्म मूलस्य, विसनं अधर्म संचितं ।
जे नरा भाव तिस्टंते, दुष दारुनं पुनः पुनः ।। १०७ ।।

अन्वयार्थ - (विकहा अधर्म मूलस्य) विकथा अधर्म की जड़ है **(विसनं अधर्म संचितं)** व्यसनों से जीव अधर्म का संचय करता है **(जे नरा भाव तिस्टंते)** जो मनुष्य विकथा और व्यसन के भावों में रत रहता है वह **(दुष दारुनं पुनः पुनः)** बारम्बार घोर दुःखों को भोगता है।

सात व्यसन

१. जुआं खेलना -

जूआ असुद्ध भावस्य, जोइतं अनृतं स्रुतं ।
परिणय आरति संजुक्तं, जूआ नरय भाजनं ।। १०८ ।।

अन्वयार्थ - (असुद्ध भावस्य, जोइतं अनृतं) अशुभ भाव को संजोना, क्षणभंगुर असत् पर्याय **(परिणय आरति संजुक्तं)** रूप परिणत होना, उसी में सब प्रकार से रति पूर्वक संयुक्त रहना इसको **(स्रुतं)** शास्त्र में **(जूआ)** जुआ व्यसन कहा है और यह **(जूआ नरय भाजनं)** जुआ नरक का पात्र बनाता है।

२. मांस खाना -

मासं रौद्र ध्यानस्य, संमूर्च्छन जत्र तिस्टते ।
जलं कंद मूलस्य, साकं संमूर्च्छनस्तथा ।। १०९ ।।

अन्वयार्थ - (मासं रौद्र ध्यानस्य) मांस भक्षण करना रौद्र ध्यान का परिणाम है **(संमूर्च्छन जत्र तिस्टते)** जहाँ सम्मूर्च्छन जीव पाये जाते हैं ऐसा **(जलं कंद मूलस्य, साकं संमूर्च्छनस्तथा)** कच्चा या बिना छना जल, कंद, मूल और जिसमें सम्मूर्च्छन जीव होते हैं ऐसी साक आदि का सेवन करना मांस भक्षण करना है।

स्वादं विचलितं जेन, संमूर्छनं तस्य उच्यते ।
जे नरा तस्य भुक्तं च, तिर्यंच नरय स्थितं ।। ११० ।।

अन्वयार्थ - (स्वादं विचलितं जेन) जिस वस्तु का स्वाद विचलित हो जाता है **(संमूर्छनं तस्य उच्यते)** उस वस्तु को सम्मूर्च्छन जीव सहित कहा जाता है **(जे नरा तस्य भुक्तं च)** जो मनुष्य उसका सेवन करते हैं **(तिर्यंच नरय स्थितं)** वे तिर्यञ्च और नरक गति में चले जाते हैं।

विदल संधान बंधानं, अनुरागं जस्य गीयते ।
मनस्य भावनं कृत्वा, मासं तस्य न सुद्धये ।। १११ ।।

अन्वयार्थ - (विदल संधान बंधानं) विदल और अचार आदि खाने का **(अनुरागं जस्य गीयते)** जिसको अनुराग भाव आता है **(मनस्य भावनं कृत्वा)** मन में उस वस्तु को ग्रहण करने की भावना करता है **(मासं तस्य न सुद्धये)** उस जीव को मांसाहार के त्याग की शुद्धि नहीं है।

फलं संपूर्न भुक्तं च, संमूर्छन त्रस विभ्रमं ।
जीवस्य उत्पन्नं दिस्टा, हिंसानंदी मांस दूषनं ।। ११२ ।।

अन्वयार्थ - (फलं संपूर्न) सम्पूर्ण फल अर्थात् साबित फल में **(संमूर्छन त्रस विभ्रमं)** सम्मूर्च्छन

और त्रस जीवों के होने की आशंका रहती है **(जीवस्य उत्पन्नं दिस्टा)** उसमें जीवों की उत्पत्ति देखी जाती है **(भुक्तं च)** उस साबित फल का सेवन करना **(हिंसानंदी मांस दूषनं)** हिंसानंदी रौद्र ध्यान है और इस क्रिया में मांस का दोष है।

३. शराब पीना –

मद्यं ममत्व भावेन, राज्यं आरूढ चिंतनं ।
भाषा सुद्धि न जानंते, मद्यं तस्य विसंचितं ।। ११३ ।।

अन्वयार्थ – (ममत्व भावेन, राज्यं आरूढ चिंतनं) ममत्व भाव सहित राज्य का चिंतन करना, राज्य में आरूढ़ रहना **(मद्यं)** मद्यपान करना है **(भाषा सुद्धि न जानंते)** मद्यपान करने वाला जीव भाषा शुद्धि को नहीं जानता **(मद्यं तस्य विसंचितं)** उसको मद्य को संचित करने वाला कहा गया है।

अनृतं असत्य भावं च, कार्याकार्य न सूझये ।
ते नरा मद्यपा होंति, संसारे भ्रमनं सदा ।। ११४ ।।

अन्वयार्थ – (अनृतं असत्य भावं च) जो क्षणभंगुर असत् पदार्थों की निरंतर भावना भाते हैं उन्हें **(कार्याकार्य न सूझये)** कार्य–अकार्य नहीं सूझता [क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये यह बोध नहीं रहता] **(ते नरा मद्यपा होंति)** वे मनुष्य मद्यपान करने वाले होते हैं और **(संसारे भ्रमनं सदा)** हमेशा संसार में परिभ्रमण करते हैं।

जिन उक्तं न सार्धन्ते, मिथ्या रागादि भावना ।
अनृतं नृत जानंति, ममतं मान भूतयं ।। ११५ ।।

अन्वयार्थ – (जिन उक्तं न सार्धन्ते) जिनेन्द्र भगवान के कहे अनुसार जो श्रद्धान और साधना नहीं करते **(मिथ्या रागादि भावना)** मिथ्या रागादि की भावना भाते हैं **(अनृतं नृत जानंति)** नाशवान पदार्थों को सत्य जानते हैं **(ममतं मान भूतयं)** उन्हें ममत्व और मान सवार रहता है।

सुद्ध तत्वं न वेदंते, असुद्धं सुद्ध गीयते ।
मद्यं ममत्त भावस्य, मद्य दोषं जथा बुधैः ।। ११६ ।।

अन्वयार्थ – (सुद्ध तत्वं न वेदंते) जो जीव शुद्ध तत्त्व का अनुभव नहीं करते **(असुद्धं सुद्ध गीयते)** अशुद्ध को शुद्ध कहते हैं इस प्रकार **(मद्यं ममत्त भावस्य)** ममत्व भाव को ही मद्यपान कहा है **(मद्य दोषं जथा बुधैः)** ज्ञानीजनों ने इसी को मद्य का दोष माना है।

जिन उक्तं सुद्ध तत्वार्थं, जेन सार्धं अव्रतं व्रती ।
अन्यानी मिथ्या ममत्तस्य, मद्ये आरूढ ते सदा ।। ११७ ।।

अन्वयार्थ – (जेन अव्रतं व्रती) जो अव्रती और व्रती श्रावक हैं वे **(जिन उक्तं सुद्ध तत्वार्थं)** जिनेन्द्र भगवान के कहे अनुसार तत्त्वार्थ शुद्धात्म स्वरूप की **(सार्धं)** साधना करते हैं और **(अन्यानी मिथ्या ममत्तस्य)** अज्ञानी मिथ्या ममत्व में आसक्त रहते हैं **(मद्ये आरूढ ते सदा)** वे हमेशा मद्यपान में आरूढ़ रहते हैं।

४. वेश्या गमन करना –

विस्वा आसक्त आरक्तं, कुन्यानं रमते सदा ।
नरयं जस्य सद्भावं, ते भाव विस्वा दिस्टितं ।। ११८ ।।

अन्वयार्थ – **(कुन्यानं रमते सदा)** जो जीव हमेशा कुज्ञान में रमण करता है **(आरक्तं)** उसी में आरक्त रहता है **(विस्वा आसक्त)** यही वेश्यासक्ति है **(नरयं जस्य सद्भावं)** जिस जीव को नरकादि दुर्गतियों में जाने का सद्भाव होता है **(ते भाव विस्वा दिस्टितं)** वही जीव वेश्या गमन के भाव को करते हैं।

५. शिकार खेलना –

पारधी दुस्ट सद्भावं, रौद्र ध्यानं च संजुतं ।
आरति आरक्तं जेन, ते पारधी च संजुतं ।। ११९ ।।

अन्वयार्थ – **(पारधी दुस्ट सद्भावं)** शिकारी का दुष्ट स्वभाव होता है **(रौद्र ध्यानं संजुतं)** रौद्र ध्यान में संयुक्त रहने वाले **(च)** और **(आरति आरक्तं जेन)** आर्त ध्यान में लीन रहने वाले जो जीव हैं **(ते पारधी च संजुतं)** वे शिकारी के समान स्वभाव वाले जीव हैं।

मान्यते दुस्ट सद्भावं, वचनं दुस्ट रतो सदा ।
चिंतनं दुस्ट आनंदं, ते पारधी हिंसा नंदितं ।। १२० ।।

अन्वयार्थ – **(मान्यते दुस्ट सद्भावं)** जो दुष्ट स्वभाव को मानते हैं **(वचनं दुस्ट रतो सदा)** खोटे वचन बोलने रूप दुष्प्रवृत्ति में हमेशा रत रहते हैं **(चिंतनं दुस्ट आनंदं)** खोटा चिंतन करने में आनंद मानते हैं **(ते पारधी हिंसा नंदितं)** वे हिंसा में आनंद मानने वाले शिकारी हैं।

विस्वासं पारधी दुस्टा, मन कूड वचन कूडयं ।
कर्मना कूड कर्तव्यं, विस्वासं पारधी संजुतं ।। १२१ ।।

अन्वयार्थ – **(विस्वासं पारधी दुस्टा)** शिकारी दुष्टता में विश्वास करता है, उसके **(मन कूड वचन कूडयं)** मन में कपट और वचन में कपट होता है **(कर्मना कूड कर्तव्यं, विस्वासं)** जो कर्म से कपट रूप कर्तव्य करने में विश्वास करता है **(पारधी संजुतं)** वह पारधी स्वभाव वाला जीव है।

जे जीव पंथ लागंते, कुपंथं जेन दिस्टते ।
विस्वासं दुस्ट संगानि, ते पारधी दुष दारुनं ।। १२२ ।।

अन्वयार्थ – **(जे जीव पंथ लागंते)** जो जीव इस मार्ग में लगते हैं **(कुपंथं जेन दिस्टते)** और जो कुमार्ग को ही देखते हैं अर्थात् जिनका कुमार्ग में ही प्रीति भाव होता है **(विस्वासं दुस्ट संगानि)** दुष्ट संगति में विश्वास करते हैं **(ते पारधी दुष दारुनं)** वे शिकारी घोर दु:ख भोगते हैं।

संसार पारधी विस्वासं, जन्म मृत्युं च प्राप्तये ।
जे जीव अधर्म विस्वासं, ते पारधी जन्म जन्मयं ।। १२३ ।।

अन्वयार्थ – **(संसार पारधी विस्वासं)** संसारी जीव शिकारी पर विश्वास करके **(जन्म मृत्युं च प्राप्तये)** इस एक जन्म में ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं **(जे जीव अधर्म विस्वासं)** किन्तु जो जीव अधर्म में विश्वास करते हैं **(ते पारधी जन्म जन्मयं)** वे कुगुरु रूपी शिकारी के जाल में फंसकर जन्म–जन्मांतर तक परिभ्रमण करते हैं, संसार के दु:ख भोगते हैं।

मुक्ति पंथं तत्व सार्धं च, लोकालोकं च लोकितं ।
पंथ भ्रस्ट अचेतस्य, विस्वासं जन्म जन्मयं ।। १२४ ।।

अन्वयार्थ - (लोकालोकं च लोकितं) लोकालोक को आलोकित करने वाले **(मुक्ति पंथं तत्व सार्धं च)** शुद्धात्म तत्त्व की साधना करना मुक्ति का मार्ग है **(पंथ भ्रस्ट अचेतस्य)** जबकि मोक्षमार्ग से भ्रष्ट मूर्च्छित **(विश्वासं जन्म जन्मयं)** कुगुरु पर विश्वास करना जन्म-जन्म तक संसार में परिभ्रमण का कारण है।

पारधी पासि जन्मस्य, अधर्मं पासि अनंतयं ।
जन्म जन्मं च दुस्टं च, प्राप्तं दुष दारुनं ।। १२५ ।।

अन्वयार्थ - (पारधी पासि जन्मस्य) शिकारी के जाल में फंसने से एक जन्म का घात होता है **(अधर्मं पासि)** अधर्म के जाल में फंसने पर **(अनंतयं)** अनंत **(जन्म जन्मं च दुस्टं च)** जन्म-जन्म तक अत्यंत कष्टकर **(प्राप्तं दुष दारुनं)** दारुण दुःख प्राप्त होते हैं।

जिन लिंगी तत्व वेदंते, सुद्ध तत्व प्रकासकं ।
कुलिंगी तत्व लोपंते, परपंचं धर्म उच्यते ।। १२६ ।।

अन्वयार्थ - (जिन लिंगी तत्व वेदंते) जिनलिंगी अर्थात् वीतरागी साधु [सच्चे गुरु] **(सुद्ध तत्व प्रकासकं)** शुद्ध तत्त्व के प्रकाशक होते हैं **(कुलिंगी तत्व लोपंते)** जबकि कुलिंगी कुगुरु तत्त्व का लोप करते हैं और **(परपंचं धर्म उच्यते)** प्रपंच को धर्म कहते हैं।

ते लिंगी मूढ दिस्टी च, कुलिंगी विस्वासं कृतं ।
दुरबुद्धि पासि बंधंते, संसारे दुष दारुनं ।। १२७ ।।

अन्वयार्थ - (ते लिंगी मूढ दिस्टी च) वे कुलिंगी कुगुरु मूढ़दृष्टि होते हैं **(कुलिंगी विस्वासं कृतं)** उन कुलिंगियों का विश्वास करके **(दुरबुद्धि पासि बंधंते)** मूढ़ बुद्धि जीव उनके अधर्म के जाल में बंध जाते हैं और **(संसारे दुष दारुनं)** संसार में घोर दुःखों को भोगते हैं।

पारधी पासि मुक्तस्य, जिन उक्तं सार्धं धुवं ।
सुद्ध तत्वं च सार्धं च, अप्प सद्भाव चिन्हितं ।। १२८ ।।

अन्वयार्थ - (पारधी पासि मुक्तस्य) शिकारी के अधर्म जाल से मुक्त होने के लिये **(जिन उक्तं सार्धं धुवं)** जिनेन्द्र भगवान के वचनानुसार ध्रुव स्वभाव की श्रद्धा करो **(सुद्ध तत्वं च सार्धं च)** और शुद्ध तत्त्व की साधना करो जो **(अप्प सद्भाव चिन्हितं)** आत्म स्वभाव से ही चिन्हित है।

६. चोरी करना -

स्तेयं अनर्थ मूलस्य, विटंबं असुह उच्यते ।
संसारे दुष सद्भावं, स्तेयं दुर्गति भाजनं ।। १२९ ।।

अन्वयार्थ - (स्तेयं अनर्थ मूलस्य) चोरी समस्त अनर्थों की जड़ है **(विटंबं असुह उच्यते)** यह झंझटों में फंसाने वाली पाप क्रिया है **(संसारे दुष सद्भावं)** संसार में जितने भी दुःखों का सद्भाव है अर्थात् जीव संसार में जितने भी दुःख भोगता है वह सब चोरी के कारण होते हैं **(स्तेयं दुर्गति भाजनं)** चोरी दुर्गति का पात्र बनाने वाली है।

मनस्य चिंतनं कृत्वा, स्तेयं दुर्गति भावना ।
कृतं असुद्ध कर्मस्य, कूड सद्भाव रतो सदा ।। १३० ।।

अन्वयार्थ - **(मनस्य चिंतनं कृत्वा)** मन से चोरी का चिंतन करके जीव **(कृतं असुद्ध कर्मस्य)** अशुद्ध कर्म को करता है और **(कूड सद्भाव रतो सदा)** कपट रूप स्वभाव में हमेशा रत रहता है **(स्तेयं दुर्गति भावना)** यह चोरी की भावना दुर्गति ले जाने वाली है।

स्तेयं अदत्तं चिंते, वयनं असुद्धं सदा ।
हीनकृत कूड भावस्य, स्तेयं दुर्गति कारणं ।। १३१ ।।

अन्वयार्थ - **(स्तेयं अदत्तं चिंते)** बिना दिये हुए किसी की वस्तु उसकी आज्ञा के बिना लेना चोरी है **(वयनं असुद्धं सदा)** हमेशा अशुद्ध वचन बोलना **(हीनकृत कूड भावस्य)** कपट रूप भाव के साथ चोरी जैसा निकृष्ट कार्य करना **(स्तेयं दुर्गति कारणं)** यह चोरी दुर्गति का कारण है।

स्तेयं दुस्ट प्रोक्तं च, जिन वयन विलोपितं ।
अर्थ अनर्थ उत्पाद्यंते, अस्तेयं व्रत खंडनं ।। १३२ ।।

अन्वयार्थ - [चोरी के अनेक रूप हैं जिनमें कुछ इस प्रकार हैं] **(जिन वयन विलोपितं)** जिनेन्द्र भगवान के वचनों का लोप करना चोरी है **(अर्थ अनर्थ उत्पाद्यंते)** जिनवाणी के अर्थ का अनर्थ करना, वस्तु स्वरूप कुछ का कुछ बतलाना और **(स्तेयं व्रत खंडनं)** धारण किये हुए व्रतों को खंडित करना चोरी है **(स्तेयं दुस्ट प्रोक्तं च)** चोरी को कष्टकर दु:खदायी कहा गया है।

सर्वन्यं मुष वानी च, सुद्ध तत्व समाचरेत् ।
जिन उक्तं लोपनं कृत्वा, स्तेयं दुर्गति भाजनं ।। १३३ ।।

अन्वयार्थ - **(सर्वन्यं मुष वानी च)** सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि में भव्य जीवों को प्रेरणा है [कि] **(सुद्ध तत्व समाचरेत्)** शुद्ध तत्त्व में आचरण करो **(जिन उक्तं लोपनं कृत्वा)** जिनेन्द्र भगवान के ऐसे परम कल्याणकारी वचनों का लोप करना [स्वभाव का विस्मरण करना और पर्यायाधीन परिणमन करना] **(स्तेयं दुर्गति भाजनं)** चोरी है जो दुर्गति का पात्र बनाने वाली है।

दर्सनं न्यान चारित्रं, मयमूर्ति न्यान संजुतं ।
सुद्धात्मा तत्व लोपंते, स्तेयं दुर्गति भाजनं ।। १३४ ।।

अन्वयार्थ - **(दर्सनं न्यान चारित्रं)** आत्मा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमयी है **(मय मूर्ति न्यान संजुतं)** ऐसे ज्ञानमयी चैतन्यमूर्ति की आराधना करना कल्याणकारी है [इसके विपरीत] **(सुद्धात्मा तत्व लोपंते)** शुद्धात्म तत्त्व का लोप करना **(स्तेयं)** चोरी है **(दुर्गति भाजनं)** जो दुर्गति का पात्र बनाने वाली है।

७. परस्त्री गमन

परदारा रतो भावं, परपंचं कृतं सदा ।
ममतं असुद्ध भावस्य, आलापं कूड उच्यते ।। १३५ ।।

अन्वयार्थ - **(परपंचं कृतं सदा)** हमेशा प्रपंच करते रहना **(ममतं असुद्ध भावस्य)** अशुद्ध भाव में ममत्व रखना **(आलापं कूड उच्यते)** कपट रूप वचनालाप करते रहना **(परदारा रतो भावं)** यही परस्त्री गमन का भाव है।

अबंभं कूड सद्भावं, मन वचनस्य क्रीयते ।
ते नरा व्रत हीनस्य, संसारे दुष दारुनं ।। १३६ ।।

अन्वयार्थ - (अबंभं कूड सद्भावं, मन वचनस्य क्रीयते) अब्रह्म करने हेतु जो कपट रूप भाव मन से वचन से करते हैं **(ते नरा व्रत हीनस्य)** वे मनुष्य व्रत से रहित हैं **(संसारे दुष दारुनं)** यह परिणाम संसार में घोर दु:खों का कारण है।

कषायं जेन विकहस्य, चक्र इन्द्र नराधिपा ।
भावनं तत्र तिस्टंते, पर दारा रतो नरा ।। १३७ ।।

अन्वयार्थ - (कषायं जेन विकहस्य) जो जीव कषाय और विकथाओं में रत रहते हैं **(चक्र इन्द्र नराधिपा)** चक्रवर्ती इन्द्र राजा महाराजा आदि की **(भावनं तत्र तिस्टंते)** भावनाओं में जो जीव मग्न रहते हैं **(परदारा रतो नरा)** वे मनुष्य परदारा रत हैं अर्थात् परस्त्री गामी हैं।

काम कथा च वर्नत्वं, वचनं आलाप रंजनं ।
ते नरा दुष साहंते, पर दारा रतो सदा ।। १३८ ।।

अन्वयार्थ - (काम कथा च वर्नत्वं) जो जीव काम कथा का वर्णन करते हैं **(वचनं आलाप रंजनं)** तत्संबंधी वचनालाप कर रंजायमान होते हैं **(पर दारा रतो सदा)** वे सदैव ही परदारा रत हैं **(ते नरा दुष साहंते)** और वे मनुष्य दु:खों को भोगते हैं।

विकहा अश्रुत प्रोक्तं च, कामार्थं श्रुत उक्तयं ।
श्रुतं अन्यान मयं मूढा, व्रत षंड दारा रंजितं ।। १३९ ।।

अन्वयार्थ - (विकहा अश्रुत प्रोक्तं च) विकथा अर्थात् व्यर्थ चर्चाओं को अश्रुत कहा गया है **(कामार्थं श्रुत उक्तयं)** जो जीव काम के उद्देश्य से इस प्रकार के शास्त्र कहते हैं, लिखते हैं **(श्रुतं अन्यान मयं)** उनके वह सभी शास्त्र अज्ञानमय हैं **(मूढा)** वे मूढ़ जीव **(व्रत षंड दारा रंजितं)** व्रतों को खंडित करके परस्त्री गमन में रंजायमान रहते हैं।

परिणामं जस्य विचलंते, विभ्रमं रूप चिंतनं ।
आलापं श्रुत आनंदं, विकहा परदार सेवनं ।। १४० ।।

अन्वयार्थ - (परिणामं जस्य विचलंते) जिसके परिणाम विचलित होते हैं **(विभ्रमं रूप चिंतनं)** जो स्त्री के रूप का चिंतन कर विभ्रम को प्राप्त होता है **(विकहा)** विकथाओं की **(आलापं श्रुत आनंदं)** चर्चा करके और सुनकर जो आनंद मानता है वह **(परदार सेवनं)** परस्त्री का सेवन करता है।

मनादि काय विचलंति, इन्द्रिय विषय रंजितं ।
व्रत षंड सर्व धर्मस्य, अनृत अचेत सार्धयं ।। १४१ ।।

अन्वयार्थ - (इन्द्रिय विषय रंजितं) इन्द्रिय विषयों में रंजायमान होने के लिये जिसके **(मनादि काय विचलंति)** मन वचन काय विचलित होते हैं वह **(अनृत अचेत सार्धयं)** विनाशीक विषय को प्राप्त करने के लिये मूर्च्छित होकर उसमें रंजायमान होता है **(व्रत षंड सर्व धर्मस्य)** ऐसा जीव धर्म के समस्त व्रतों को खंडित कर देता है।

विषयं रंजितं जेन, अनृतानंद संजुतं ।
पुन्य सद्भाव उत्पादंते, दोषं आनंदनं कृतं ।। १४२ ।।

अन्वयार्थ – **(विषयं रंजितं जेन)** जो जीव विषयों में रंजायमान होता है वह **(अनृतानंद संजुतं)** झूठे आनंद में मग्न होता है **(पुन्य सद्भाव उत्पादंते)** कुछ व्रतादि करके पुण्य को उपार्जित कर लेता है **(दोषं आनंदनं कृतं)** फिर भी वह दोषों में ही आनंद मानता रहता है।

आठ मद –

एतानि राग संबंधं, मद अस्टं रमते सदा ।
ममतं असत्य आनंदं, मद अस्टं नरयं पतं ।। १४३ ।।

अन्वयार्थ – **(एतानि राग संबंधं)** इस प्रकार राग से सम्बंध बनाकर अज्ञानी जीव **(मद अस्टं रमते सदा)** आठ मदों में हमेशा रमता रहता है **(ममतं असत्य आनंदं)** ममत्व के झूठे आनंद में मग्न रहता है **(मद अस्टं नरयं पतं)** यह आठ मद नरक में पतन कराने वाले हैं।

असत्यं असास्वतं रागं, उत्साहं परपंचं रतो ।
सरीरे राग व्रिद्धंते, ते पुनः दुर्गति भाजनं ।। १४४ ।।

अन्वयार्थ – **(असत्यं असास्वतं रागं)** असत् रागादि भाव और अशाश्वत क्षणभंगुर संयोग में राग करके अज्ञानी जीव **(उत्साहं परपंचं रतो)** प्रपंच के उत्साह में रत रहता है इससे **(सरीरे राग व्रिद्धंते)** शरीर में राग की वृद्धि होती है और **(ते पुनः दुर्गति भाजनं)** वह जीव पुनः पुनः दुर्गति का पात्र बनता है।

जाति कुल सुरूपं च, अधिकारं न्यानं तपं ।
बलं सिल्प आरूढं, मद अस्टं संसार भाजनं ।। १४५ ।।

अन्वयार्थ – [अज्ञानी जीव] **(जाति कुल सुरूपं च)** जाति मद, कुल मद, रूप मद **(अधिकारं न्यानं तपं)** अधिकार मद, ज्ञान मद, तप मद **(बलं सिल्प आरूढं)** बल मद और शिल्प मद में आरूढ़ होता है **(मद अस्टं संसार भाजनं)** यह आठ मद [जीव को] संसार का पात्र बनाने वाले हैं।

जातिं च राग मयं चिंते, अनृतं नृत उच्यते ।
ममतं स्नेह आनंदं, कुल आरूढ़ रतो सदा ।। १४६ ।।

अन्वयार्थ – **(जातिं च राग मयं चिंते)** रागमय परिणामों सहित जीव जातिमद का चिंतन करता है **(अनृतं नृत उच्यते)** और क्षणभंगुर नाशवान संयोगों को सत्य कहता है **(ममतं स्नेह आनंदं)** ममत्व और स्नेह में आनंद मानता हुआ **(कुल आरूढ़ रतो सदा)** कुल मद में आरूढ़ होकर हमेशा उसी में रत रहता है।

रूपं अधिकारं दिस्टा, रागं व्रिधंति जे नरा ।
ते अन्यान मयं मूढा, संसारे दुष दारुनं ।। १४७ ।।

अन्वयार्थ – **(रूपं अधिकारं दिस्टा)** रूप मद और अधिकार मद को देखते हुए **(रागं व्रिधंति जे नरा)** जो मनुष्य राग को बढ़ाते हैं **(ते अन्यान मयं मूढा)** वे अज्ञानमय मूढ़ जीव **(संसारे दुष दारुनं)** संसार में दारुण दु:ख भोगते हैं।

कुन्यानं तप तप्तं च, रागं व्रिधंति ते तपा ।
ते तानि मूढ सद्भावं, अन्यानं तप श्रुतं क्रिया ।। १४८ ।।

अन्वयार्थ - **(कुन्यानं तप तप्तं च)** जो जीव कुज्ञान सहित तप तपते हैं **(रागं व्रिधंति ते तपा)** वे उस तप से राग की ही वृद्धि करते हैं **(ते तानि मूढ सद्भावं)** उनका यह मूढ़ स्वभाव जब तक रहेगा तब तक **(अन्यानं तप श्रुतं क्रिया)** तप करना, शास्त्र जानना, अनेक प्रकार की क्रिया करना सब कुछ अज्ञानमय है।

अनेय तप तप्तानं, जन्मनं कोड कोडिभि ।
श्रुतं अनेय जानंते, राग मूढ मयं सदा ।। १४९ ।।

अन्वयार्थ - [अज्ञानी जीव अहंकार सहित अज्ञान पूर्वक] **(अनेय तप तप्तानं, जन्मनं कोड कोडिभि)** करोड़ों-करोड़ों जन्म तक अनेक प्रकार का तप तपते हैं **(श्रुतं अनेय जानंते)** अनेक शास्त्रों को जानते हैं किंतु **(राग मूढ मयं सदा)** रागमय होने से वह सम्पूर्ण प्रयत्न मूढ़तापूर्ण कार्य है।

मानं राग संबंधं, तप दारुनं नंतं श्रुतं ।
सुद्ध तत्वं न पस्यंति, ममतं दुर्गति भाजनं ।। १५० ।।

अन्वयार्थ - [जो जीव] **(मानं राग संबंधं)** रागमान के संबंध सहित **(तप दारुनं नंतं श्रुतं)** दारुण तप करते हैं, अनंत शास्त्रों को जानते हैं लेकिन **(सुद्ध तत्वं न पस्यंति)** शुद्ध तत्त्व को नहीं देखते [अर्थात् शुद्धात्म तत्त्व की श्रद्धा नहीं करते ऐसे जीवों को यह] **(ममतं दुर्गति भाजनं)** ममत्व भाव दुर्गति का पात्र बनाने वाला है।

अनंतानुबंधी कषाय -

कषायं जेन अनंतानं, रागं च अनृतं कृतं ।
विस्वासं दुर्बुद्धि चिंते, ते नरा दुर्गति भाजनं ।। १५१ ।।

अन्वयार्थ - **(कषायं जेन अनंतानं)** जो जीव अनंतानुबंधी कषाय करके **(रागं च अनृतं कृतं)** क्षणभंगुर पदार्थों में राग करते हैं **(विस्वासं दुर्बुद्धि चिंते)** अनंतानुबंधी कषाय में विश्वास करते हैं और दुर्बुद्धि पूर्वक उसी का चिंतन करते हैं **(ते नरा दुर्गति भाजनं)** वे मनुष्य दुर्गति के पात्र होते हैं।

अनंतानुबंधी लोभ -

लोभं अनृत सद्भावं, उत्साहं अनृतं कृतं ।
तस्य लोभं प्राप्तं च, तं लोभं नरयं पतं ।। १५२ ।।

अन्वयार्थ - **(लोभं अनृत सद्भावं)** जीव क्षणभंगुर पदार्थों के सद्भाव हेतु लोभ करता है **(उत्साहं अनृतं कृतं)** विनाशीक वस्तुओं को प्राप्त करने का उत्साह करता है **(तस्य लोभं प्राप्तं च)** उस जीव को लोभ प्राप्त है अर्थात् जिस लोभ के परिणामों में रत रहता है **(तं लोभं नरयं पतं)** वह लोभ नरक में पतन कराने वाला है। [अनंतानुबंधी लोभ जीव को नरक का पात्र बना देता है।]

लोभं कुन्यान सद्भावं, अनाद्यं भ्रमते सदा ।
अति लोभ चिंतते येन, तं लोभं दुर्गति कारनं ।। १५३ ।।

अन्वयार्थ - **(लोभं कुन्यान सद्भावं)** कुज्ञान के सद्भाव के कारण जीव लोभ करता है **(अनाद्यं भ्रमते सदा)** इस लोभ के परिणामों के वशीभूत जीव अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है **(अति**

लोभ चिंतते येन) जो जीव अति लोभ का चिंतन करते हैं **(तं लोभं दुर्गति कारनं)** वह लोभ दुर्गति का कारण होता है।

असास्वतं लोभ कृत्वं च, अनेय कष्टं कृतं सदा ।
चेतना लष्यनो हीना, लोभं दुर्गति बंधनं ।। १५४ ।।

अन्वयार्थ - (असास्वतं लोभ कृत्वं च) जो जीव अशाश्वत वस्तुओं का लोभ करते हैं **(अनेय कष्टं कृतं सदा)** वे हमेशा अनेक प्रकार के कष्टपूर्ण कार्य करते हैं **(चेतना लष्यनो हीना)** चेतना लक्षण से हीन होते हैं अर्थात् लोभ में मूर्च्छित रहते हैं **(लोभं दुर्गति बंधनं)** यह लोभ दुर्गति का बंध कराता है।

अनंतानुबंधी मान -

मानं च असत्य रागं च, हिंसानंदी च दारुनं ।
परपंचं चिंतते येन, सुद्ध तत्वं न पस्यते ।। १५५ ।।

अन्वयार्थ - (मानं असत्य रागं च) मान झूठा राग है **(हिंसानंदी च दारुनं)** मान करने से घोर हिंसानंदी रौद्र ध्यान होता है **(परपंचं चिंतते येन)** जो जीव प्रपंचों का चिंतन करते हैं उन्हें **(सुद्ध तत्वं न पस्यते)** शुद्ध तत्त्व दिखाई नहीं देता।

मानं असास्वतं कृत्वा, अनृतं राग नंदितं ।
असत्यं आनंद मूढस्य, रौद्र ध्यानं च तिस्टते ।। १५६ ।।

अन्वयार्थ - (मानं असास्वतं कृत्वा) अशाश्वत पदार्थों का मान करके जीव **(अनृतं राग नंदितं)** झूठे राग में आनंदित होता है **(असत्यं आनंद मूढस्य)** मूढ़ जीव को वह असत्य रागादिक प्रपंच भी आनंद प्रतीत होता है **(रौद्र ध्यानं च तिस्टते)** ऐसा जीव रौद्र ध्यान में स्थित रहता है।

मानं पुन्य उत्पाद्यंते, दुर्बुद्धि अन्यानं श्रुतं ।
मिथ्या मय मूढ दिस्टी च, अन्यान रूपी न संसयः ।। १५७ ।।

अन्वयार्थ - (दुर्बुद्धि अन्यानं श्रुतं) अज्ञान भाव सहित शास्त्र लिखना दुर्बुद्धि है [इससे यदि] **(पुन्य उत्पाद्यंते)** पुण्य का उपार्जन करके [जीव] **(मानं)** अहंकार करता है **(मिथ्या मय मूढ दिस्टी च)** वह मूढ़ दृष्टि मिथ्यात्वमय है और उसका समस्त आचरण **(अन्यान रूपी न संसयः)** अज्ञान रूप है इसमें कोई संशय नहीं है।

मानस्य चिंतनं दुर्बुद्धि, बुद्धि हीनो न संसयः ।
अनृतं नृत जानंते, दुर्गति पस्यते ते नरा ।। १५८ ।।

अन्वयार्थ - (मानस्य चिंतनं दुर्बुद्धि) अभिमान अहंकार का चिंतन करने वाला जीव दुर्बुद्धि है **(बुद्धि हीनो न संसयः)** बुद्धिहीन है इसमें कोई संशय नहीं है क्योंकि वह **(अनृतं नृत जानंते)** क्षणभंगुर नाशवान पदार्थों को सत्य जानता है **(दुर्गति पस्यति ते नरा)** वह मनुष्य दुर्गति को प्राप्त करता है।

मानं बंधं च रागं च, अर्थं विचिंतनं नंतयं ।
हिंसानंदी च दोषं च, अनृतं उत्साहं कृतं ।। १५९ ।।

अन्वयार्थ - (मानं बंधं च रागं च) मान का बंधन राग का बंधन है **(अर्थं विचिंतनं नंतयं)** राग के कारण जीव अनेक अर्थों का चिंतन करता है **(अनृतं उत्साहं कृतं)** क्षणभंगुर पदार्थों का उत्साह करता है

[यह] **(हिंसानंदी च दोषं च)** हिंसानंदी रौद्र ध्यान का दोष है।

मानं राग संबंधं, तप दारुनं नंतं श्रुतं ।
अनृतं अचेत सद्भावं, कुन्यानं संसार भाजनं ।। १६० ।।

अन्वयार्थ - (मानं राग संबंधं) मान का राग से सम्बंध है **(तप दारुनं नंतं श्रुतं)** राग पूर्वक जीव मान करता हुआ घोर तप करता है, अनंत शास्त्रों को जानता है **(अनृतं अचेत सद्भावं)** क्षणभंगुर अचैतन्य पदार्थों का सद्‌भाव बनाये रखता है इसलिये **(कुन्यानं संसार भाजनं)** यह कुज्ञान जीव को संसार का पात्र बना देता है।

अनंतानुबंधी माया -

माया अनृत रागं च, असास्वतं जल विंदुवत् ।
धन यौवन अभ्र पटलस्य, माया बंधन किं करोति ।। १६१ ।।

अन्वयार्थ - (माया अनृत रागं च) क्षणभंगुर पदार्थों में राग करने से माया होती है **(असास्वतं जल विंदुवत्)** संसारी संयोग जल की बूंद के समान अशाश्वत हैं **(धन यौवन अभ्र पटलस्य)** धन यौवन बादलों की पटल के समान क्षणभंगुर हैं **(माया बंधन किं करोति)** ऐसी माया का बंधन क्यों करते हो ?

माया असुद्ध परिणामं, असास्वतं संग संगते ।
दुस्ट नस्टं च सद्भावं, माया दुर्गति कारनं ।। १६२ ।।

अन्वयार्थ - (माया असुद्ध परिणामं) माया के परिणाम अशुद्ध परिणाम हैं **(असास्वतं संग संगते)** जो अशाश्वत वस्तुओं की संगति और चाह से होते हैं **(दुस्ट नस्टं च सद्भावं)** यह माया दु:खदाई है और अपने स्वभाव को नष्ट करने वाली है **(माया दुर्गति कारनं)** माया दुर्गति का कारण है।

माया अनंतानं कृत्वा, असत्ये राग रतो सदा ।
मन वचन काय कर्तव्यं, मायानंदी च ते जड़ा ।। १६३ ।।

अन्वयार्थ - (माया अनंतानं कृत्वा) अनंतानुबंधी मायाचारी जीव **(असत्ये राग रतो सदा)** झूठे राग में हमेशा तल्लीन रहता है **(मन वचन काय कर्तव्यं)** मन वचन काय से कपट रूप कार्य करता है **(मायानंदी च ते जड़ा)** इस माया में जो जीव आनंद मानते हैं वे जड़ अर्थात् अज्ञानी हैं।

माया आनंद संजुक्तं, अनृतं अचेत भावना ।
मन वचन काय कर्तव्यं, दुर्बुद्धि विस्वास दारुनं ।। १६४ ।।

अन्वयार्थ - (माया आनंद संजुक्तं) माया में आनंद मानने की भावना से संयुक्त जीव **(अनृतं अचेत भावना)** क्षणभंगुर अचैतन्य पदार्थों की भावना भाते हैं **(मन वचन काय कर्तव्यं)** और मन वचन काय से कपट रूप कार्य करते हैं **(दुर्बुद्धि विस्वास दारुनं)** इस दुर्बुद्धि पर विश्वास करना घोर संसार का कारण है।

माया अचेत पुन्यार्थं, पाप कर्म च विधंते ।
सुद्ध दिस्टि न पस्यंते, मिथ्या माया नरयं पतं ।। १६५ ।।

अन्वयार्थ - (माया अचेत पुन्यार्थं) अचेतन जड़ माया पुण्य के उदय से प्राप्त होती है और **(पाप**

कर्मं च व्रिधंते) इससे पाप कर्मों की वृद्धि होती है **(सुद्ध दिस्टि न पस्यंते)** जीव शुद्ध दृष्टि को नहीं देखता **(मिथ्या माया नरयं पतं)** मिथ्या माया में रत रहता हुआ नरक का पात्र बन जाता है।

अनंतानुबंधी क्रोध –

कोहाग्नि असास्वतं प्रोक्तं, सरीरं मान बंधनं ।
असास्वतं तस्य उत्पाद्यंते, कोहाग्नि धर्म लोपनं ।। १६६ ।।

अन्वयार्थ – (कोहाग्नि असास्वतं प्रोक्तं) क्रोध रूपी अग्नि अशाश्वत कही गई है **(सरीरं मान बंधनं)** इससे शरीर में मान का बंधन बंधता है **(असास्वतं तस्य उत्पाद्यंते)** जिस जीव को क्रोध उत्पन्न होता है उसको अशाश्वत परिणाम उत्पन्न होते हैं **(कोहाग्नि धर्म लोपनं)** क्रोधाग्नि से धर्म का लोप हो जाता है।

एतत् भावनं कृत्वा, अधर्मं तस्य पस्यते ।
रागादि मल संजुक्तं, अधर्मं सो संगीयते ।। १६७ ।।

अन्वयार्थ – (एतत् भावनं कृत्वा) जो जीव इस प्रकार की भावना करता है **(अधर्मं तस्य पस्यते)** उसको अधर्म ही दिखाई देता है **(रागादि मल संजुक्तं)** रागादि विकारी भावों से संयुक्त होना **(अधर्मं सो संगीयते)** ही अधर्म है।

(शेष गाथायें क्रमशः आगामी वर्ष में)

श्री श्रावकाचार - प्रश्नोत्तर

प्रश्न ००१ - ॐ किसे कहते हैं ?

उत्तर - शुद्ध सत्ता, चैतन्य ज्योति, परम ब्रह्म परमात्म स्वरूप को ॐ कहते हैं।

प्रश्न ००२ - ॐकार में क्या समाहित है ?

उत्तर - ॐकार में पंच परमेष्ठी समाहित हैं।

प्रश्न ००३ - शुद्ध सत्ता स्वरूप कैसा है ?

उत्तर - शुद्ध सत्ता स्वरूप लोकालोक को प्रकाशित करने वाला अर्थात् देखने और जानने वाला है।

प्रश्न ००४ - श्रावक किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो श्रद्धावान, विवेकवान और क्रियावान हो उसे श्रावक कहते हैं।

प्रश्न ००५ - श्रद्धावान का क्या अर्थ है ?

उत्तर - व्यवहार से सच्चे देव, गुरु और शास्त्र पर श्रद्धा होना तथा निश्चय से निज शुद्धात्मा की श्रद्धा होना ही श्रद्धावान का अर्थ है।

प्रश्न ००६ - विवेकवान का क्या अर्थ है ?

उत्तर - अपने आत्मकल्याण करने में सावधान रहना विवेकवान का अर्थ है।

प्रश्न ००७ - क्रियावान का क्या अर्थ है ?

उत्तर - अन्याय, अनीति और अभक्ष्य का त्याग करना क्रियावान का अर्थ है।

प्रश्न ००८ - ह्रीं से क्या अर्थ है ?

उत्तर - व्यवहार से ह्रीं अर्थात् केवलज्ञानमयी, सर्वज्ञ स्वभावी परम गुरू तीर्थंकर। निश्चय से केवल ज्ञानमयी सर्वज्ञ स्वरूप निज शुद्धात्मा।

प्रश्न ००९ - सच्चे देव का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते हैं उन्हें सच्चे देव कहते हैं।

प्रश्न ०१० - सच्चे गुरू का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - जो अपने शुद्ध स्वभाव की स्थिरता, लीनता का पुरुषार्थ करते हैं तथा जो स्वयं तरते हैं एवं अन्य जीवों के मार्गदर्शक होते हैं, उन्हें सच्चे गुरु कहते हैं।

प्रश्न ०११ - जिनवाणी या सच्चे शास्त्र का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - केवलज्ञानी तीर्थंकर की दिव्य ध्वनि से जिस सरस्वती का प्रकाश हुआ उसे जिनवाणी कहते है।

प्रश्न ०१२ - श्रीं से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर - श्रीं अर्थात् मोक्षलक्ष्मी स्वरूप निज शुद्धात्मा।

प्रश्न ०१३ - श्री श्रावकाचार जी ग्रंथ में कुल कितनी गाथायें हैं और मंगलाचरण कितनी गाथाओं में किया गया है ?

उत्तर - श्री श्रावकाचार जी ग्रंथ में कुल ४६२ गाथायें हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में १४ गाथाओं में मंगलाचरण किया गया है।

प्रश्न ०१४ - सम्यक्दृष्टि की अंतरंग दशा कैसी होती है ?

उत्तर - सम्यक्दृष्टि संसार को दुःख रूप, नाशवान मानते हैं और उनके अंतरंग में वैराग्य भाव का चिंतन सदैव चलता रहता है।

प्रश्न ०१५ - व्यवहार में संसार का क्या अर्थ है ?

उत्तर - व्यवहार में संसार का अर्थ धन, शरीर और परिवार है। धन के कारण द्वेष, शरीर के कारण राग और परिवार के कारण मोह होता है।

प्रश्न ०१६ - शरीर की रचना कैसी है ?

उत्तर - मक्खी के पंख के समान पतली त्वचा से ढंका यह शरीर हड्डी का ढांचा, मांस और खून से भरे पुतले के समान है जिसमें से दुर्गन्ध युक्त स्वेद, मल, मूत्रादि पदार्थ निकलते रहते हैं।

दिपै चाम चादर मढ़ी, हाड़ पिंजरा देह ।
भीतर या सम जगत में, और नहीं घिन गेह ।।

प्रश्न ०१७ - भोग किसे कहते हैं ?

उत्तर - पाँचों इन्द्रियों के विषय को भोग कहते हैं।

प्रश्न ०१८ - भोग कैसे हैं ?

उत्तर - भोग अतिदुष्ट अर्थात् दुखदायी, अनर्थ करने वाले तथा आत्मा के हित का लोप करने वाले हैं।

प्रश्न ०१९ - पाँच इन्द्रियों के विषय कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - १. कर्ण इन्द्रिय अर्थात् कान से अच्छे मधुर और प्रिय शब्द एवं स्वर सुनना।
२. चक्षु इन्द्रिय अर्थात् आखों से सुंदर मनोहर पदार्थों को देखना।
३. घ्राण इन्द्रिय अर्थात् नाक से सुगंधित गंध-सुगंध का आनंद लेना।
४. रसना इन्द्रिय अर्थात् मुख से स्वादिष्ट प्रिय पदार्थों को खाना तथा बोलना।
५. स्पर्शन इन्द्रिय अर्थात् शरीर से सुंदर वस्तुओं का भोग करना, अच्छे वस्त्र पहनना आदि।
यह इन्द्रियों के विषय कहलाते हैं तथा इनको भोगने की लालसा वासना सदैव मन में बनी रहती है।

प्रश्न ०२० - क्या भोगों से जीव तृप्त हो सकता है ?

उत्तर - जिस प्रकार खाज (खुजली) खुजलाते समय तो अच्छी लगती है परन्तु उसके परिणाम अति दुःख देते हैं, उसी प्रकार इन्द्रिय भोग, भोगते समय तो अच्छे लगते हैं किन्तु उसके परिणाम अत्यंत दुखदायी होते हैं। इन्हें भोगने के उपरांत पुनः भोगने की लालसा जाग्रत हो जाती है। जिस प्रकार समुद्र नदियों से और अग्नि ईंधन से कभी तृप्त नहीं होती उसी प्रकार जीव कभी भी भोगों से तृप्त नहीं हो सकता।

प्रश्न ०२१ - मोहनीय कर्म के कितने भेद हैं ?

उत्तर - मोहनीय कर्म के दो भेद हैं - १. दर्शन मोहनीय २. चारित्र मोहनीय।

प्रश्न ०२२ - दर्शन मोहनीय की कितनी प्रकृतियाँ हैं, नाम लिखिये ?

उत्तर - दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ हैं –
१. मिथ्यात्व २. सम्यक्मिथ्यात्व ३. सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व।

प्रश्न ०२३ - मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर - 'शरीर ही मैं हूँ' ऐसी विपरीत मान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं अथवा तत्त्व के प्रति अश्रद्धान तथा अतत्त्व के प्रति श्रद्धान रूप परिणाम को मिथ्यात्व कहते हैं।

प्रश्न ०२४ - सम्यक्मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर - यह शरीर आदि मेरे हैं ऐसी विपरीत मान्यता को सम्यक्मिथ्यात्व कहते हैं अथवा मिश्र श्रद्धान में निमित्त होने वाले कर्म को सम्यक्मिथ्यात्व कहते हैं।

प्रश्न ०२५ - सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर - शरीरादि का कर्ता मैं हूँ ऐसी मान्यता को सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व कहते हैं अथवा जिसके उदय में सम्यक्त्व का पूर्ण रूप से नाश नहीं होता किन्तु उसमें चल, मल और अगाढ़ दोष लगते हैं उसे सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व कहते हैं।

प्रश्न ०२६ - मिथ्यात्व से आत्मा के कौन से गुण का घात होता है ?

उत्तर - मिथ्यात्व से आत्मा के दर्शन गुण का घात होता है।

प्रश्न ०२७ - जीव संसार में परिभ्रमण क्यों कर रहा है ?

उत्तर - कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र का सेवक बनकर यह जीव क्षणभंगुर शरीरादि संयोगों को अपने मानता है इसलिये संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

प्रश्न ०२८ - संसारी जीव क्या चिंतवन करता है ?

उत्तर - संसारी जीव सदैव अशाश्वत और विनाशीक पदार्थों का चिंतवन करता है एवं संसार शरीर भोगों में रंजायमान रहता है।

प्रश्न ०२९ - सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का क्या उपाय है ?

उत्तर - १. आगम का सेवन, २. युक्ति का अवलंबन, ३. पर और अपर गुरु का उपदेश, ४. स्व संवेदन।

प्रश्न ०३० - कषाय किसे कहते हैं, इसके भेद बताइये ?

उत्तर - जो जीव को कर्मों से बांधे या कसे उसे कषाय कहते हैं। यह चार प्रकार की होती है क्रोध, मान, माया और लोभ।

प्रश्न ०३१ - नौ नो कषाय के नाम लिखिये ?

उत्तर - हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

प्रश्न ०३२ - जीव को कर्मबंध का कारण क्या है ?

उत्तर - जीव को कर्म बंध का कारण कषाय या राग-द्वेष है।

प्रश्न ०३३ - राग के अंतर्गत कौन - कौन सी कषाय आती हैं ?

उत्तर - राग के अन्तर्गत १३ कषाय आती हैं –

१. अनंतानुबंधी माया, २. अनंतानुबंधी लोभ, ३. अप्रत्याख्यानावरण माया,४. अप्रत्याख्यानावरण लोभ, ५. प्रत्याख्यानावरण माया, ६. प्रत्याख्यानावरण लोभ, ७. संज्वलन माया ८. संज्वलन लोभ, ९. हास्य, १०. रति, ११. पुरुषवेद, १२. स्त्रीवेद, १३. नपुंसकवेद।

प्रश्न ०३४ - लोभ कषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर - संग्रह करने की वृत्ति या तृष्णा को लोभ कषाय कहते हैं।

प्रश्न ०३५ - लोभ करने वाले की दृष्टि कहाँ रहती है ?

उत्तर - लोभ करने वाले की दृष्टि सदैव क्षणभंगुर नाशवान पदार्थों पर रहती है।

प्रश्न ०३६ - लोभी जीव कैसा रहता है ?

उत्तर - लोभी जीव सदैव मानसिक रूप से अशांत, चिन्तित, भयभीत और दु:खी रहता है।

प्रश्न ०३७ - लोभी को किस बात का विवेक नहीं होता ?

उत्तर - लोभी को हित-अहित, पाप-पुण्य का कोई विवेक नहीं होता। धन संग्रह करना ही उसका एकमात्र लक्ष्य होता है।

प्रश्न ०३८ - लोभ कषाय किस गुणस्थान तक रहती है ?

उत्तर - लोभ कषाय दसवें गुणस्थान तक रहती है।

प्रश्न ०३९ - क्रोध कषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिसके कारण क्षमा स्वभाव का घात हो उसे क्रोध कषाय कहते हैं। मनचाहा कार्य नहीं होने पर क्रोध उत्पन्न होता है।

प्रश्न ०४० - क्रोधी जीव को किस बात का होश नहीं रहता ?

उत्तर - क्रोधी जीव को हानि-लाभ, भले-बुरे का, छोटे-बड़े का तथा घर-बाहर का होश नहीं रहता।

प्रश्न ०४१ - क्रोध करने से क्या हानि है ?

उत्तर - जब जीव क्रोध की अग्नि में जलता है तो मिथ्यात्व उसमें घी का काम करता है, जिससे क्रोध और बढ़ जाता है, जिससे धर्म रत्न भस्म हो जाता है।

प्रश्न ०४२ - मान कषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर - अहंकार या घमण्ड को मान कषाय कहते हैं।

प्रश्न ०४३ - मान कितने प्रकार का होता है, भेद लिखें ?

उत्तर - मान आठ प्रकार का होता है - १. जातिमद, २. कुलमद, ३. रूपमद, ४. बलमद, ५. धनमद, ६. ज्ञानमद, ७. ऋद्धिमद, ८. शिल्पमद।

प्रश्न ०४४ - मान करने से क्या हानि है ?

उत्तर - मान कषाय में जीव की शरीरादि विनाशीक पदार्थों पर दृष्टि रहती है और सदैव खोटे ही भाव चलते हैं जिससे जीव नरक में जाता है।

प्रश्न ०४५ - मायाचारी किसे कहते है ?

उत्तर - छल, कपट, बेईमानी करने को मायाचारी कहते हैं।

प्रश्न ०४६ - माया कषाय वाला क्या करता है ?

उत्तर - माया कषाय वाला जीव कंचन, कामिनी और कीर्ति के जाल में फंसा रहता है तथा लोक मूढ़ता में फंसकर कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का सेवन करता है।

प्रश्न ०४७ - मायाचारी जीव क्या चाहता है ?

उत्तर - मायाचारी जीव धन और यश चाहता है। मेरा नाम अमर रहे इसके लिये संकल्प-विकल्प करता रहता है।

प्रश्न ०४८ - मूढ़ता कितने प्रकार की होती है ? भेद बताइये।

उत्तर - मूढ़ता तीन प्रकार की होती है -
१. लोक मूढ़ता २. देव मूढ़ता, ३. पाखण्ड मूढ़ता ।

प्रश्न ०४९ - लोक मूढ़ता किसे कहते हैं ?

उत्तर - संसारी लोगों की देखादेखी विवेकरहित आचरण करना लोक मूढ़ता है। धन, यश आदि की कामना से लौकिक रूढ़ियों को मानना। अपने वंश और समाज परम्परागत चली आ रही मान्यताओं रूढ़ियों को बिना विवेक विचार के मानना लोक मूढ़ता है।

प्रश्न ०५० - देव मूढ़ता किसे कहते हैं ?

उत्तर - देव, कुदेव, अदेव आदि का कोई विवेक नहीं करना तथा किसी भी लौकिक कामना, धन, यश, पुत्रादि की भावना से पूजा पाठ, स्तुति, वंदना आदि करना देव मूढ़ता है।

प्रश्न ०५१ - पाखंड मूढ़ता किसे कहते हैं ?

उत्तर - धोखा देने वाले, मायाचारी करने वाले, धनादि ठगने वाले, कषायों में प्रवृत्त पाखंडियों की पूजा वंदना करना पाखंडी मूढ़ता कहलाती है।

प्रश्न ०५२ - पच्चीस मल कौन से हैं ?

उत्तर - शंकादि आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन तथा तीन मूढ़ता इन्हें पच्चीस मल कहते हैं।

प्रश्न ०५३ - शंकादि आठ दोष के नाम लिखिये ?

उत्तर - १. शंका, २. कांक्षा, ३. विचिकित्सा, ४. मूढ़दृष्टि, ५. अनुपगूहन, ६.अस्थितिकरण, ७. अवात्सल्य, ८. अप्रभावना।

प्रश्न ०५४ - छह अनायतन के नाम लिखिये ?

उत्तर - १. कुदेव, २. कुगुरु , ३. कुशास्त्र तथा तीन उनके मानने वाले अर्थात् कुदेव उपासक, कुगुरु उपासक, कुशास्त्र उपासक।

प्रश्न ०५५ - पच्चीस मल के सेवन से क्या हानि है ?

उत्तर - इनके सेवन से संसार में दारुण दु:ख भोगना पड़ते हैं तथा जीव संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

प्रश्न ०५६ - मिथ्या मति रतो जेन, दोसं अनंतानंत का अर्थ बताइये ?

उत्तर - जो जीव मिथ्या मति में रत है वह अनंतानंत दोष, कर्मों का बंध करता है।

प्रश्न ०५७ - मिथ्यात्व को सबसे बड़ा पाप, कर्म बंध का कारण क्यों कहा है ?

उत्तर - मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी चार कषायों का क्षय हुए बिना अपने शुद्धात्म स्वरूप की अनुभूति नहीं होती। जीव मिथ्यात्व के कारण ही पाप करता है। इसलिये मिथ्यात्व को सबसे बड़ा पाप कहा है।

प्रश्न ०५८ - सम्यग्दर्शन क्या होता है ?

उत्तर - आत्म स्वरूप की अनुभूति या ध्रुव स्वभाव का श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन कहलाता है।

प्रश्न ०५९ - सम्यग्दर्शन कब होता है ?

उत्तर - जिस समय सातों प्रकृति अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व एवं चार अनंतानुबंधी कषाय का विच्छेद, क्षय, क्षयोपशम या उपशम होता है उसी समय निज शुद्धात्मानुभूति अर्थात् अपने आत्म स्वभाव का दर्शन हो जाता है। इसको ही सम्यग्दर्शन कहते हैं।

प्रश्न ०६० - सम्यग्दर्शन होने से क्या लाभ है ?

उत्तर - सम्यग्दर्शन अर्थात् निज शुद्धात्मानुभूति होने पर जीव संसार के दु:खों से पराङ्गमुख हो जाता है फिर वह संसार के दु:ख नहीं भोगता, आत्मीय आनंद में मग्न रहता है।

प्रश्न ०६१ - सम्यक्दृष्टि किसकी भक्ति करता है ?

उत्तर - सम्यक्दृष्टि सच्चे देव, गुरु की भक्ति करता है तथा सच्चे धर्म में आचरण करता है।

प्रश्न ०६२ - सम्यक् संयम और सम्यक् तप किसे कहते हैं ?

उत्तर - सम्यग्दर्शन सहित संयम को सम्यक् संयम तथा तप को सम्यक् तप कहते हैं।

प्रश्न ०६३ - षट्कर्म के नाम लिखिये ?

उत्तर - गृहस्थ श्रावक के आवश्यक षट्कर्म या छह कर्तव्य हैं - १. देव आराधना, २. गुरुपासना, ३. शास्त्र स्वाध्याय, ४. संयम, ५. तप, ६. दान।

प्रश्न ०६४ - शुद्ध षट्कर्म किसे होते हैं ?

उत्तर - सम्यक्दृष्टि को ही शुद्ध षट्कर्म होते हैं।

प्रश्न ०६५ - सम्यक्दृष्टि की श्रद्धा में क्या रहता है ?

उत्तर - प्रयोजनीय सात तत्त्वों के स्वरूप के दृढ़ श्रद्धान पूर्वक सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा में एक अखंड अविनाशी ध्रुव स्वभाव रहता है।

प्रश्न ०६६ - शुद्धात्मा कैसा है ?

उत्तर - शुद्धात्मा, परम शुद्ध है, निष्कर्म है, अतीन्द्रिय है, अनंत ज्ञान रूप, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, अनंत सुख से युक्त है, सर्वदर्शी है, निर्विकल्प है, एक है, अखंड है, परमानंदमयी है।

प्रश्न ०६७ - पंडित किसे कहते हैं ?

उत्तर - आठ कर्मों से रहित सिद्ध परमात्मा के समान ध्रुव अविनाशी शाश्वत परम ब्रह्म स्वरूप

आत्मा इस देह देवालय में विराजमान है, ऐसा जानने वाला ही पंडित है।

प्रश्न ०६८ - आत्मा को कितने प्रकार का कहा गया है, भेद बताइये ?

उत्तर - आत्मा को तीन प्रकार का कहा गया है - १. परमात्मा, २. अन्तरात्मा, ३. बहिरात्मा।

प्रश्न ०६९ - आत्मा तो अरस, अरूपी, ज्ञान दर्शन स्वभावी है फिर इसे तीन प्रकार का कैसे कहा गया है ?

उत्तर - स्वभाव अपेक्षा प्रत्येक जीव परमात्म स्वरूप है, स्वभाव अपेक्षा कोई भेद नहीं है। पर्याय की अपेक्षा से आत्मा को तीन प्रकार का कहा गया है क्योंकि जिस समय यह जीव जैसे परिणामों से युक्त होता है उस समय उस गुण सहित या उस रूप होता है।

प्रश्न ०७० - परमात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो जीव अपने शुद्ध स्वभाव में लीन हो जाते हैं। ऐसे घातिया कर्मों से रहित अरिहंत भगवान को और आठ कर्मों से रहित सिद्ध भगवान को परमात्मा कहते हैं।

प्रश्न ०७१ - अन्तरात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो जीव, स्व-पर को पहिचानता है। समस्त जीवों का परिणमन कर्म के उदय अनुसार चल रहा है, ऐसा मानता है तथा जिसे आत्म स्वभाव की अनुभूति हो गई है, वह अंतरात्मा कहलाता है। उसको ही सम्यक्‌दृष्टि ज्ञानी कहते हैं।

प्रश्न ०७२ - बहिरात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर - अनादिकाल से जो जीव मिथ्यात्व सहित होने के कारण स्वयं को भूलकर विपरीत परिणमन में लगा रहता है, उसे बहिरात्मा कहते हैं।

प्रश्न ०७३ - बहिरात्मा किसे देखता है ?

उत्तर - बहिरात्मा सदैव पर पदार्थ अर्थात् शरीर, स्त्री, पुत्र, परिवार, धन, वैभव, आदि को ही देखता है एवं इनको ही बनाने की अनंत कल्पनायें करता है तथा इसके लिये मायाचारी झूठ बेईमानी पाप आदि प्रपंच में संयुक्त रहता है।

प्रश्न ०७४ - कुदेव किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो रागादि दोषों सहित कुज्ञान, कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि से युक्त होते हैं उन्हें कुदेव कहते हैं।

प्रश्न ०७५ - अदेव की मान्यता क्या है ?

उत्तर - लोक मूढ़ता के वशीभूत होकर अचेतन पदार्थों में देवत्व की मान्यता करना अदेव की मान्यता है।

प्रश्न ०७६ - वर्तमान में सच्चे देव तीर्थंकर अरिहंत परमात्मा नहीं हैं अत: किसकी पूजा करें ?

उत्तर - वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी अरिहंत परमात्मा ही सच्चे देव हैं, जो घाति कर्म मलों से रहित परमानंदमयी हैं। इस पंचम काल में प्रत्यक्ष परमात्मा का सानिध्य प्राप्त नहीं है, अत: जिनवाणी की भक्ति आराधना और पंच परमेष्ठी के गुणों का स्मरण करना ही प्रयोजनीय है।

प्रश्न ०७७ - सद्‌गुरु किसे कहते हैं ?

उत्तर - १. जो रत्नत्रय स्वरूप निज शुद्धात्मा की साधना में लीन रहते हैं।

२. जो विषय-कषाय, मोह, राग, द्वेष छोड़कर निज स्वभाव की साधना करते हैं।

३. जिनके मन में संसारी जीवों के प्रति करुणा का भाव रहता है।

४. जो सम्यग्दर्शन, निज शुद्धात्म स्वरूप की महिमा बताते हुए, आत्म स्वभाव में रमणता ही ही सच्चा धर्म है ऐसा उपदेश देते हैं।

५. जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की पूर्णता को प्रगट करने का पुरुषार्थ करते हैं वे सद्‌गुरु कहलाते हैं।

प्रश्न ०७८ - कुगुरु किसे कहते हैं ?

उत्तर - १. जो मिथ्यात्व और राग-द्वेष में सदैव लीन रहते हैं।

२. जो लौकिक कामनाओं की सिद्धि के लिये मंत्र-तंत्र तथा पूजा करने की संसारी जीव को शिक्षा देते हैं।

३. जो धर्म के विपरीत कुज्ञानमयी चर्चा कर मिथ्यात्व का पोषण करते हैं।

४. जो मिथ्या, माया, निदान इन तीन शल्यों में जीव को उलझाते हैं अर्थात् अब क्या होगा, ऐसा न हो जाये, ऐसा करो तो ऐसा हो जायेगा ऐसा अज्ञानता पूर्ण उपदेश देते हैं।

५. जो स्वयं लोकमूढ़ता में रत रहते हैं तथा जीवों को भी लोकमूढ़ता का पोषण करने का उपदेश देते हैं ऐसे पाप विषय-कषाय में फंसाने वाले कुगुरु हैं।

प्रश्न ०७९ - कुगुरु का साथ करने एवं उन्हें मानने में क्या हानि है ?

उत्तर - मूढ़ जीव संसार शरीर भोगों की चाह रखता है जिससे वह कुगुरु के अधर्ममय उपदेश का और उनका विश्वास कर लेता है, उनके बताये अनुसार अनेक प्रकार से कुदेव-अदेवों की पूजा करता है। मूढ़ जीव के मन में यह भय रहता है कि यदि इनकी पूजा नहीं करेंगे तो वे हमारा अनिष्ट कर देंगे। कुगुरु सदैव झूठी-सच्ची कल्पित मूढ़ मान्यताओं की चर्चा तथा राजकथा, चोरकथा, भोजन कथा करके भय और भ्रम पैदा करते हैं तथा मूढ़ जीव इन पर विश्वास करके हमेशा भयभीत रहता है तथा मिथ्यात्व का पोषण कर घोर पाप का बंध करके दुर्गति में चला जाता है।

प्रश्न ०८० - अधर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर - आर्त्त-रौद्र ध्यान में लीन रहना तथा राग-द्वेष मोह आदि में पूर्णतः रत रहने को अधर्म कहते हैं।

प्रश्न ०८१ - अधर्म के कितने लक्षण हैं ?

उत्तर - अधर्म के पाँच लक्षण हैं - १. आर्त्त रौद्र ध्यान, २. चार विकथा, ३. सात व्यसन, ४. आठ मद, ५. चार अनंतानुबंधी कषाय।

प्रश्न ०८२ - आर्त्त ध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर - दु:ख या पीड़ा रूप परिणामों को आर्तध्यान कहते हैं। इसके चार भेद हैं - इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिन्तवन और निदान बंध।

प्रश्न ०८३ - रौद्र ध्यान किसे कहते हैं ?

उत्तर - क्रूर अथवा कठोर परिणामों को रौद्र ध्यान कहते हैं। इसके चार भेद इस प्रकार हैं - हिंसा करने में आनंद मानना - हिंसानंदी। झूठ बोलकर आनंदित होना - मृषानंदी। चोरी करने में आनंद मानना - चौर्यानंदी,और अब्रह्म (कुशील) सेवन में आनंदित होना अब्रह्मानंदी रौद्र ध्यान है।

प्रश्न ०८४ - आर्त्त ध्यान से कौन सी गति का बंध होता है ?

उत्तर - आर्त्त ध्यान से तिर्यञ्च गति का बंध होता है।

प्रश्न ०८५ - रौद्र ध्यान से कौन सी गति का बंध होता है ?

उत्तर - रौद्र ध्यान से नरक गति का बंध होता है।

प्रश्न ०८६ - विकथा किसे कहते हैं, यह कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर - व्यर्थ चर्चा को विकथा कहते हैं। यह चार प्रकार की होती है - १. स्त्रीकथा २. राजकथा ३. चोरकथा ४. भोजन कथा।

प्रश्न ०८७ - विकथा करने वाले के परिणाम कैसे रहते हैं ?

उत्तर - विकथा करने वाले के परिणाम सदैव अशुभ रहते हैं। वह अशुभ भाव करने में ही आनंद मानता है। काम-भोग, रूप-रंग, ममत्व भाव, मायाचारी की चर्चा करता है, श्रृंगार रस की कामभाव बढ़ाने वाली कथाएँ कहता है और विषय कषाय में संलग्न रहता है।

प्रश्न ०८८ - स्त्री कथा करने से क्या हानि है ?

उत्तर - जो जीव स्त्रियों की, काम-भोग की, श्रृंगार रस की कथाओं में रत रहता है तथा उनका बहुत विशेषता से वर्णन करता है, उसे अपने आत्म स्वरूप की, धर्म की कोई सुध नहीं रहती तथा अशुभ भावों में रत रहने के कारण नरक गति में जाता है।

प्रश्न ०८९ - राजकथा करने से क्या हानि है ?

उत्तर - राजकथा करने से राग पैदा होता है, यह ममत्व और अहंकार को बढ़ाती है, मन में हिंसा आदि के रौद्र परिणाम चलते हैं जिससे दुर्गति का बंध होता है।

प्रश्न ०९० - चोरकथा करने से क्या हानि है ?

उत्तर - जब जीव चोरकथा में संलग्न होता है तब उसके भी वैसे ही भाव होने लगते हैं जो अनर्थकारी होते हैं। इन अशुद्ध भावों में ठहरने पर फिर धर्म भाव अर्थात् अपने आत्म स्वरूप का बोध नहीं रहता तथा यह भाव दारुण दु:ख भोगने के कारण बनते हैं।

प्रश्न ०९१ - जिन्होंने अणुव्रत, महाव्रत धारण कर लिये हैं उन्हें चोरी, हिंसादि का पाप लगता है या नहीं ?

उत्तर - जो अणुव्रती श्रावक या महाव्रती साधु हो गये हैं, वे यदि वस्तु स्वरूप जैसा है वैसा कथन

नहीं करते, जिनेन्द्र के वचनों का लोप करते हैं, अपने पद के विपरीत आचरण करते हैं तो उन्हें भी चोरी का पाप लगता है। जो कुदेव-अदेवादि की पूजा, शारीरिक आचरण, व्रत, संयम खान-पान की शुद्धि को धर्म कहते हैं एवं उसी में रत रहते हैं उन्हें धर्म रत्न को लोप करने से हिंसा का पाप लगता है।

प्रश्न ०९२ - व्यसन किसे कहते हैं ?

उत्तर - बुरी आदत या लत को व्यसन कहते हैं। किसी वस्तु का नशा लग जाना, बार-बार उसे करने के भाव होना तथा वैसी क्रिया करना व्यसन कहलाता है।

प्रश्न ०९३ - व्यसन कितने होते हैं ?

उत्तर - व्यसन सात होते हैं - १. जुआं खेलना, २. मांस खाना, ३. शराब पीना, ४. वेश्या गमन, ५. शिकार करना, ६. चोरी करना, ७. परस्त्री रमण करना।

प्रश्न ०९४ - जुआं खेलना व्यसन क्या है ?

उत्तर - लौकिक में ताश, चौपड़ या ऐसे खेल जिसमें धनादि का दांव लगाकर हार-जीत का खेल खेला जाता है उसे जुआं खेलना कहते हैं। क्षणभंगुर असत् पर्याय रूप परिणत होना जुआं है।

प्रश्न ०९५ - जुआं खेलने से क्या हानि है ?

उत्तर - जुआं खेलने वाले की क्रोध, मान, माया और लोभ चारों कषायें तीव्र होती हैं जिससे पाप का बंध होता है।

प्रश्न ०९६ - मांस भक्षण व्यसन क्या है और इसके क्या दोष हैं ?

उत्तर - १. किसी मृत प्राणी के कलेवर को ग्रहण करना मांस भक्षण करना कहलाता है।

२. जहाँ सम्मूर्च्छन जीव रहते हैं ऐसे कंदमूल तथा साक भाजी को खाना मांस खाने के समान है।

३. जिन खाद्य पदार्थों, भोजन, फल व रसादि का स्वाद बिगड़ जावे उसमें सम्मूर्च्छन व त्रस जीव पैदा होने लगते हैं उन्हें खाना मांस खाने के समान है।

४. दो दाल वाली वस्तु दही के साथ खाना, अचार मुरब्बा आदि को खाना या मन से खाने की भावना रखना मांस खाने के समान है।

५. ऐसे साबुत फल जिनमें त्रस जीवों के होने की संभावना हो उन्हें बिना शोधे खाना मांस खाने के समान है।

६. रौद्र ध्यान में तल्लीन रहना निश्चय से मांस भक्षण है।

प्रश्न ०९७ - मांस भक्षण से क्या हानि है ?

उत्तर - मांस खाने वाला जीव रौद्र ध्यानी, कठोर, दुष्ट चित्त वाला होता है तथा मांसाहारी नरक और तिर्यञ्च गति में ही जाता है।

प्रश्न ०९८ - मद्यपान या शराब पीना व्यसन क्या है और इसके क्या दोष हैं ?

उत्तर - १. शराब पीने से मनुष्य बेसुध हो जाता है। उसे अपनी या किसी की खबर नहीं रहती।

२. मैं सबका मालिक हूँ, सब कुछ मेरे अधिकार में है ऐसा ममत्व भाव शराब पीने के समान है।

३. जो मिथ्या और असत्य भावों का सेवन करता है, जिसे उचित-अनुचित का बोध नहीं रहता वह भी शराबी व्यक्ति के समान होता है।

४. जो अपने आत्म स्वरूप का श्रद्धान नहीं करता तथा मिथ्यात्व राग-द्वेषादि भावों में रत रहता है, नाशवान को अविनाशी शाश्वत मानता है वह भी शराबी व्यक्ति के समान होता है।

५. यह शरीरादि ही मैं हूँ ऐसे अज्ञान मोह, ममत्व भाव में जो रत रहता है वह भी शराबी व्यक्ति के समान है।

प्रश्न ०९९ - मद्यपान से क्या हानि है ?

उत्तर - मद्यपान से मनुष्य उन्मत्त होकर अनेक निंदनीय कार्यों को करता है, इसलिये इस लोक में और परलोक में अनंत दु:खों को भोगता है।

प्रश्न १०० - वेश्यागमन व्यसन क्या है ?

उत्तर - १. लौकिक में विषय लम्पटी, कामी मनुष्य अपने घर, परिवार, पत्नी आदि का विचार न करते हुए वेश्या के पास जाते हैं उसे वेश्या गमन कहते हैं।

२. सदैव कुज्ञान में ही आसक्त, लीन रहना है निश्चय से वेश्यागमन करना है।

प्रश्न १०१ - शिकार करना व्यसन क्या है ?

उत्तर - १. दीन-हीन पशु-पक्षियों को धोखे से मारना शिकार कहलाता है।

२. शिकारी सदैव हिंसानंदी रौद्रध्यान में रत रहता है।

३. जो दुष्ट स्वभाव को अच्छा मानता है तथा मन से भी दुष्टता का अर्थात् दूसरों का बुरा विचार करता है और उसी में आनंद मानता है वह भी शिकारी है।

४. जो मन से कुटिल रहता है, वचन से कुटिल मायाचार करता है तथा दूसरों को अपना विश्वास देकर धोखा देता है वह भी शिकारी है।

५. जो जीवों को धर्म के विपरीत अधर्म-कुधर्म में लगाता है तथा मिथ्या कुदेवादि की पूजा में, प्रपंच में फंसा देता है वह भी शिकारी है।

६. जो जीव ऐसे भेषधारी मिथ्यादृष्टि का विश्वास करके उनके जाल में फंस जाते हैं उन्हें दारुण दु:ख भोगना पड़ते हैं।

प्रश्न १०२ - चोरी करने का व्यसन क्या है ?

उत्तर - १. किसी की बिना दी हुई वस्तु लेना चोरी कहलाता है।

२. अर्थ का अनर्थ करना अर्थात् जो बात जैसी है उसका उल्टा अर्थ बताना चोरी है।

३. जिनेन्द्र परमात्मा के कहे वचनों का लोप करना चोरी है।

४. नियम, संयम, व्रत लेकर उसका खंडन करना चोरी है।

प्रश्न १०३ - चोरी करने से क्या हानि है ?

उत्तर - चोरी करना अनर्थ की जड़ है। इससे संसार में दु:ख मिलता है और जीव दुर्गति का पात्र बनता है।

प्रश्न १०४ - परस्त्री रमण व्यसन का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - १. परस्त्री में आसक्त जीव की दुष्ट प्रवृत्ति होती है। वह अशुद्ध भाव सहित सदैव मायाचारी पूर्ण व्यवहार करता है।

२. कामभोग की कथाओं का रुचिपूर्वक वर्णन करना, सुनना भी परस्त्री रमण के समान है।

३. रागभाव सहित चक्रवर्ती, इन्द्र और राजा महाराजा आदि की कथा करना और उनके समान भोग-भोगने की चाह रखना भी परस्त्री रमण कहलाता है।

४. विकथाओं का वर्णन करने वाली, कामभाव पैदा करने वाली पुस्तकें पढ़ने से स्त्रियों में आसक्ति उत्पन्न होती है, जिससे परस्त्री रमण का दोष लगता है।

प्रश्न १०५ - परस्त्री रमण व्यसन से क्या हानि है ?

उत्तर - मन, वचन, काय पूर्वक इन्द्रिय विषयों में रंजायमान होकर, झूठे विषयों में आनंद मानने से नरक गति का बंध होता है और अत्यंत दु:ख भोगना पड़ते हैं।

प्रश्न १०६ - सप्त व्यसन में रमने से क्या हानि है ?

उत्तर - सप्त व्यसन में प्रवृत्ति अधर्म है। इनमें रत रहने वाला जीव दुर्गति का पात्र बनता है।

प्रश्न १०७ - सात व्यसनों से बचने के लिये क्या करना चाहिये ?

उत्तर - जो जीव आत्म कल्याण करना चाहते हैं उन्हें -

१. अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार से विकथाओं और व्यसनों का त्याग करना चाहिये।

२. मनुष्य का बाह्य आचरण और क्रिया, आंतरिक परिणति का द्योतक होती है अत: अंतर और बाह्य दोनों परिणति संभालना चाहिये।

३. पर पर्याय में रमण करना व्यभिचारपना या परस्त्री सेवन कहलाता है अत: अपने आत्म स्वरूप में रमणता का पुरुषार्थ करना चाहिये।

प्रश्न १०८ - जाति मद किसे कहते हैं ?

उत्तर - मातृ पक्ष के कुटुम्बीजनों के धन, बल आदि को अपना मानकर अहंकार करना जाति मद है।

प्रश्न १०९ - जाति मद से क्या हानि है ?

उत्तर - जाति मद मातृ पक्ष से संबंधित अहंकार है, इसमें जीव संयोग, संयोगी पदार्थों का अहंकार करता है, जबकि वे शाश्वत नहीं हैं, फिर भी जीव अज्ञानवश इनका अहंकार करता है इसलिये जाति मद संसार को बढ़ाने वाला है।

प्रश्न ११० - कुल मद किसे कहते हैं ?

उत्तर - पितृ पक्ष के कुटुम्बीजनों दादा, परदादा आदि के धन, बल, ऐश्वर्य आदि को अपना मानकर

अहंकार करना कुल मद कहलाता है।

प्रश्न १११ - कुल मद करने से क्या हानि है ?

उत्तर - कुल मद से जीव संसार का पात्र बनता है, और फिर बड़े कुल में जन्म लेने पर भी यदि कोई मनुष्य अत्यंत मूर्ख हो, जिसे हित-अहित का विचार न हो, परस्त्री गामी हो, चोर हो तो उसका कोई आदर नहीं करता, अत: कुल का मद करना संसार को बढ़ाना ही है।

प्रश्न ११२ - रूपमद किसे कहते हैं ?

उत्तर - स्वस्थ शरीर, सुंदर रूप आदि का अहंकार करना रूपमद कहलाता है।

प्रश्न ११३ - रूपमद से क्या हानि है ?

उत्तर - चमड़ी से ढके इस शरीर के अंदर रक्त, मांस, मल-मूत्र आदि भरा है। तेल, उबटन, स्नान लेप और अच्छे लालन-पालन करने के बाद भी यह नाशवान ही है अत: ऐसे शरीर में रूप का मद करना संसार को बढ़ाने वाला है।

प्रश्न ११४ - अधिकार मद किसे कहते हैं ?

उत्तर - मैं घर में सबसे बड़ा हूँ, मैं समाज का मुखिया हूँ, मैं मंत्री हूँ, मैं जो चाहूँ वह कर सकता हूँ ऐसा मिथ्या अहंकार करना अधिकार मद कहलाता है।

प्रश्न ११५ - अधिकार मद से क्या हानि है ?

उत्तर - यश:कीर्ति नामकर्म की प्रकृति के उदय से पदों की प्राप्ति होती है अत: कर्मोदय में मद करना संसार की वृद्धि करना है।

प्रश्न ११६ - ज्ञान मद किसे कहते हैं ?

उत्तर - शास्त्रों को पढ़ने, चिंतन करने से जो ज्ञान हो जाता है, उससे व्यक्ति स्वयं को चतुर और सबको मूर्ख समझने लगता है, ऐसे क्षायोपशमिक ज्ञान का अहंकार करना ज्ञान मद है।

प्रश्न ११७ - ज्ञान मद से क्या हानि है ?

उत्तर - ज्ञान मद करना एक प्रकार से अपने आत्म स्वभाव का अनादर करना है। जब जीव के पाप कर्म का उदय आता है तो संसार में हम देखते हैं व्यक्ति की सम्पूर्ण स्मृति चली जाती है अत: ऐसे क्षायोपशमिक ज्ञान का मद करना व्यर्थ है।

प्रश्न ११८ - तपमद किसे कहते हैं ?

उत्तर - व्रत, नियम, संयम, तप, उपवास आदि कठोर साधना करना, नाना प्रकार के शारीरिक कष्ट सहना और स्वयं को धर्मात्मा और बड़ा तपस्वी मानना तपमद है।

प्रश्न ११९ - तपमद से क्या हानि है ?

उत्तर - तप मद में जीव स्वयं के समक्ष अन्य को कुछ नहीं समझता, मिथ्यात्व सहित होने के कारण कषायों से युक्त होता है जो बंध का कारण है।

प्रश्न १२० - बलमद किसे कहते हैं ?

उत्तर - शारीरिक रूप से हृष्ट-पुष्ट स्वस्थ होने पर निर्बल लोगों को सताना, सबको अपने से छोटा और हीन समझना बलमद कहलाता है।

प्रश्न १२१ - शिल्प मद किसे कहते हैं ?

उत्तर - मैं कलाकृति आदि के समस्त कार्य सबसे अच्छे कर सकता हूँ, ऐसा अहंकार करना शिल्प मद कहलाता है।

प्रश्न १२२ - मद करने से क्या हानि है ?

उत्तर - मान कषाय के वशीभूत होकर जीव मद करता है। शरीरादि संयोगी पदार्थ नाशवान हैं अस्थायी हैं, इनका ममत्व करके जीव अज्ञानता पूर्वक अहंकार करता है तथा संसार में दुःख भोगता है। इसके विपरीत जो जीव अपने शाश्वत अविनाशी ध्रुव तत्त्व शुद्धात्म स्वरूप का बहुमान करता है वह सुख-दुःख और संसार के जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है।

प्रश्न १२३ - अनंतानुबंधी कषाय किसे कहते हैं, भेद सहित स्पष्ट कीजिये ?

उत्तर - अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम्।
तदनुबन्धिनोऽनंतानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः। (स.सि./८/९/३८६)

अनंत संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन, अनंत कहलाता है तथा जो कषाय उसके अनुबंधी हैं, वे अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ हैं।

जिन अविनष्ट स्वरूप वाले अर्थात् अनादि परम्परागत क्रोध, मान, माया और लोभ के साथ जीव अनन्तभवों में परिभ्रमण करता है उन क्रोध, मान, माया व लोभ कषायों की अनन्तानुबंधी संज्ञा है, यह अर्थ कहा गया है।

प्रश्न १२४ - पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्टपने की वासना कौन सी कषाय है ?

उत्तर - जहाँ पर पदार्थों के प्रति मेरे-तेरेपने की या इष्ट-अनिष्टपने की वासना जीव में देखी जाती है वह अनंतानुबंधी कषाय है, क्योंकि वह जीव का अनंत संसार से बंध कराती है। यह कषाय वासना रूप होती है, व्यक्त रूप नहीं।

प्रश्न १२५ - अनंतानुबंधी कषाय सम्यक्त्वघाती है फिर इसे चारित्रघाती क्यों कहा गया है ?

उत्तर - यह अनंतानुबंधी प्रकृति के उदय से होती है। अभिप्राय की विपरीतता के कारण इसे सम्यक्त्वघाती तथा पर पदार्थों में राग-द्वेष उत्पन्न कराने के कारण चारित्रघाती कहा गया है।

....

अध्याय २

तत्त्वार्थ सूत्र जी :
आचार्य श्री उमास्वामी जी

अ - मोक्षमार्ग, जीव का ज्ञान से संबंध

ब - जीव का भाव और शरीर से संबंध

स - अधोलोक एवं मध्यलोक का वर्णन

द - ऊर्ध्वलोक का वर्णन

इ - अजीव तत्त्व का विवेचन

आचार्य उमास्वामी

ईसापूर्व प्रथम शताब्दी की उपान्त्य-बेला में हुए आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी ने संस्कृत भाषा में तत्त्वार्थ सूत्र नामक कालजयी प्रतिनिधि सूत्रग्रंथ की रचना की थी। इस ग्रन्थ की कालांतर में इतनी महिमा हो गयी कि कहा जाने लगा – ''दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति। फलं स्यादुपवासस्य..........।।'' अर्थात् दस अध्यायोंवाले तत्त्वार्थसूत्र का पठन करने में एक उपवास का सुफल प्राप्त होता है।

सूत्रकार का परिचय – तत्त्वार्थ सूत्र के प्रणेता आचार्य उमास्वामी युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के परम शिष्य थे। इनका दीक्षापूर्व नाम शिवकुमार था। इसका उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द के अन्यतम ग्रन्थ प्रवचनसार की टीका में निम्नानुसार हुआ है –

प्रवचनसार ग्रंथारंभ करने का निमित्त क्या है ? यह स्पष्ट करते हुए जयसेनाचार्य लिखते हैं –

''अथ कश्चिदासन्नभव्यः शिवकुमारनामा स्वसंवित्तिसमुत्पन्न परमानन्दैकलक्षण सुखामृत विपरीत चतुर्गति संसार दुःख भयभीतः समुत्पन्नपरम भेद विज्ञान प्रकाशातिशयः, समस्त दुर्नयैकान्तिनिराकृत दुराग्रहः, परित्यक्त समस्त शत्रु मित्रादि पक्षपातेनात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा धर्मार्थकामेभ्यः सारभूतामत्यंतात्महिताम विनश्वरां पञ्चपरमेष्ठिप्रसादोत्पन्नां मुक्तिश्रियमुपादेयत्वेन स्वीकुर्वाणः श्रीवर्धमानस्वामीतीर्थंकरपरमदेवप्रमुखान् भगवतः पंचपरमेष्ठिनो द्रव्यभावनमस्काराभ्यां प्रणम्य परमचारित्रमाश्रयामीति प्रतिज्ञां करोमीति।।''

अर्थ – अनन्तर शिवकुमार (उमास्वामी) नामक कोई निकट भव्य, जो स्वसंवेदन से उत्पन्न होने वाले परमानन्दमयी एक लक्षण के धारी सुखरूपी अमृत से विपरीत चतुर्गति रूप संसार के दुःखों से भयभीत है, जिसे परमभेदविज्ञान के प्रकाश का माहात्म्य प्रकट हो गया है, जिसने समस्त दुर्नय रूपी एकान्त के दुराग्रह को दूर कर दिया; तथा सर्व शत्रु-मित्र आदि का पक्षपात छोड़कर व अत्यंत मध्यस्थ होकर धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थों की अपेक्षा अत्यंत सार और आत्महितकारी अविनाशी व पञ्च परमेष्ठी के प्रसाद से उत्पन्न होने वाले मोक्षरूपी पुरुषार्थ को अंगीकार करते हुए श्री वर्धमान स्वामी तीर्थंकर परमदेव प्रमुख भगवान पंचपरमेष्ठियों को 'द्रव्य और भाव' नमस्कार कर परम चारित्र का आश्रय ग्रहण करता हूँ – ऐसी प्रतिज्ञा करता हूँ। ऐसे निकट भव्य शिवकुमार (उमास्वामी) को सम्बोधन करने के लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य इस ग्रंथ की रचना करते हैं।

तत्वार्थसूत्र की रचना -

आचार्य गृद्धपिच्छ की एकमात्र रचना तत्त्वार्थ सूत्र है। इस सूत्र ग्रन्थ का प्राचीन नाम तत्त्वार्थ रहा है। तत्वार्थ की तीन टीकाएं प्रसिद्ध हैं, जिनके साथ तत्त्वार्थपद लगा है, पूज्यपाद की तत्त्वार्थवृत्ति, जिसका दूसरा नाम सर्वार्थसिद्धि है। अकलंक का तत्त्वार्थवर्तिक और विद्यानन्द का तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक। अतएव इस ग्रंथ का प्राचीन नाम तत्त्वार्थ ही रहा है। सूत्र शैली में निबद्ध होने से उत्तरकाल में इसका तत्त्वार्थसूत्र नाम प्रचलित हुआ। इस ग्रन्थ की रचना के हेतु का वर्णन करते हुए, तत्त्वार्थ सूत्र के कन्नड़ टीकाकार बालचंद्र ने लिखा है – सौराष्ट्र देश के मध्य उर्जयन्तगिरी के निकट गिरिनगर के पत्तन में आसन्नभव्य स्वहितार्थी द्विजकुलोत्पन्न श्वेताम्बरभक्त सिद्धय्य नामका एक विद्वान श्वेताम्बर शास्त्रों का जानने वाला था। उसने दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः यह सूत्र बनाकर एक पटिये पर लिख दिया था। एक दिन चर्या के लिये गृद्धपिच्छाचार्य मुनि वहाँ आये और उन्होंने सम्यक् पद जोड़ दिया। जब वह विद्वान बाहर से लौटा और उसने पटिये पर सम्यक् शब्द

लगा देखा, तो वह अपनी माता से मुनिराज के आने का समाचार मालूम करके खोजता हुआ उनके पास पहुँचा और पूछने लगा – ''आत्मा का हित क्या है ?'' इसके बाद के प्रश्नोत्तर प्राय: वही सब हैं, जो सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में आचार्य पूज्यपाद ने दिये हैं। प्रभाचन्द्राचार्य ने सर्वार्थसिद्धि पर एक टिप्पण लिखा है और उस टिप्पण में उन अव्याकृत पदों की व्याख्या की है जो सर्वार्थसिद्धि में छूट गये हैं। इस टिप्पण में प्रभाचन्द्र ने प्रश्नकर्ता भव्य का नाम सिद्धय्य ही दिया है, किन्तु कथा नहीं दी है। उक्त कथा में कितना तथ्यांश है, यह कहा नहीं जा सकता। श्रुतसागर सूरि ने तत्त्वार्थवृत्ति के प्रारम्भ में लिखा है कि किसी समय आचार्य उमास्वामी गृद्धपिच्छ आश्रम में बैठे हुए थे। उस समय द्वैपायक नामक भव्य ने वहाँ आकर उनसे प्रश्न किया भगवन् आत्मा के लिये हितकारी क्या है ? भव्य के ऐसा प्रश्न करने पर आचार्य ने मंगलपूर्वक उत्तर दिया, मोक्ष। यह सुनकर द्वैपायक ने पुन: पूछा – उसका स्वरूप क्या है और उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है ? उत्तरस्वरूप आचार्य ने कहा कि यद्यपि प्रवादिजन इसे अन्यथा प्रकार से मानते हैं, कोई श्रद्धानमात्र को मोक्षमार्ग मानते हैं, कोई ज्ञाननिरपेक्ष चारित्र को मोक्षमार्ग मानते हैं। परन्तु जिस प्रकार औषधि के केवल ज्ञान, श्रद्धान या प्रयोग से रोग की निवृत्ति नहीं हो सकती है, उसी प्रकार केवल श्रद्धान, केवल ज्ञान या केवल चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। भव्य ने पूछा – तो फिर किस प्रकार से उसकी प्राप्ति होती है ? इसी के उत्तर स्वरूप आचार्य ने ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग:'' यह सूत्र रचा है और इसके पश्चात् अन्य सूत्रों की रचना हुई है। ऐसी ही उत्थानिका प्राय: तत्त्वार्थवार्त्तिक में भी आयी है।

तत्त्वार्थ सूत्र का महत्व –

इस ग्रन्थ में जिनागम के मूल तत्त्वों को बहुत ही संक्षेप में निबद्ध किया है। इसमें कुल १० अध्याय और ३५७ सूत्र हैं। संस्कृत भाषा में सूत्र शैली में लिखा गया जैन दर्शन का यह पहला सूत्र ग्रन्थ है। इसमें करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का सार समाहित है। इसकी सबसे बड़ी महत्ता यह है कि इसमें सांप्रदायिकता नहीं है। अतएव यह श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों को थोड़े से पाठभेद को छोड़कर समान रूप से प्रिय है। इसकी महत्ता का सबसे बड़ा दूसरा प्रमाण यह है कि दोनों ही सम्प्रदायों के महान आचार्यों ने इस पर टीकाएं लिखी हैं। पूज्यपाद, अकलंक देव और विद्यानंद ने दार्शनिक टीकाएं लिखकर इस ग्रन्थ का महत्व व्यक्त किया है। विद्यानंद जी ने अपनी 'आप्तपरीक्षा' में इसे बहुमूल्य रत्नों का उत्पादक सलिल निधि – समुद्र कहा है। तत्त्वार्थ सूत्र जैन धर्म का सार ग्रन्थ होने से इसके मात्र पाठ या श्रवण का फल एक उपवास बताया गया है, जो उसके महत्व को सूचित करता है। इस ग्रन्थ को जैन परम्परा में अत्यंत श्रद्धास्पद स्थान प्राप्त है। इससे पूर्व प्राकृत भाषा में ही जैन ग्रन्थों की रचना की जाती थी। इसी भाषा में भगवान महावीर स्वामी की देशना हुई थी और इसी भाषा में गौतम गणधर ने अंगों और पूर्वों की रचना की थी। परन्तु जब देश में संस्कृत भाषा का महत्व वृद्धिंगत हुआ और विविध दर्शनों के मन्तव्य सूत्र रूप में निबद्ध किये जाने लगे, तो जैन परम्परा के आचार्यों का ध्यान भी उस ओर आकृष्ट हुआ और उसी के फलस्वरूप तत्त्वार्थसूत्र जैसे महत्वपूर्ण संस्कृत सूत्र ग्रन्थ की रचना हुई। इस तरह जैन वाङ्मय में संस्कृत भाषा के सर्वप्रथम सूत्रकार गृद्धपिच्छ हैं और सबसे पहला संस्कृत सूत्र ग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र है।

मोक्षशास्त्र

प्रस्तावना

तत्त्वार्थ सूत्र कर्त्तारं गृद्ध पिच्छोपलक्षितम् ।
वन्दे गणीन्द्र संजातमुमास्वामी मुनीश्वरम् ।।

- तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता मुनियों में श्रेष्ठ गृद्धपिच्छ की उपाधि से अलंकृत आचार्य उमास्वामी जैन दर्शन में हुए महान आचार्य हैं।
- मोक्षशास्त्र के कर्ता आचार्य श्री उमास्वामी हैं। आप भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य के प्रधान शिष्य थे। श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् उमास्वामी आचार्य पद पर विराजमान हुए थे।
- आचार्य उमास्वामी का समय विक्रम संवत् की प्रथम शताब्दी का अंतिम काल व द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।
- इस ग्रंथ की यह विशेषता है कि जैन आगमों में संस्कृत भाषा में सर्व प्रथम इसी ग्रंथ की रचना हुई।
- आचार्य उमास्वामी का मुख्य लक्ष्य अपने स्वरूप को पहचान कर उसमें गुप्त रहने का था।
- आपकी केवल एक ही रचना प्राप्त होती है-तत्त्वार्थ सूत्र, जो कि समग्र जैन समाज का कंठहार एवं परमोपासक ग्रंथ बना हुआ है।
- कम से कम लिखकर अधिक से अधिक ख्याति प्राप्त करने वाले आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी की इस कृति को पूर्ण आदर एवं प्रामाणिकता प्राप्त है।
- तत्त्वार्थ सूत्र जैन आगम में लिखा गया सर्व प्रथम सूत्र ग्रंथ है।
- ग्रंथ के सभी सूत्र अनमोल हैं और सरलता से याद रखे जा सकते हैं। जैन पाठशालाओं की पाठ्य पुस्तकों में यह एक मुख्य विषय है।
- इस ग्रंथ में आचार्य उमास्वामी ने सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है ऐसा कथन किया है। ग्रंथ में मोक्ष की प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है, इसलिये इस ग्रंथ का नाम मोक्षशास्त्र है तथा इस ग्रंथ में जीव अजीवादि सात तत्त्वों का वर्णन होने से इसे तत्त्वार्थ सूत्र के नाम से भी जाना जाता है।

विषयवस्तु

- तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में मान्य है। इस ग्रंथ में दश अध्याय हैं यह भी दोनों परम्परायें स्वीकार करती हैं। अंतर केवल सूत्रों की संख्या में है।
- दिगम्बर परम्परा के अनुसार दशों अध्यायों की सूत्र संख्या इस प्रकार है -
  ३३+५३+३९+४२+४२+२७+३९+२६+४७+९=३५७ सूत्र
- श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार दशों अध्यायों की सूत्र संख्या इस प्रकार है -
  ३५+५२+१८+५३+४४+२६+३४+२६+४९+७=३४४ सूत्र

(अ) मोक्षमार्ग, जीव का ज्ञान से सम्बंध

मंगलाचरण

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये ।।

अर्थ – मोक्षमार्ग के प्रवर्तक, कर्मरूपी पर्वतों के भेदक अर्थात् नष्ट करने वाले तथा विश्व के (समस्त) तत्त्वों के जानने वाले (आप्त) को उनके गुणों की प्राप्ति हेतु मैं प्रणाम करता हूँ – वन्दना करता हूँ।

१. यहाँ मोक्षमार्ग के प्रवर्तक कहकर हितोपदेशी को स्पष्ट किया है। २. कर्म पर्वतों के भेत्ता कहकर वीतरागता को स्पष्ट किया है। ३. विश्व तत्त्व के ज्ञाता कहकर सर्वज्ञत्व को प्रकाशित किया है।

मंगलाचरण के रूप में लिखे जाने वाले छंद या श्लोकों का उद्देश्य –

१. नास्तिकता का परिहार २. शिष्टाचार का पालन ३. पुण्य की प्राप्ति ४. शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति यदि जीव को सच्चा सुख चाहिये है तो पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही चाहिये। जगत में कौन-कौन से पदार्थ हैं, उनका क्या स्वरूप है, उनका कार्यक्षेत्र क्या है, जीव क्या है, वह क्यों दु:खी होता है, इसकी यथार्थ समझ हो तब ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, इसलिये आचार्य देव ने दस अध्यायों में सात तत्त्वों के द्वारा वस्तु स्वरूप बतलाया है। मोक्षशास्त्र के दस अध्याय में निम्नलिखित विषय लिये गये हैं-

१. अध्याय में – मोक्ष का उपाय और जीव के ज्ञान की अवस्थाओं का वर्णन है।

२. अध्याय में – जीव के भाव, लक्षण और शरीर के साथ जीव के सम्बंध का वर्णन किया गया है।

३-४. अध्याय में – विकारी जीवों के रहने के क्षेत्रों का वर्णन है। इस प्रकार प्रथम चार अध्यायों में पहले जीव तत्त्व का वर्णन किया गया है।

५. अध्याय में – दूसरे अजीव तत्त्व का वर्णन है।

६-७ अध्याय में – जीव के नवीन विकार भाव (आस्रव) तथा उनका निमित्त पाकर जीव का सूक्ष्म जड़ कर्म के साथ होने वाला सम्बंध बताया है। इस प्रकार तीसरे आस्रव तत्त्व का वर्णन किया है।

८. अध्याय में – यह बताया गया है कि जीव का जड़ कर्मों के साथ किस प्रकार बंध होता है और वह जड़ कर्म कितने समय तक जीव के साथ रहते हैं। इस प्रकार इस अध्याय में चौथे बंध तत्त्व का वर्णन किया गया है।

९. अध्याय में – यह बताया गया है कि जीव के अनादिकाल से न होने वाले धर्म का प्रारम्भ संवर से होता है। जीव की यह अवस्था होने पर उसे सच्चे सुख का प्रारम्भ होता है, और क्रमश: शुद्धि के बढ़ने पर विकार दूर होता है, उससे निर्जरा अर्थात् जड़कर्म के साथ के बंध का अंशत: अभाव होता है। इस प्रकार नवमें अध्याय में पाँचवां और छटवां अर्थात् संवर और निर्जरा तत्त्व बताया गया है।

१०. अध्याय में – जीव की शुद्धि की पूर्णता, सर्व दु:खों से मुक्ति और संपूर्ण पवित्रता मोक्ष तत्त्व है, इसलिये आचार्य देव ने सातवाँ मोक्ष तत्त्व दसवें अध्याय में बतलाया है।

प्रथम अध्याय

निश्चय मोक्षमार्ग की व्याख्या –

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।। १।।

अर्थ – **[सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि]** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों मिलकर **[मोक्षमार्गः]** मोक्ष का मार्ग है, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है।

१. **सम्यक्** – यह शब्द प्रशंसावाचक है, जो कि यथार्थता को सूचित करता है। विपरीत आदि दोषों का अभाव 'सम्यक्' है।

दर्शन – का अर्थ है श्रद्धा, ऐसा ही है–अन्यथा नहीं ऐसा प्रतीति–भाव।

सम्यग्ज्ञान – संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित अपने आत्मा का तथा पर का यथार्थज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

संशय – 'विरुद्धानैककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः' अर्थात् ऐसा है कि ऐसा है इस प्रकार परस्पर विरुद्धता पूर्वक दो प्रकार रूप ज्ञान को संशय कहते हैं। जैसे – आत्मा अपने कार्य को कर सकता होगा या जड़ के कार्य को ? शुभ राग रूप व्यवहार से धर्म होगा या वीतरागता रूप निश्चय से ?

विपर्यय – 'विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः' अर्थात् वस्तु स्वरूप से विरुद्धता पूर्वक 'ऐसा ही है' इस प्रकार का एक रूप ज्ञान विपर्यय है। जैसे – शरीर को आत्मा जानना।

अनध्यवसाय – 'किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः' अर्थात् 'कुछ है' ऐसा निर्धार रहित विचार अनध्यवसाय है। जैसे – मैं कोई कुछ हूँ – ऐसा जानना।

[विशेष – जीव और आत्मा दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।]

सम्यक्चारित्र – (यहाँ 'सम्यक्' पद अज्ञानपूर्वक आचरण की निवृत्ति के लिये प्रयुक्त किया है।) सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक आत्मा में स्थिरता का होना सम्यक्चारित्र है। यह तीनों क्रमशः आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुणों की शुद्ध पर्यायें हैं।

मोक्षमार्ग – यह शब्द एकवचन है, जो यह सूचित करता है कि मोक्ष के तीन मार्ग नहीं, किन्तु इन तीनों का एकत्व मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग का अर्थ है अपने आत्मा की शुद्धि का मार्ग।

निश्चय सम्यग्दर्शन का लक्षण –

तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।। २।।

अर्थ – **[तत्त्वार्थश्रद्धानं]** तत्त्व (वस्तु) के स्वरूप सहित अर्थ–जीवादि पदार्थों की श्रद्धा करना **[सम्यग्दर्शनम्]** सम्यग्दर्शन है।

१. तत्त्वों की सच्ची (निश्चय) श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन है। 'अर्थ' का अर्थ है द्रव्य गुण पर्याय और 'तत्त्व' का अर्थ है उसका भावस्वरूप। स्वरूप (भाव) सहित प्रयोजनभूत पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसी सम्बंध में रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है कि –

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ।। ३४।।

अर्थ – तीनों काल और तीनों लोक में जीवों का सम्यग्दर्शन के समान दूसरा कोई कल्याणकारी और मिथ्यात्व

के समान अकल्याणकारी नहीं है।

श्रावक को पहले क्या करना चाहिये, सो कहते हैं –

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं ।
तं जाणे झाइज्जइ सावय! दुक्खक्खयट्ठाए ।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा – ८६)

अर्थ – पहले श्रावक को सुनिर्मल, मेरु के समान निष्कंप अचल (चल, मल और अगाढ़ दूषण से रहित अत्यंत निश्चल) सम्यक्त्व को ग्रहण करके दुःखों के क्षय के लिये उसे (सम्यक्त्व के विषयभूत एकरूप आत्मा को) ध्यान में ध्याना चाहिये।

सम्यक्त्व के ध्यान की महिमा –

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा – ८७)

अर्थ – जो सम्यक्त्व को ध्याता है वह जीव सम्यक्दृष्टि है और सम्यक्त्व रूप परिणत जीव आठों दुष्ट कर्मों का क्षय करता है।

इस बात को संक्षेप में कहते हैं –

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहि जे वि भविया तं जाणइ सम्ममाहप्पं ।।

(मोक्षपाहुड़ गाथा – ८८)

अर्थ – श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव कहते हैं कि – बहुत कहने से क्या साध्य है ? जो नरप्रधान भूतकाल में सिद्ध हुए और भविष्य में सिद्ध होंगे वह सब सम्यक्त्व का ही माहात्म्य जानो।

भावार्थ – सम्यक्त्व की ऐसी महिमा है कि भूतकाल में जो श्रेष्ठ पुरुष आठ कर्मों का नाश करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं तथा भविष्य में होंगे, वे इसी सम्यक्त्व से हुए हैं और होंगे। इसलिये आचार्य देव कहते हैं कि विशेष क्या कहा जाय ? संक्षेप में समझना चाहिये कि मुक्ति का प्रधान कारण यह सम्यक्त्व ही है। ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि गृहस्थों के क्या धर्म होता है ? यह सम्यक्त्व धर्म ऐसा है कि जो सर्व धर्म के अंग को सफल करता है।

सम्यग्दर्शन के भेद – ज्ञानादि की हीनाधिकता होने पर भी तिर्यञ्चादि (पशु आदि) के और केवली तथा सिद्ध भगवान के सम्यग्दर्शन को समान कहा है, उनके आत्म प्रतीति एक ही प्रकार की होती है। किन्तु स्वपर्याय की योग्यता की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के तीन भेद हो जाते हैं – १. औपशमिक सम्यग्दर्शन २. क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ३. क्षायिक सम्यग्दर्शन।

(आधुनिक हिन्दी मोक्षमार्ग – प्रकाशक, अ. ९ पृष्ठ ३२४)

औपशमिक सम्यग्दर्शन – जैसे मैले पानी में मैल नीचे बैठ जाता है अथवा जैसे अग्नि राख से ढंक जाती है। उसी प्रकार मिथ्यात्वकर्म के तथा अनन्तानुबन्धी कषाय के रजकण स्वयं उपशमरूप होते हैं, तब आत्मा के पुरुषार्थ से जो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है वह औपशमिक सम्यग्दर्शन है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन – मिथ्यात्व और मिश्रमिथ्यात्व कर्म के रजकण आत्म प्रदेशों से पृथक होने पर उनका फल नहीं होता और सम्यक् मोहनीय कर्म के रजकण उदय रूप होते हैं, तथा अनन्तानुबन्धी कषाय कर्म के रजकण विसंयोजन रूप होते हैं कर्म की इस अवस्था के निमित्त से जो आत्म श्रद्धान होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

क्षायिक सम्यग्दर्शन – दर्शन मोहनीय की तीन (मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व) और चारित्र मोहनीय की चार (अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ) इस प्रकार सात प्रकृतियों के क्षय से जो आत्म श्रद्धान होता है उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

सराग सम्यग्दृष्टि के प्रशमादि भाव – सम्यग्दृष्टि के राग के साथ सम्बंध होता है तब चार प्रकार के शुभभाव होते हैं – १. प्रशम २. संवेग ३. अनुकम्पा ४. आस्तिक्य।

प्रशम – क्रोध, मान, माया, लोभ सम्बंधी राग-द्वेषादि की मन्दता।

संवेग – संसार अर्थात् विकारी भाव का भय।

अनुकम्पा – स्वयं पर और सर्व प्राणियों पर दया का प्रादुर्भाव।

आस्तिक्य – जीवादि तत्त्वों का जैसा अस्तित्व है वैसा ही आगम और युक्ति से मानना।

सम्यग्दर्शन का विषय (लक्ष्य) तथा स्वरूप –

प्रश्न – सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा को कैसा मानता है ?

उत्तर – सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा को परमार्थतः त्रिकाल शुद्ध, ध्रुव, अखण्ड चैतन्य स्वरूप मानता है।

प्रश्न – उस समय जीव की विकारी अवस्था तो होती है, सो उसका क्या है ?

उत्तर – विकारी अवस्था सम्यग्ज्ञान का विषय है, इसलिये उसे सम्यग्दृष्टि जानता तो है, किन्तु सम्यग्दृष्टि अवस्था (पर्याय - भेद) का आश्रय नहीं रखता, क्योंकि अवस्था के आश्रय से जीव के राग होता है और ध्रुव स्वरूप के आश्रय से शुद्ध पर्याय प्रगट होती है।

निश्चय सम्यग्दर्शन के (उत्पत्ति की अपेक्षा से) भेद –

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।। ३।।

अर्थ – [तत्] वह सम्यग्दर्शन **[निसर्गात्]** स्वभाव से **[वा]** अथवा **[अधिगमात्]** दूसरे के उपदेशादि से उत्पन्न होता है।

१. उत्पत्ति की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं- १. निसर्गज २. अधिगमज।

निसर्गज – जो दूसरे के उपदेशादि के बिना स्वयमेव (पूर्व संस्कार से) उत्पन्न होता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अधिगमज – जो सम्यग्दर्शन पर के उपदेशादि से उत्पन्न होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

तत्त्वों के नाम –

जीवाजीवास्रव बंध संवर निर्जरा मोक्षास्तत्त्वम् ।। ४।।

अर्थ – [जीवाजीवास्रव बंध संवर निर्जरा मोक्षाः] १. जीव, २. अजीव, ३. आस्रव, ४. बंध, ५. संवर, ६. निर्जरा और ७. मोक्ष – यह सात **[तत्त्वम्]** तत्त्व हैं।

सात तत्त्वों को समझने का उदाहरण - नदी में नाव है और नाव में नाविक बैठा है, दूसरे किनारे पर जाती हुई नाव में छेद होने के कारण पानी आने लगा और भरने लगा, तब नाविक ने छेद बंद किये और थोड़ा - थोड़ा पानी फेंकना शुरू किया और पूरा पानी निकाल कर किनारे पहुँच गया। यहाँ नाविक जीव है, नाव अजीव है, नाव में पानी आना आस्रव है, पानी नाव में भर जाना बंध है। छेद बंद कर पानी रोकना संवर है। पानी थोड़ा-थोड़ा निकालना निर्जरा है, और सम्पूर्ण पानी निकाल कर नाव किनारे पहुँच जाना तथा नाविक का गन्तव्य तक पहुँच जाना मोक्ष है इस प्रकार दृष्टान्त से समझना चाहिये।

प्रथम दृष्टिकोण - १. चेतना लक्षण युक्त जीव है। २. अचेतन लक्षण युक्त अजीव है। ३. कर्मों के आने के द्वार को आश्रव कहते हैं। ४. कर्मों का आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप होना बंध है। ५. आस्रव को रोकना संवर है। ६. कर्मों का एक देश झड़ना निर्जरा है। ७. कर्मों का पूर्ण रूपेण झड़ जाना मोक्ष है।

द्वितीय दृष्टिकोण - १. ज्ञान दर्शन युक्त आत्मा को जीव तत्त्व कहते हैं। २. ज्ञान दर्शन से भिन्न पदार्थों को अजीव कहते हैं। ३. मोह, राग-द्वेष आदि भावों के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मों का आना आश्रव है। ४.आत्मा का अज्ञान मोह राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि विकारी भावों में रुक जाना बंध है।

५. ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा के लक्ष्य के बल से स्वरूप स्थिरता के पुरुषार्थ द्वारा शुद्धि की वृद्धि होना निर्जरा है। ६. आत्मा की पूर्ण निर्मल पवित्र दशा प्रगट होना मोक्ष है।

सप्त तत्त्वों में हेय - ज्ञेय - उपादेय -

१. सातों ही तत्त्व जानने योग्य होने से ज्ञेय हैं। २. दु:ख के कारण होने से आश्रव तत्त्व व बंध तत्त्व हेय हैं। ३. मोक्ष का साधनभूत संवर और निर्जरा एक देश उपादेय हैं। ४. निराकुल आनंद स्वरूप होने से मोक्ष उपादेय है। (कहीं-कहीं मोक्ष का लक्ष्य प्राप्ति की अपेक्षा परमोपादेय भी कहा है।) ५. जानने मात्र होने से अजीव मात्र ज्ञेय है। ६. जीव तत्व, आश्रयभूत तत्व होने से परमोपादेय है।

इस तरह 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' की बात सिद्ध होती है।

निश्चय सम्यग्दर्शनादि शब्दों के अर्थ समझने की रीति -

नामस्थापना द्रव्य भावतस्तन्न्यासः।। ५।।

अर्थ - [नामस्थापना द्रव्य भावतः] नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव से **[तत्न्यासः]** उन सात तत्त्वों तथा सम्यग्दर्शनादि का लोक व्यवहार होता है।

१. वक्ता के मुख से निकले हुए शब्द की अपेक्षा को लेकर भिन्न - भिन्न अर्थ होते हैं, उन अर्थों में व्यभिचार (दोष) न आये और सच्चा अर्थ कैसे हो यह बताने के लिये यह सूत्र कहा है।

२. इन अर्थों के सामान्य भेद चार किये गये हैं। पदार्थों के भेद को न्यास अथवा निक्षेप कहा जाता है। [प्रमाण और नय के अनुसार प्रचलित हुए लोकव्यवहार को निक्षेप कहते हैं।] ज्ञेय पदार्थ अखण्ड है, तथापि उसे जानने पर ज्ञेय - पदार्थ के जो भेद (अंश, पहलू) किये जाते हैं उसे निक्षेप कहते हैं और उस अंश को जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। निक्षेप नय का विषय है, और नय निक्षेप का विषयी (विषय करने वाला) है।

निक्षेप भेदों की व्याख्या -

नाम निक्षेप - गुण जाति या क्रिया की अपेक्षा किये बिना किसी का यथेष्ठ नाम रख लेना सो नाम निक्षेप है।

जैसे – किसी का नाम 'जिनदत्त' रखा, किन्तु वह जिनदेव के द्वारा दिया हुआ नहीं है, तथापि लोक व्यवहार (पहचानने) के लिये उसका 'जिनदत्त' नाम रखा गया है। एकमात्र वस्तु की पहिचान के लिये उसकी जो संज्ञा रख ली जाती है उसे नाम निक्षेप कहते हैं।

स्थापना निक्षेप – किसी अनुपस्थित (अविद्यमान) वस्तु का किसी दूसरी उपस्थित वस्तु में सम्बंध या मनोभावना को जोड़कर आरोप कर देना कि 'यह वही है' सो ऐसी भावना को स्थापना कहा जाता है। स्थापना दो प्रकार की होती है – तदाकार और अतदाकार। जिस पदार्थ का जैसा आकार हो वैसा आकार उसकी स्थापना में करना सो 'तदाकार स्थापना' है और चाहे जैसा आकार कर लेना सो 'अतदाकार स्थापना' है। सदृशता को स्थापना निक्षेप का कारण नहीं मान लेना चाहिये, उसका कारण तो केवल मनोभावना ही है। जन समुदाय की यह मानसिक भावना जहाँ होती है वहाँ निक्षेप समझना चाहिये।

स्थापना निक्षेप और द्रव्य निक्षेप में भेद – " In sthapana the connotation is merely attributed. It is never there. It can not be there. in dravya it will be there or has been there, The common factor between the two is that it is not there now, and to that extent connotation is fictitious in both" (English tatvarth Sutram, page-11)

अर्थ – स्थापना निक्षेप में – बताना मात्र आरोपित है, उसमें वह (मूल वस्तु) कदापि नहीं है, वह वहाँ कदापि नहीं हो सकती और **द्रव्य निक्षेप में** वह (मूल वस्तु) भविष्य में प्रगट होगी अथवा भूतकाल में थी। दोनों के बीच समानता इतनी है कि वर्तमान काल में वह दोनों में विद्यमान नहीं है, और उतने अंश में दोनों में अभेद है। [तत्त्वार्थ सूत्र अंग्रेजी टीका पृष्ठ ११]

द्रव्य निक्षेप – भूत और भविष्यत् पर्याय की मुख्यता को लेकर उसे वर्तमान में कहना – जानना सो द्रव्य निक्षेप है। जैसे – श्रेणिक राजा भविष्य में तीर्थंकर होंगे, उन्हें वर्तमान में तीर्थंकर कहना – जानना और भूतकाल में हो गये भगवान महावीरादि तीर्थंकरों को वर्तमान तीर्थंकर मानकर स्तुति करना, सो द्रव्य निक्षेप है।

भाव निक्षेप – केवल वर्तमान पर्याय की मुख्यता से जो पदार्थ वर्तमान में जिस दशा में है उसे उस रूप कहना – जानना सो भाव निक्षेप है। जैसे – सीमंधर भगवान वर्तमान तीर्थंकर के रूप में महाविदेह में विराजमान हैं, उन्हें तीर्थंकर कहना – जानना और भगवान महावीर वर्तमान में सिद्ध हैं, उन्हें सिद्ध कहना – जानना सो भाव निक्षेप है। (निक्षेप का विशेष स्पष्टीकरण इस पुस्तक के अंतिम पृष्ठों में पढें।)

जहाँ 'सम्यग्दर्शनादि' या 'जीवाजीवादि' शब्दों का प्रयोग किया गया हो वहाँ कौन सा निक्षेप लागू होता है, सो निश्चय करके जीव को सच्चा अर्थ समझ लेना चाहिये । सूत्र १ में 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि' तथा मोक्षमार्ग: यह शब्द तथा सूत्र २ में सम्यग्दर्शन यह शब्द भाव निपेक्ष से कहा ऐसा समझना चाहिये।

निश्चय सम्यग्दर्शनादि का उपाय –

प्रमाणनयैरधिगमः।। ६।।

अर्थ – सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वों का [**अधिगमः**] ज्ञान [**प्रमाणनयैः**] प्रमाण और नयों से होता है।

१. प्रमाण – सच्चे ज्ञान को अर्थात् सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। अनन्तगुणों या धर्म का समुदाय रूप अपना तथा पर वस्तु का स्वरूप प्रमाण द्वारा जाना जाता है। प्रमाण वस्तु के सर्वदेश को (सर्व पहलुओं को) ग्रहण

करता है, जानता है।

नय – प्रमाण द्वारा निश्चित हुई वस्तु के एकदेश को जो ज्ञान ग्रहण करता है उसे नय कहते हैं। जो प्रमाण द्वारा निश्चित हुए अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक-एक अंग का ज्ञान मुख्यता से कराता है वह नय है। वस्तुओं में अनन्त धर्म हैं, इसलिये उनके अवयव अनन्त तक हो सकते हैं, और इसलिये अवयव के ज्ञान रूप नय भी अनन्त तक हो सकते हैं। श्रुत प्रमाण के विकल्प, भेद या अंश को नय कहते हैं।

प्रमाण के प्रकार – **परोक्ष** – जो उपात्त (प्राप्त अर्थात् इन्द्रिय, मन इत्यादि) और अनुपात्त (अप्राप्त अर्थात् प्रकाश, उपदेश इत्यादि) पर पदार्थों द्वारा प्रवर्ते वह परोक्ष प्रमाण है।

प्रत्यक्ष – जो केवल आत्मा से ही प्रतिनिश्चततया प्रवृत्ति करे उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। प्रमाण सच्चा ज्ञान है। उसके पाँच भेद हैं – मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान। इनमें से मति और श्रुत मुख्यतया परोक्ष हैं, अवधि और मन:पर्यय विकल (आंशिक एकदेश) प्रत्यक्ष हैं तथा केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

नय के भेद – नय के दो भेद है – द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इनमें से जो द्रव्य पर्याय स्वरूप वस्तु में द्रव्य का मुख्यतया अनुभव करावे वह द्रव्यार्थिकनय है, और जो पर्याय का मुख्यतया अनुभव करावे वह पर्यायार्थिक नय है।

द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय के दूसरे नाम –

द्रव्यार्थिक नय को – निश्चय, शुद्ध, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, स्वावलम्बी, स्वाश्रित, स्वतंत्र, स्वाभाविक, त्रैकालिक, ध्रुव, अभेद और स्वलक्षी नय कहा जाता है।

पर्यायार्थिक नय को – व्यवहार, अशुद्ध, असत्यार्थ, अपरमार्थ, अभूतार्थ, परावलम्बी, पराश्रित, परतंत्र, निमित्ताधीन, क्षणिक, उत्पन्नध्वंसी, भेद और परलक्षी नय कहा जाता है।

सम्यक्दृष्टि के दूसरे नाम – सम्यग्दृष्टि को, द्रव्य दृष्टि, शुद्ध दृष्टि, धर्म दृष्टि, निश्चय दृष्टि, परमार्थ दृष्टि और अंतरात्मा आदि नाम दिये गये हैं।

मिथ्यादृष्टि के दूसरे नाम – मिथ्यादृष्टि, पर्यायबुद्धि, संयोगी बुद्धि, पर्यायमूढ़, व्यवहारदृष्टि, व्यवहारमूढ़, संसारदृष्टि, परावलम्बी बुद्धि, पराश्रित दृष्टि और बहिरात्मा आदि नाम दिये गये हैं।

निश्चय सम्यग्दर्शनादि जानने के अमुख्य (अप्रधान) उपाय –

निर्देश स्वामित्व साधनाधिकरण स्थिति विधानत:।। ७।।

अर्थ – **[निर्देश स्वामित्व साधन अधिकरण स्थिति विधानत:]** निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से भी सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादिक तत्त्वों का अधिगम होता है।

१. **निर्देश** – वस्तु स्वरूप के कथन को निर्देश कहते हैं।

२. **स्वामित्व** – वस्तु के अधिकारीपन को स्वामित्व कहते हैं।

३. **साधन** – वस्तु की उत्पत्ति के कारण को साधन कहते हैं।

४. **अधिकरण** – वस्तु के आधार को अधिकरण कहते हैं।

५. **स्थिति** – वस्तु के काल की मर्यादा को स्थिति कहते हैं।

६. **विधान** – वस्तु के भेदों को विधान कहते हैं।

और भी अन्य अमुख्य उपाय –

सत्संख्या क्षेत्रस्पर्शन कालान्तर भावाल्प बहुत्वैश्च ।। ८ ।।

अर्थ – **[च]** और **[सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर भावाल्पबहुत्वैश्च]** सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगों के द्वारा भी पदार्थ का ज्ञान होता है।

सत् – वस्तु के अस्तित्व को सत् कहते हैं।

संख्या – वस्तु के परिणामों की गणना को संख्या कहते हैं।

क्षेत्र – वस्तु के वर्तमानकालीन निवास को क्षेत्र कहते हैं।

स्पर्शन – वस्तु के त्रिकालवर्ती निवास को स्पर्शन कहते हैं।

काल – वस्तु के स्थिर रहने की मर्यादा को काल कहते हैं।

अन्तर – वस्तु के विरहकाल को अन्तर कहते हैं।

भाव – गुण को अथवा औपशमिक, क्षायिक आदि पाँच भावों को भाव कहते हैं।

अल्प बहुत्व – अन्य पदार्थ की अपेक्षा से वस्तु की हीनता–अधिकता के वर्णन को अल्पबहुत्व कहते हैं।

अनुयोग – भगवान प्रणीत उपदेश विषय के अनुसार भिन्न–भिन्न अधिकार में कहा गया है, प्रत्येक अधिकार का नाम अनुयोग है। सम्यग्ज्ञान का उपदेश देने के लिये प्रवृत्त हुए अधिकार को अनुयोग कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान के भेद –

मतिश्रुतावधिमनःपर्यय केवलानि ज्ञानम् ।। ९ ।।

अर्थ – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच **[ज्ञानम्]** ज्ञान हैं।

मतिज्ञान – पाँच इन्द्रिय और मन के द्वारा (अपनी शक्ति प्रमाण) जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं।

श्रुतज्ञान – मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से जानना श्रुतज्ञान है।

अवधिज्ञान – जो द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की मर्यादा सहित इन्द्रिय या मन के निमित्त के बिना रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्ययज्ञान – जो द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की मर्यादा सहित इन्द्रिय अथवा मन की सहायता के बिना ही दूसरे पुरुष के मन में स्थित रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

केवलज्ञान – समस्त द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायों को एक साथ प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है। सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है। सम्यग्ज्ञान आत्मा के ज्ञानगुण की शुद्ध पर्याय है। यह आत्मा से कोई भिन्न वस्तु नहीं है।

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप निम्न प्रकार है – **'सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थव्यवसायात्मकं विदुः।'**

(तत्त्वार्थ सार पूर्वार्द्ध गाथा १८ पृष्ठ १४)

अर्थ – जिस ज्ञान में स्व = अपना स्वरूप, अर्थ = विषय, व्यवसाय = यथार्थ निश्चय, ये तीन बातें पूरी हों उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं अर्थात् जिस ज्ञान में विषय प्रतिबोधक साथ – साथ स्वस्वरूप प्रतिभासित हो और वह भी यथार्थ हो तो उस ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

कौन से ज्ञान प्रमाण हैं ?

तत्प्रमाणे।। १०।।

अर्थ – [**तत्**] उपरोक्त पाँचों प्रकार के ज्ञान ही [**प्रमाणे**] प्रमाण अर्थात् सच्चे ज्ञान हैं।

परोक्ष प्रमाण के भेद –

आद्ये परोक्षम् ।। ११।।

अर्थ – [**आद्ये**] प्रारम्भ के दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान [**परोक्षम्**] परोक्ष प्रमाण हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद –

प्रत्यक्षमन्यत्।। १२।।

अर्थ – [**अन्यत्**] शेष तीन अर्थात् अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान [**प्रत्यक्षम्**] प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्यय विकल प्रत्यक्ष हैं तथा केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। [प्रत्यक्ष = प्रति+अक्ष] 'अक्ष' का अर्थ आत्मा है। आत्मा के प्रति जिसका नियम हो अर्थात् जो परनिमित्त – इन्द्रिय, मन, आलोक (प्रकाश), उपदेश आदि से रहित आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हो, जिसमें दूसरा कोई निमित्त न हो, ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

मतिज्ञान के दूसरे नाम –

मतिःस्मृतिःसंज्ञाचिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरम्।। १३।।

अर्थ – [**मतिः**] मति [**स्मृतिः**] स्मृति [**संज्ञा**] संज्ञा [**चिंता**] चिन्ता [**अभिनिबोध**] अभिनिबोध [**इति**] इत्यादि [**अनर्थांतरम्**] अन्य पदार्थ नहीं हैं अर्थात् वे मतिज्ञान के नामांतर हैं।

मननं: मतिः। स्मरणं स्मृतिः। संज्ञानं संज्ञा।
चिंतनं चिंता। अभिनिबोधिनं अभिनिबोधः।।

मति – मन अथवा इन्द्रियों से, वर्तमानकालवर्ती पदार्थ को अवग्रहादिरूप साक्षात् जानना मति है।

स्मृति – पहले जाने हुए या अनुभव किये हुए पदार्थ का वर्तमान में स्मरण आना स्मृति है।

संज्ञा – इसका दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञान है। वर्तमान में किसी पदार्थ को देखने पर 'यह वही पदार्थ है जो पहले देखा था' इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष के जोड़ रूप ज्ञान को संज्ञा कहते हैं।

चिंता – चिंतवन अर्थात् किसी चिन्ह को देखकर 'यहाँ उस चिन्ह वाला अवश्य होना चाहिये' इस प्रकार का विचार चिन्ता है। इस ज्ञान को ऊह, ऊहा, तर्क अथवा व्याप्तिज्ञान भी कहते हैं।

अभिनिबोध – स्वार्थानुमान, अनुमान, इसके दूसरे नाम हैं। सन्मुख चिन्हादि देखकर उस चिन्ह वाले पदार्थ का निर्णय करना सो 'अभिनिबोध' है।

यद्यपि इन सबमें अर्थभेद है तथापि प्रसिद्ध रूढ़ि के बल से मति के नामांतर कहलाते हैं। उन सबके प्रगट होने में मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम निमित्त मात्र है, यह लक्ष्य में रखकर उसे मतिज्ञान के नामांतर कहते हैं। स्वसंवेदन, बुद्धि, मेधा, प्रतिभा, प्रज्ञा, इत्यादि भी मतिज्ञान के भेद हैं –

स्वसंवेदन – सुखादि अंतरंग विषयों का ज्ञान स्वसंवेदन है।

बुद्धि – बोधनमात्रत्व बुद्धि है। बुद्धि, प्रतिभा, प्रज्ञा आदि मतिज्ञान की तारतम्यता (हीनाधिकता) सूचक ज्ञान के भेद हैं।

मतिज्ञान उत्पत्ति के समय निमित्त –

तदिन्द्रियानिन्द्रिय निमित्तम्।। १४।।

अर्थ – [इन्द्रियानिन्द्रिय] इन्द्रियाँ और मन **[तत्]** उस मतिज्ञान के **[निमित्तम्]** निमित्त हैं।

इन्द्रियाँ – आत्मा, (इन्द्र = आत्मा) परम ऐश्वर्यरूप प्रवर्तमान है, इस प्रकार अनुमान कराने वाला शरीर का चिन्ह।

नो इन्द्रिय – मन, जो सूक्ष्म पुद्‌गल स्कन्ध मनोवर्गणा के नाम से पहिचाने जाते हैं उनसे बने हुए शरीर का आंतरिक अङ्ग जो कि अष्टदल कमल के आकार का हृदय स्थान में है।

मतिज्ञान के होने में इन्द्रिय – मन निमित्त होता है, ऐसा जो इस सूत्र में कहा है, वह पर द्रव्यों के होने वाले ज्ञान की अपेक्षा से कहा है – ऐसा समझना चाहिये। भीतर स्वलक्ष में मन – इन्द्रिय निमित्त नहीं है। जब जीव मन और इन्द्रिय के अवलम्बन से अंशतः पृथक होता है तब स्वतंत्र तत्त्व का ज्ञान प्रगट होता है।

मतिज्ञान के क्रम के भेद –

अवग्रहेहावाय धारणाः ।। १५।।

अर्थ – [अवग्रह ईहा अवाय धारणाः] अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा यह मतिज्ञान के चार भेद हैं।

अवग्रह – चेतना में जो थोड़ा विशेषाकार भासित होने लगता है उस ज्ञान को 'अवग्रह' कहते हैं। विषय और विषयी (विषय करने वाले) के योग्य स्थान में आ जाने के बाद होने वाला आद्यग्रहण अवग्रह है। स्व और पर दोनों का (जिस समय जो विषय हो उसका पहिले अवग्रह होता है।) (Perception)

ईहा – अवग्रह के द्वारा जाने गये पदार्थ को विशेष रूप से जानने की चेष्टा (आकांक्षा) को ईहा कहते हैं। ईहा का विशेष वर्णन ग्यारहवें सूत्र में नीचे दिया गया है। (Conception)

अवाय – विशेष चिह्न देखने से पदार्थ का निश्चय हो जाना अवाय है। (Judgment)

धारणा – अवाय से निर्णीत पदार्थ को कालान्तर में न भूलना धारणा है। (Comprehension)

अवग्रहादि के विषयभूत पदार्थ –

बहुबहुविध क्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां।। १६ ।।

अर्थ – [बहु] बहुत **[बहुविध]** बहुत प्रकार **[क्षिप्र]** जल्दी **[अनिःसृत]** अनिःसृत **[अनुक्त]** अनुक्त **[ध्रुवाणां]** ध्रुव **[सेतराणां]** उनसे उल्टे भेदों से युक्त अर्थात् एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और अध्रुव इस प्रकार बारह प्रकार के पदार्थों का अवग्रह ईहादि रूप ज्ञान होता है।

बहु – एक साथ बहुत से पदार्थों का अथवा बहुत से समूहों का अवग्रहादि होना [जैसे – लोगों के झुण्ड का अथवा गेहूँ के ढेर का] बहुत से पदार्थों का ज्ञानगोचर होना।

एक – अल्प अथवा एक पदार्थ का ज्ञान होना [जैसे – एक मनुष्य का अथवा पानी के प्याले का] थोड़े पदार्थों का ज्ञानगोचर होना।

बहुविध – कई प्रकार के पदार्थों का अवग्रहादि ज्ञान होना (जैसे – कुत्ते के साथ का मनुष्य अथवा गेहूँ, चना, चावल इत्यादि अनेक प्रकार के पदार्थ) युगपत् बहुत प्रकार के पदार्थों का ज्ञानगोचर होना।

एकविध – एक प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होना (जैसे – एक प्रकार के गेहूँ का ज्ञान)।

क्षिप्र – शीघ्रता से पदार्थ का ज्ञान होना।

अक्षिप्र – किसी पदार्थ को धीरे –धीरे बहुत समय में जानना अर्थात् चिरग्रहण।

अनि:सृत – एक भाग के ज्ञान से सर्वभाग का ज्ञान होना (जैसे – पानी के बाहर निकली हुई सूंड को देखकर पानी में डूबे हुए पूरे हाथी का ज्ञान होना) एक भाग के अव्यक्त रहने पर भी ज्ञानगोचर होना।

नि:सृत – बाहर निकले हुए प्रगट पदार्थ का ज्ञान होना, पूर्ण व्यक्त पदार्थ का ज्ञानगोचर होना।

अनुक्त – (अकथित) जिस वस्तु का वर्णन नहीं किया उसे जानना। जिसका वर्णन नहीं सुना है फिर भी उस पदार्थ का ज्ञानगोचर होना।

उक्त – कथित पदार्थ का ज्ञान होना। वर्णन सुनने के बाद पदार्थ का ज्ञानगोचर होना।

ध्रुव – बहुत समय तक ज्ञान का जैसा का तैसा बना रहना, अर्थात् दृढ़ता वाला ज्ञान।

अध्रुव – प्रतिक्षण हीनाधिक होने वाला ज्ञान अर्थात् अस्थिर ज्ञान।

इस सूत्र के अनुसार मतिज्ञान के भेदों की संख्या निम्न प्रकार है – अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा = ४, पाँच इन्द्रिय और मन = ६।

उपरोक्त छह प्रकार के द्वारा चार प्रकार से ज्ञान (४ गुणित ६)=२४ तथा विषयों की अपेक्षा से बहु बहुविध आदि बारह = (२४ गुणित १२) = २८८ भेद हैं।

उपरोक्त अवग्रहादि के विषयभूत पदार्थ भेद किसके हैं ?

अर्थस्य।। १७ ।।

अर्थ – उपरोक्त बारह अथवा २८८ भेद **[अर्थस्य]** पदार्थ के (द्रव्य के वस्तु के) हैं। यह व्यक्त पदार्थ के भेद कहे हैं ।

अवग्रह ज्ञान में विशेषता –

व्यंजनस्यावग्रह:।। १८ ।।

अर्थ – **[व्यंजनस्य]** अप्रगट रूप शब्दादि पदार्थों का **[अवग्रह:]** मात्र अवग्रह ज्ञान होता है, ईहादि तीन ज्ञान नहीं होते।

अवग्रह के दो भेद हैं – १. व्यंजनावग्रह २. अर्थावग्रह ।

व्यंजनावग्रह – अव्यक्त अप्रगट पदार्थ के अवग्रह को व्यंजनावग्रह कहते हैं।

अर्थावग्रह – व्यक्त प्रगट पदार्थ के अवग्रह को अर्थावग्रह कहते हैं।

अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह के दृष्टांत –

१. पुस्तक का शरीर की चमड़ी से स्पर्श हुआ तब (उस वस्तु का ज्ञान प्रारम्भ होने पर भी) कुछ समय तक वह ज्ञान अपने को प्रगट रूप नहीं होता, इसलिये जीव को उस पुस्तक का ज्ञान अव्यक्त अप्रगट होने से उस ज्ञान को व्यंजनावग्रह कहा जाता है।

२. पुस्तक पर दृष्टि पड़ने पर पहिले जो ज्ञान प्रगट रूप होता है, वह व्यक्त अथवा प्रगट पदार्थ का अवग्रह (अर्थावग्रह) कहलाता है।

व्यंजनावग्रह चक्षु और मन के अतिरिक्त चार इन्द्रियों द्वारा होता है, व्यंजनावग्रह के बाद ज्ञान प्रगट रूप होता है, उसे अर्थावग्रह कहते हैं। चक्षु और मन के द्वारा अर्थावग्रह होता है।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्।। १९।।

अर्थ – व्यंजनावग्रह **[चक्षुः अनिन्द्रियाभ्याम्]** नेत्र और मन से **[न]** नहीं होता।

मतिज्ञान के २८८ भेद सोलहवें सूत्र में कहे गये हैं और व्यंजनावग्रह चार इन्द्रियों के द्वारा होता है, इसलिये उसके बहु, बहुविध आदि बारह भेद होने पर अड़तालीस भेद हो जाते हैं। इस प्रकार मतिज्ञान के ३३६ प्रभेद होते हैं।

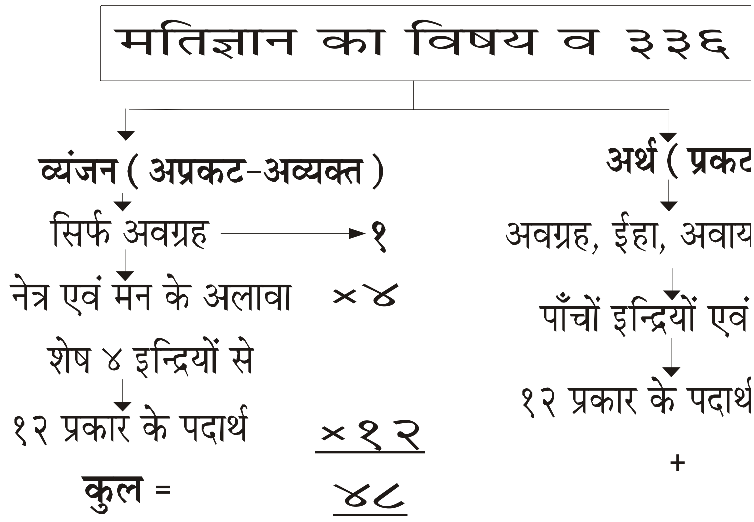

श्रुतज्ञान का वर्णन, उत्पत्ति का क्रम तथा उसके भेद

श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम् ।। २०।।

अर्थ – [श्रुतम्] श्रुतज्ञान **[मतिपूर्वं]** मतिज्ञान पूर्वक होता है अर्थात् मतिज्ञान के बाद होता है, वह श्रुतज्ञान **[द्वयनेकद्वादशभेदम्]** दो, अनेक और बारह भेद वाला है।

१. सम्यग्ज्ञान का विषय चल रहा है, [सूत्र ९ के अनुसार] इसलिये यह सम्यक् श्रुतज्ञान से सम्बंध रखने वाला सूत्र है – ऐसा समझना चाहिये। मिथ्या श्रुतज्ञान के सम्बंध में ३१ वां सूत्र कहा है।

२. **श्रुतज्ञान** – मतिज्ञान से ग्रहण किये गये पदार्थ से, उससे भिन्न पदार्थ ग्रहण करने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है।
जैसे – १– सद्गुरु का उपदेश सुनकर आत्मा का यथार्थ ज्ञान होना। इसमें उपदेश सुनना मतिज्ञान है और फिर विचार करके आत्मा का भान प्रगट करना श्रुतज्ञान है।

२– शब्द से घटादि पदार्थों को जानना। इसमें घट शब्द का सुनना मतिज्ञान है और उससे घट पदार्थ का ज्ञान होना श्रुतज्ञान है।

३– धुएं से अग्नि का ग्रहण करना। इसमें धुएं को आँख से देखकर जो ज्ञान हुआ सो मतिज्ञान है और धुएं से अग्नि का अनुमान करना सो श्रुतज्ञान है।

४– एक मनुष्य ने 'जहाज' शब्द सुना यह मतिज्ञान है। पहले जहाज के गुण सुने अथवा पढ़े थे; तत्संबंधी ('जहाज' शब्द सुनकर) जो विचार करता है सो श्रुतज्ञान है।

अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य

अंग प्रविष्ट के बारह भेद हैं – १. आचारांग २. सूत्रकृतांग ३. स्थानांग ४. समवायांग ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग ६. ज्ञातृधर्म कथांग ७. उपासकाध्ययनांग ८. अंत:कृतदशांग ९. अनुत्तरौपपादिकांग १०. प्रश्न व्याकरणांग ११. विपाकसूत्रांग और १२. दृष्टिप्रवादांग।

अंगबाह्य श्रुत में – चौदह प्रकीर्णक होते हैं। इन बारह अंग और चौदह पूर्व की रचना, जिस दिन तीर्थंकर भगवान की दिव्य ध्वनि खिरती है तब भावश्रुत रूप पर्याय से परिणत गणधर भगवान एक ही मुहूर्त में क्रम से करते हैं।

यह सब शास्त्र निमित्त मात्र हैं, भावश्रुतज्ञान में उसका अनुसरण करके तारतम्य होता है, ऐसा समझना चाहिये।

अवधिज्ञान का वर्णन –

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ।। २१ ।।

अर्थ – [भवप्रत्यय:] भवप्रत्यय नामक **[अवधि:]** अवधिज्ञान **[देवनारकाणाम्]** देव और नारकियों के होता है।

१. अवधिज्ञान के दो भेद हैं – १. भवप्रत्यय, २. गुणप्रत्यय। प्रत्यय, कारण और निमित्त तीनों एकार्थ वाचक शब्द हैं। यहाँ भवप्रत्यय शब्द बाह्य निमित्त की अपेक्षा से कहा है, अंतरंग निमित्त तो प्रत्येक प्रकार का अवधिज्ञान होने में तत्संबंधी अवधिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है।

२. देव और नारक पर्याय के धारण करने पर जीव को जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है वह भवप्रत्यय कहलाता है। जैसे पक्षियों में जन्म का होना ही आकाश में गमन का निमित्त होता है, न कि शिक्षा, उपदेश, जप–तप इत्यादि। इसी प्रकार नारकी और देव की पर्याय में उत्पत्ति मात्र से अवधिज्ञान प्राप्त होता है। [यहां सम्यग्ज्ञान का विषय है, फिर भी सम्यक् या मिथ्या का भेद किये बिना सामान्य अवधिज्ञान के लिये 'भवप्रत्यय' शब्द दिया गया है।]

३. भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव, नारकी तथा तीर्थंकरों के (गृहस्थदशा में) होता है, वह नियम से देशावधि होता है। वह समस्त प्रदेश से उत्पन्न होता है।

४. 'गुणप्रत्यय' – किसी विशेष पर्याय (भव) की अपेक्षा न करके जीव के पुरुषार्थ द्वारा जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है वह गुणप्रत्यय अथवा क्षयोपशमनिमित्तक कहलाता है।

क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान के भेद तथा उनके स्वामी –

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्।। २२।।

अर्थ – [क्षयोपशमनिमित्त:] क्षयोपशम नैमित्तिक अवधिज्ञान **[षड्विकल्प:]** अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित ऐसे छह भेदवाला है और वह **[शेषाणाम्]** मनुष्य तथा तिर्यञ्चों के होता है।

१. **अनुगामी** – जो अवधिज्ञान सूर्य के प्रकाश की भांति जीव के साथ ही साथ जाता है उसे अनुगामी कहते हैं।

अननुगामी – जो अवधिज्ञान जीव के साथ ही साथ नहीं जाता उसे अननुगामी कहते हैं।
वर्धमान – जो अवधिज्ञान शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की कला की भांति बढ़ता रहे उसे वर्धमान कहते हैं।
हीयमान – जो अवधिज्ञान कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा की कला की तरह घटता रहे उसे हीयमान कहते हैं।
अवस्थित – जो अवधिज्ञान एक सा रहे, न घटे न बढ़े, उसे अवस्थित कहते हैं।
अनवस्थित – जो पानी की तरंगों की भांति घटता बढ़ता रहे, एक सा न रहे उसे अनवस्थित कहते हैं।
२. यह अवधिज्ञान मनुष्यों को होता है ऐसा कहा गया है, इसमें तीर्थंकरों को नहीं लेना चाहिये, उनके अतिरिक्त अन्य मनुष्यों को समझना चाहिये, वह भी बहुत थोड़े से मनुष्यों को होता है। इस अवधिज्ञान को 'गुणप्रत्यय' भी कहा जाता है। वह नाभि के ऊपर शंख, पद्म, वज्र, कलश, मछली आदि शुभ चिह्नों के द्वारा होता है।
३. अवधिज्ञान के प्रतिपाति, अप्रतिपाति, देशावधि, परमावधि और सर्वावधि भेद भी हैं।
४. जघन्य – देशावधि संयत तथा असंयत मनुष्यों और तिर्यञ्चों के होता है। (देव नारकी को नहीं होता) उत्कृष्ट देशावधि संयत भाव मुनि को ही होता है – अन्य तीर्थंकरादि गृहस्थ–मनुष्य, देव, नारकी को नहीं होता उनके देशावधि होता है।
५. देशावधि उपरोक्त (पैरा १ में कहे गये) छह प्रकार तथा प्रतिपाति और अप्रतिपाति ऐसे आठ प्रकार का होता है। परमावधि–अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित और अप्रतिपाति होता है।
६. अवधिज्ञान रूपी–पुद्‌गल तथा उस पुद्‌गल के सम्बंध वाले संसारी जीव (के विकारी भाव) को प्रत्यक्ष जानता है।

मन:पर्यय ज्ञान के भेद –

ऋजुविपुलमती मन:पर्यय:।। २३।।

अर्थ – [मन:पर्यय:] मन:पर्यय ज्ञान **[ऋजु विपुलमति:]** ऋजुमति और विपुलमति दो प्रकार का है।
१. मन:पर्यय ज्ञान की व्याख्या नववें सूत्र की टीका में की गई है।
ऋजुमति – मन में चिंतित पदार्थ को जानता है, अचिंतित पदार्थ को नहीं और वह भी सरल रूप से चिंतित पदार्थ को जानता है।
विपुलमति – चिंतित और अचिंतित पदार्थ को तथा वक्रचिंतित और अवक्रचिंतित पदार्थ को भी जानता है।

मन:पर्यय ज्ञान विशिष्ट संयमधारी के होता है [श्री धवला पुस्तक ६, पृष्ठ २८–२९] 'विपुल' का अर्थ विस्तीर्ण–विशाल गंभीर होता है। [उसमें कुटिल, असरल, विषम, सरल इत्यादि गर्भित हैं] विपुलमति ज्ञान में ऋजु और वक्र (सरल और पेचीदा) सर्व प्रकार के रूपी पदार्थों का ज्ञान होता है। अपने तथा दूसरों के जीवन–मरण, सुख–दु.ख, लाभ–अलाभ, इत्यादि का भी ज्ञान होता है।

ऋजुमति और विपुलमति में अंतर –

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेष:।। २४।।

अर्थ – [विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां] परिणामों की विशुद्धि और अप्रतिपात अर्थात् केवलज्ञान होने से पूर्व न छूटना **[तद्विशेष:]** इन दो बातों से ऋजुमति और विपुलमति ज्ञान में विशेषता (अंतर) है।

ऋजुमति और विपुलमति यह दो मन:पर्यय ज्ञान के भेद सूत्र २३ की टीका में दिये गये हैं। इस सूत्र में स्पष्ट बताया गया है कि विपुलमति विशुद्ध शुद्ध है और वह कभी नहीं छूट सकता, वह केवलज्ञान होने तक बना रहता है। ऋजुमति ज्ञान होकर छूट भी जाता है। यह भेद चारित्र की तीव्रता के भेद के कारण होते हैं। संयम परिणाम का घटना-उसकी हानि होना प्रतिपात है, जो कि किसी ऋजुमति वाले के होता है।

अवधिज्ञान और मन:पर्यय ज्ञान में विशेषता -

विशुद्धि क्षेत्र स्वामि विषयेभ्योऽवधिमनः पर्यययोः ।। २५।।

अर्थ - [अवधिमन:पर्यययोः] अवधि और मन:पर्यय ज्ञान में **[विशुद्धि क्षेत्र स्वामि विषयेभ्यः]** विशुद्धता, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा विशेषता होती है।

मन:पर्यय उत्तम ऋद्धिधारी भावलिंगी-मुनियों के ही होता है और अवधिज्ञान चारों गतियों के सैनी जीवों के होता है, यह स्वामी की अपेक्षा से भेद है। उत्कृष्ट अवधिज्ञान का क्षेत्र असंख्यात लोक-प्रमाण तक है और मन:पर्ययज्ञान का ढाई द्वीप मनुष्य क्षेत्र है। स्वामी तथा विषय के भेद से विशुद्धि में अंतर जाना जा सकता है, अवधिज्ञान का विषय परमाणु पर्यन्त रूपी पदार्थ है और मन:पर्यय का विषय मनोगत विकल्प है। अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है। मन:पर्ययज्ञान उसके अनन्तवें भाग को विषय बनाता है अर्थात् जानता है।

मति-श्रुतज्ञान का विषय -

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।। २६।।

अर्थ - [मतिश्रुतयोः] मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का **[निबंधः]** विषय-सम्बंध **[असर्वपर्यायेषु]** कुछ (न कि सर्व) पर्यायों से युक्त **[द्रव्येषु]** जीव पुद्गलादि सर्व द्रव्यों में हैं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सभी रूपी-अरूपी द्रव्यों को जानते हैं, किन्तु उनकी सभी पर्यायों को नहीं जानते, उनका विषय-सम्बंध सभी द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायों के साथ होता है।

अवधिज्ञान का विषय -

रूपिष्ववधेः।। २७।।

अर्थ - [अवधेः] अवधिज्ञान का विषय-सम्बंध **[रूपिषु]** रूपी द्रव्यों में है अर्थात् अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को जानता है। जिसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श होता है वह पुद्गल द्रव्य है, पुद्गल द्रव्य से सम्बंध रखने वाले संसारी जीव को भी इस ज्ञान के हेतु के लिये रूपी कहा जाता है।

मन:पर्ययज्ञान का विषय -

तदनन्तभागे मन:पर्ययस्य।। २८।।

अर्थ - [तत् अनन्तभागे] सर्वावधिज्ञान के विषयभूत रूपी द्रव्य के अनन्तवें भाग में **[मन:पर्ययस्य]** मन:पर्ययज्ञान का विषय-सम्बंध है।

परमावधि ज्ञान के विषयभूत जो पुद्गल स्कंध हैं उनका अनन्तवां भाग करने पर जो एक परमाणु मात्र होता है वह सर्वावधि का विषय है, उसका अनन्तवां भाग ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान का विषय है और उसका अनन्तवां भाग विपुलमति मन:पर्ययज्ञान का विषय है।

केवलज्ञान का विषय –

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।। २९ ।।

अर्थ – [केवलस्य] केवलज्ञान का विषय-सम्बंध **[सर्वद्रव्य-पर्यायेषु]** सर्व द्रव्य और उनकी सर्व पर्याय हैं अर्थात् केवलज्ञान एक ही साथ सभी पदार्थों को और उनकी सभी पर्यायों को जानता है।

केवलज्ञान – असहाय ज्ञान अर्थात् यह ज्ञान इन्द्रिय, मन या आलोक की अपेक्षा से रहित है। वह त्रिकालगोचर अनंत-अनंत पर्यायों को प्राप्त अनंत वस्तुओं को जानता है। वह असंकुचित, प्रतिपक्षी रहित और अमर्यादित है।

एक जीव के एक साथ कितने ज्ञान हो सकते हैं ?

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः।। ३० ।।

अर्थ – [एकस्मिन्] एक जीव में **[युगपत्]** एक साथ **[एकादीनि]** एक से लेकर **[आचतुर्भ्यः]** चार ज्ञान तक **[भाज्यानि]** विभक्त करने योग्य हैं, अर्थात् हो सकते हैं।

१. एक जीव के एक साथ एक से लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं। यदि एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है, दो हों तो मति और श्रुत होते हैं, तीन हों तो मति श्रुत और अवधि अथवा मति श्रुत और मनःपर्ययज्ञान होते हैं, चार हों तो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान होते हैं। एक साथ पाँच ज्ञान किसी के नहीं होते और एक ही ज्ञान एक समय में उपयोग रूप होता है, केवलज्ञान के प्रगट होने पर वह सदा के लिये बना रहता है। दूसरे ज्ञानों का उपयोग अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त होता है, उससे अधिक नहीं होता, उसके बाद ज्ञान के उपयोग का विषय बदल ही जाता है। केवली के अतिरिक्त सभी संसारी जीवों के कम से कम दो अर्थात् मति और श्रुतज्ञान अवश्य होते हैं।

२. क्षायोपशमिक ज्ञान क्रमवर्ती है, एक काल में एक ही प्रवर्तित होता है, किन्तु यहाँ जो चार ज्ञान एक ही साथ कहे हैं सो चार का विकास एक ही समय होने से चार ज्ञानों की जानने रूप लब्धि एक काल में होती है, यही कहने का तात्पर्य है। उपयोग तो एक काल में एक ही रूप होता है।

मति, श्रुत और अवधिज्ञान में मिथ्यात्व –

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च।। ३१ ।।

अर्थ – [मतिश्रुतावधयः] मति, श्रुत और अवधि यह तीन ज्ञान **[विपर्ययाः]** विपर्यय भी होते हैं।

१. उपरोक्त पाँचों ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं, किन्तु मति श्रुत और अवधि यह तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान भी होते हैं। उस मिथ्याज्ञान को कुमतिज्ञान कुश्रुतज्ञान तथा कुअवधि (विभंगावधि) ज्ञान कहते हैं। अभी तक सम्यग्ज्ञान का अधिकार चला आ रहा है, अब इस सूत्र में – 'च' शब्द से यह सूचित किया है कि यह तीन ज्ञान सम्यक् भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं।

२. अनादि मिथ्यादृष्टि के कुमति और कुश्रुत होते हैं तथा उसके देव और नारकी के भव में कुअवधि भी होता है। जहाँ-जहाँ मिथ्यादर्शन होता है वहाँ-वहाँ मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अविनाभावी रूप से होता है ।

प्रश्न – जैसे सम्यग्दृष्टि जीव नेत्रादि इन्द्रियों से रूपादि को सुमति से जानता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी

कुमतिज्ञान से उन्हें जानता है तथा जैसे सम्यग्दृष्टि जीव श्रुतज्ञान से उन्हें जानता है तथा कथन करता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी कुश्रुतज्ञान से जानता है और कथन करता है तथा जैसे सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञान से रूपी वस्तुओं को जानता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि कुअवधिज्ञान से जानता है; तब फिर मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को मिथ्याज्ञान क्यों कहते हो ?

उत्तर – आगामी सूत्र में दिया गया है –

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्।। ३२।।

अर्थ – [यदृच्छोपलब्धेः] अपनी इच्छा से चाहे जैसा [whims] ग्रहण करने के कारण **[सत् असतोः]** विद्यमान और अविद्यमान पदार्थों का **[अविशेषात्]** भेद रूप ज्ञान (यथार्थ विवेक) न होने से **[उन्मत्तवत्]** पागल के ज्ञान की भांति मिथ्यादृष्टि का ज्ञान विपरीत अर्थात् मिथ्याज्ञान ही होता है।

१. मिथ्यादृष्टि जीव सत् और असत् के बीच का भेद (विवेक) नहीं जानता, इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्येक भव्य जीव को पहले सत् क्या है और असत् क्या है इसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके मिथ्याज्ञान को दूर करना चाहिये।

२. जहाँ सत् और असत् के भेद का अज्ञान होता है वहाँ नासमझ पूर्वक जीव जैसा अपने को ठीक लगता है वैसा पागल पुरुष की भांति अथवा शराब पिये हुए मनुष्य की भांति मिथ्या कल्पनायें ही किया करता है। इसलिये यह समझाया है कि सुख के सच्चे अभिलाषी जीव को सच्ची समझपूर्वक मिथ्या कल्पनाओं का नाश करना चाहिये।

प्रमाण का स्वरूप कहा गया, अब श्रुतज्ञान के अंशरूप नय का स्वरूप कहते हैं –

नैगमसंग्रह व्यवहारर्जु सूत्र शब्द समभिरूढैवंभूतानयाः।। ३३।।

अर्थ – [नैगम] नैगम **[संग्रह]** संग्रह **[व्यवहार]** व्यवहार **[ऋजुसूत्र]** ऋजुसूत्र **[शब्द]** शब्द **[समभिरूढ]** समभिरूढ़ **[एवंभूता]** एवंभूत यह सात **[नयाः]** नय [viewpoints] हैं।

नय – वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक की मुख्यता करके अन्य धर्मों का विरोध किये बिना उन्हें गौण करके साध्य को जो जानता है वह नय है।

प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म रहते हैं इसलिये वह अनेकान्त स्वरूप है। ['अन्त का अर्थ धर्म' होता है] अनेकान्त स्वरूप समझाने की पद्धति को 'स्याद्वाद' कहते हैं। स्याद्वाद द्योतक है, अनेकान्त द्योत्य है। स्यात् का अर्थ 'कथंचित्' होता है, अर्थात् किसी यथार्थ प्रकार की विवक्षा का कथन स्याद्वाद है।

अनेकान्त का प्रकाश करने के लिये 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। हेतु और विषय की सामर्थ्य की अपेक्षा से प्रमाण से निरूपण किये गये अर्थ के एक देश को कहना नय है। उसे 'सम्यक् एकान्त' भी कहते हैं।

श्रुतप्रमाण दो प्रकार का है–स्वार्थ और परार्थ। उस श्रुत प्रमाण का अंश नय है। शास्त्र का भाव समझने के लिये नय समझना आवश्यक है, सात नयों का स्वरूप निम्न प्रकार है –

(नय सम्बंधी चार्ट अगले पृष्ठ पर......)

नय

- **द्रव्यार्थिक** (जो द्रव्य को ग्रहण करे)
  - **नैगम** (संकल्प ग्रहण करना)
  - **संग्रह** (जाति के विरोध बिना समस्त पदार्थों को इकट्‌ठा ग्रहण करना)
  - **व्यवह** (विधिपूर्वक के भेद को ग्रह
- **ऋजुसूत्र** (वर्तमान पर्याय मात्र का ग्रहण
- **शब्द** (लिंग आदि के भेद से पदार्थ रूप ग्रहण)
- **समभिरूढ़** (पर्यायवाची शब्दे कर पदार्थ का ग्र

१. नैगमनय – जो भूतकाल की पर्याय में वर्तमानवत् संकल्प करे अथवा भविष्य की पर्याय में वर्तमानवत् संकल्प करे तथा वर्तमान पर्याय में कुछ निष्पन्न (प्रगट रूप) है और कुछ निष्पन्न नहीं है उसका निष्पन्नरूप संकल्प करे, उस ज्ञान को तथा वचन को नैगमनय कहते हैं।

२. संग्रहनय – जो समस्त वस्तुओं को तथा समस्त पर्यायों को संग्रह रूप करके जानता है तथा कहता है वह संग्रहनय है। जैसे सत् द्रव्य, इत्यादि।

३. व्यवहारनय – अनेक प्रकार के भेद करके व्यवहार करे या भेदे वह व्यवहारनय है। जो संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थ को विधि पूर्वक भेद करे वह व्यवहार है। जैसे सत् के दो प्रकार हैं – द्रव्य और गुण। द्रव्य के छह भेद हैं– जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। गुण के दो भेद हैं – सामान्य और विशेष। इस प्रकार जहाँ तक भेद हो सकते हैं वहाँ तक यह नय प्रवृत्त होता है।

४. ऋजुसूत्रनय – [ऋजु अर्थात् वर्तमान, उपस्थित, सरल] जो ज्ञान का अंश वर्तमान पर्यायमात्र को ग्रहण करे वह ऋजुसूत्रनय है।

५. शब्दनय – जो नय लिंग, संख्या, कारक आदि के व्यभिचार को दूर करता है वह शब्द नय है। यह नय लिंगादि के भेद से पदार्थ को भेद रूप ग्रहण करता है । जैसे – दार (पु.), भार्या (स्त्री.), कलत्र (न.), यह दार, भार्या और कलत्र तीनों शब्द भिन्न लिंग वाले होने से यद्यपि एक ही पदार्थ के वाचक हैं तथापि यह नय स्त्री पदार्थ को लिंग भेद से तीन भेद रूप जानता है।

६. समभिरूढ़नय – १. जो भिन्न-भिन्न अर्थों का उल्लंघन करके एक अर्थ को रूढ़ि से ग्रहण करे। जैसे – गाय। २. जो पर्याय के भेद से अर्थ को भेद रूप ग्रहण करे। जैसे इन्द्र, शक्र, पुरंदर यह तीनों शब्द इन्द्र के नाम हैं, किन्तु यह नय तीनों का भिन्न-भिन्न अर्थ करता है।

७. एवंभूतनय – जिस शब्द का जिस क्रिया रूप अर्थ है उस क्रिया रूप परिणमित होने वाले पदार्थ को जो नय ग्रहण करता है उसे एवंभूतनय कहते हैं। जैसे – पुजारी को पूजा करते समय ही पुजारी कहना।
पहले तीन भेद द्रव्यार्थिक नय के हैं। उसे सामान्य, उत्सर्ग अथवा अनुवृत्ति नाम से भी कहा जाता है। बाद के चार भेद पर्यायार्थिक नय के हैं। उसे विशेष, अपवाद अथवा व्यावृत्ति नाम से कहते हैं।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न ०१ - तत्त्वार्थ सूत्र कौन सी भाषा में और कब लिखा गया है ?

उत्तर - तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ संस्कृत भाषा में विक्रम संवत् दूसरी शताब्दी के कुछ समय बाद लिखा गया है।

प्रश्न ०२ - मंगलाचरण क्यों किया जाता है ?

उत्तर - नास्तिकता का परिहार, शिष्टाचार का पालन, पुण्य की प्राप्ति व शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति के लिये मंगलाचरण किया जाता है।

प्रश्न ०३ - मंगलाचरण में तीर्थंकर भगवान को किस प्रकार नमस्कार किया है स्पष्ट कीजिये ?

उत्तर - तीर्थंकर केवलज्ञानी भगवान को मंगलाचरण में तीन विशेषताओं सहित नमस्कार किया गया है। मोक्षमार्गस्य नेतारं का अर्थ मोक्षमार्ग के नेता अर्थात् मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं इसलिये हितोपदेशी हैं। भेत्तारं कर्म भूभृताम् का अर्थ है कि उन्होंने कर्मरूपी पर्वतों को नष्ट कर दिया है इसलिये वीतरागी हैं, और ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां का अर्थ है विश्व के समस्त तत्त्वों को जानने वाले होने से सर्वज्ञ हैं।

प्रश्न ०४ - तत्त्वार्थ सूत्र की कुल सूत्र संख्या बताकर, सात तत्त्वों का दस अध्याय में विभाजन स्पष्ट कीजिये ?

उत्तर - तत्त्वार्थ सूत्र की कुल सूत्र संख्या ३५७ है तथा विषय वस्तु इस प्रकार है – एक से चार अध्याय तक जीव तत्त्व, पाँचवें में अजीव तत्त्व, छटवें व सातवें में आस्रव तत्त्व, आठवें में बंध तत्त्व, नववें में संवर निर्जरा तत्त्व और दसवें में मोक्ष तत्त्व का वर्णन किया गया है।

प्रश्न ०५ - रत्नत्रय और तत्त्वों को जानने के कितने उपाय हैं ?

उत्तर - रत्नत्रय और तत्त्वों को जानने के उपाय – दो (प्रमाण, नय) चार (नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव निक्षेप) छह (निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान) और आठ (सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भाव, अल्पबहुत्व) उपाय हैं। (इनका स्वरूप जानने के लिये सूत्र ५, ६, ७, ८ देखें।)

प्रश्न ०६ - एक जीव को एक साथ अधिक से अधिक और कम से कम कितने ज्ञान होते हैं ?

उत्तर - एक जीव को एक साथ दो हों तो मति और श्रुतज्ञान। तीन हों तो मति, श्रुत और अवधिज्ञान अथवा मति, श्रुत और मन:पर्ययज्ञान। अधिक से अधिक चार मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय ज्ञान और कम से कम एक – केवलज्ञान होता है।

प्रश्न ०७ - मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम कौन-से हैं ?

उत्तर - मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम – मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध हैं।

प्रश्न ०८ - अवधिज्ञान के भेद लिखकर गुण प्रत्यय अवधिज्ञान के भेद एवं स्वामी बताइये ?

उत्तर - अवधिज्ञान के दो भेद हैं – भव प्रत्यय और गुण प्रत्यय। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छह भेद हैं – अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित, अनवस्थित। यह मनुष्य और तिर्यञ्चों को होता है। (परिभाषा सूत्र २२ में देखें।)

प्रश्न ०९ - मतिज्ञान के ३३६ भेद किस प्रकार हैं ?

उत्तर - मतिज्ञान पाँच इन्द्रिय और मन के निमित्त से अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप चार प्रकार से बहु वहुविध आदि बारह प्रकार के पदार्थों का होता है। इस प्रकार पाँच इन्द्रिय और मन = ६, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा = ४।

उपरोक्त छह प्रकार के द्वारा चार भेद रूप मतिज्ञान होता है। इसके (६ × ४ = २४) २४ भेद हुए। यह चार प्रकार का मतिज्ञान बहु वहुविध आदि बारह प्रकार के पदार्थों का होता है। अत: २४ × १२ = २८८ भेद हुए। मतिज्ञान के अंतर्गत अवग्रह के दो भेद हैं – अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह।

उपरोक्त २८८ भेद अर्थावग्रह व्यक्त प्रकट पदार्थों के सम्बंध के हुए। व्यंजनावग्रह अव्यक्त अप्रकट पदार्थों का होता है। सूत्र १९ के अनुसार व्यंजनावग्रह नेत्र और मन से नहीं होता, शेष चार इन्द्रियों से होता है, बहु बहुविहि आदि १२ प्रकार के पदार्थों का होता है, अत: १२ × ४ = ४८ भेद व्यंजनावग्रह के हुए। अर्थावग्रह के २८८ एवं व्यंजनावग्रह के ४८ (२८८ + ४८ = ३३६) इस प्रकार मतिज्ञान के ३३६ भेद होते हैं।

प्रश्न १० - अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह को दृष्टांत सहित समझाइये।

उत्तर - **व्यंजनावग्रह** – पुस्तक का शरीर की चमड़ी से स्पर्श हुआ उस वस्तु का ज्ञान प्रारम्भ होने पर भी कुछ समय तक वह ज्ञान अपने को प्रगट रूप नहीं होता इसलिये जीव को उस पुस्तक का ज्ञान अव्यक्त अप्रगट होने से उस ज्ञान को व्यंजनावग्रह कहा जाता है।

अर्थावग्रह – पुस्तक पर दृष्टि पड़ने पर पहले जो ज्ञान प्रगट रूप होता है वह व्यक्त अथवा प्रगट पदार्थ का अवग्रह अर्थावग्रह कहलाता है ।

व्यंजनावग्रह चक्षु और मन के अतिरिक्त चार इंद्रियों द्वारा होता है, व्यंजनावग्रह होने के बाद ज्ञान प्रगट रूप होता है, उसे अर्थावग्रह कहते हैं। चक्षु और मन के द्वारा अर्थावग्रह होता है।

प्रश्न ११ - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय क्या है ?

उत्तर - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रूपी अरूपी सभी द्रव्यों को जानते है किन्तु उनकी सभी पर्यायों को नहीं जानते उनका विषय संबंध सभी द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायों के साथ होता है।

प्रश्न १२ - देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ज्ञान किसे होता है ?

उत्तर - तीर्थंकर को गृहस्थ अवस्था में देशावधि ज्ञान और चरमशरीरी विशिष्ट संयमी साधु को परमावधि और सर्वावधि ज्ञान होता है।

प्रश्न १३ - मन:पर्यय ज्ञान के भेद लिखकर ऋजुमति और विपुलमति ज्ञान में अंतर स्पष्ट कीजिये।

उत्तर - मन:पर्यय ज्ञान के दो भेद हैं - ऋजुमति और विपुलमति।

परिणामों की विशुद्धि और अप्रतिपात अर्थात् केवलज्ञान होने से पूर्व न छूटना इन दो बातों से ऋजुमति और विपुलमति ज्ञान में अंतर है। विपुलमति ज्ञान विशुद्ध शुद्ध है और वह कभी नहीं छूट सकता केवलज्ञान होने तक बना रहता है, ऋजुमति ज्ञान होकर छूट भी जाता है। यह भेद चारित्र की तीव्रता के भेद के कारण होते हैं। संयम परिणाम का घटना उसकी हानि होना प्रतिपात है, जो किसी ऋजुमति वाले के होता है।

प्रश्न १४ - द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय के पर्यायवाची नाम क्या हैं ?

उत्तर - **द्रव्यार्थिक नय को -** निश्चय, शुद्ध, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ, स्वावलम्बी, स्वाश्रित, स्वतंत्र, स्वाभाविक, त्रैकालिक, ध्रुव, अभेद और स्वलक्षी नय कहा जाता है।

पर्यायार्थिक नय को - व्यवहार, अशुद्ध, असत्यार्थ, अपरमार्थ, अभूतार्थ, परावलम्बी, पराश्रित, परतंत्र, निमित्ताधीन, क्षणिक, उत्पन्नध्वंसी, भेद और परलक्षी नय कहा जाता है।

प्रश्न १५ - प्रथम अध्याय में किन - किन विषयों का प्रतिपादन किया गया है ?

उत्तर - प्रथम अध्याय में रत्नत्रय, सात तत्वों को जानने के उपाय सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान और नयों का वर्णन किया गया है।

....

(ब) जीव का भाव और शरीर से संबंध

द्वितीय अध्याय

जीव के असाधारण भाव –

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य
स्वतत्त्व मौदयिकपारिणामिकौ च।। १।।

अर्थ – **[जीवस्य]** जीव के **[औपशमिकक्षायिकौ]** औपशमिक और क्षायिक **[भावौ]** भाव **[च मिश्रः]** और मिश्र तथा **[औदयिक पारिणामिकौ च]** औदयिक और पारिणामिक यह पाँच भाव **[स्वतत्त्वम्]** निज भाव हैं अर्थात् यह जीव के अतिरिक्त दूसरे में नहीं होते।

औपशमिक भाव – उपशम ही जिस भाव का प्रयोजन है वह औपशमिक भाव है। कर्मों का उदय में नहीं आना उपशम है। जैसे – फिटकरी को पानी में डालने पर कीचड़ नीचे बैठ जाने पर जल की स्वच्छता होती है, वैसे ही आत्मा में कर्म की निज शक्ति का उदय न होने पर जीव के परिणामों की जो निर्मलता होती है, उसे उपशम कहते हैं। जीव के ऐसे निर्मल भावों को औपशमिक भाव कहते हैं।

क्षायिक भाव – क्षय ही जिस भाव का प्रयोजन है वह क्षायिक भाव कहलाता है, अथवा कर्मों के क्षय से जो भाव होता है वह क्षायिक भाव है। कर्मों का आत्मा से अत्यन्त अलग हो जाना क्षय कहलाता है। जैसे – कीचड़ रहित जल को दूसरे बर्तन में डाल देने से जल अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही आत्मा से कर्मों का अत्यन्त पृथक् हो जाना क्षय है।

क्षायोपशमिक भाव – कर्मों के क्षयोपशम से जो भाव होता है उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। जैसे – पानी की स्वच्छता को पूरी तरह नष्ट न करने वाले कीचड़ के परमाणुओं के मिले रहने पर पानी में स्वच्छास्वच्छ अवस्था होती है वैसे ही उभय रूप भाव को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

औदायिक भाव – कर्मों के उदय से जो भाव होता है वह औदयिक भाव है। अथवा उदय ही जिस भाव का प्रयोजन है वह औदयिक भाव है।

पारिणामिक भाव – जो भाव कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम तथा उदय की अपेक्षा न रखता हुआ आत्मा का स्वभाव मात्र हो उसे पारिणामिक भाव कहते हैं । पारिणामिक का अर्थ है – सहज स्वभाव, उत्पाद व्यय रहित ध्रुव, एक रूप स्थिर रहने वाला पारिणामिक भाव है।

भावों के भेद –

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः यथाक्रमम्।। २।।

अर्थ – उपरोक्त पाँच भाव **[यथाक्रमम्]** क्रमशः **[द्वि नव अष्टादश एकविंशति त्रिभेदाः]** दो, नव, अट्ठारह, इक्कीस और तीन भेद वाले हैं।

औपशमिक भाव के दो भेद –

सम्यक्त्वचारित्रे।। ३।।

अर्थ – **[सम्यक्त्व]** औपशमिक सम्यक्त्व और **[चारित्रे]** औपशमिक चारित्र इस प्रकार औपशमिक भाव के दो भेद हैं।

१. औपशमिक सम्यक्त्व – जब जीव के अपने सत्पुरुषार्थ से औपशमिक सम्यक्त्व प्रगट होता है तब मिथ्यात्व कर्म का और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का स्वयं उपशम हो जाता है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवों के तथा किसी सादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व की एक और अनन्तानुबन्धी की चार इस प्रकार कुल पाँच प्रकृतियाँ उपशम रूप होती हैं और शेष सादि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति – यह तीन तथा अनन्तानुबंधी की चार, इस प्रकार कुल सात प्रकृतियों का उपशम होता है। जीव के इस भाव को औपशमिक सम्यक्त्व कहा जाता है।

२. औपशमिक चारित्र – जीव जिस चारित्र भाव से उपशम श्रेणी के योग्य भाव प्रगट करता है उसे औपशमिक चारित्र कहते हैं। उस समय मोहनीय कर्म की अप्रत्याख्यानावरणादि २१ प्रकृतियों का स्वयं उपशम हो जाता है।

क्षायिक भाव के नौ भेद –

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च।। ४।।

अर्थ – [**ज्ञान दर्शन दान लाभ भोग उपभोग वीर्याणि**] केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य तथा [**च**] च कहने पर, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र इस प्रकार क्षायिक भाव के नौ भेद हैं।

जीव जब ये केवलज्ञानादि भाव प्रगट करता है तब द्रव्य कर्म स्वयं आत्म प्रदेशों से अत्यन्त वियोग रूप हो जाते हैं अर्थात् कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं इसलिये इन भावों को 'क्षायिक भाव' कहा जाता है।

१. केवलज्ञान – संपूर्ण ज्ञान का प्रगट होना केवलज्ञान है, तब ज्ञानावरणीय कर्म की अवस्था क्षय रूप स्वयं होती है।

२. केवलदर्शन – संपूर्ण दर्शन का प्रगट होना केवलदर्शन है, इस समय दर्शनावरणीय कर्म का स्वयं क्षय होता है।

क्षायिक दानादि पाँच भाव – इस प्रकार अपने गुण की निर्मल पर्याय अपने लिये दानादि पाँच भाव रूप से संपूर्णतया प्रगटता होती है, उस समय दानांतराय इत्यादि पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म का स्वयं क्षय होता है।

३. क्षायिक दान – अपने शुद्ध स्वरूप का अपने को दान देना वह उपादान रूप निश्चय क्षायिक दान है और अनंत जीवों को शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति में जो निमित्तपना की योग्यता सो व्यवहार क्षायिक दान है।

४. क्षायिक लाभ – अपने शुद्ध स्वरूप का अपने को लाभ होना सो निश्चय क्षायिक लाभ है – उपादान है और निमित्त रूप से शरीर के बल को स्थिर रखने में कारण रूप अन्य मनुष्य को न हों ऐसे अत्यंत शुभ सूक्ष्म नो कर्म रूप परिणमित होने वाले अनंत पुद्गल परमाणुओं का प्रतिसमय सम्बंध होना क्षायिक लाभ है।

५. क्षायिक भोग – अपने शुद्ध स्वभाव का भोग क्षायिक भोग है और निमित्त रूप से पुष्प वृष्टि आदि विशेषों का प्रगट होना क्षायिक भोग है।

६. क्षायिक उपभोग – अपने शुद्ध स्वरूप का प्रतिसमय उपभोग होना सो क्षायिक उपभोग है और निमित्त रूप से छत्र, चमर, सिंहासनादि विभूतियों का होना क्षायिक उपभोग है।

७. क्षायिक वीर्य – अपने शुद्धात्म स्वरूप में उत्कृष्ट सामर्थ्य रूप से प्रवृत्ति का होना क्षायिक वीर्य है।

८. क्षायिक सम्यक्त्व – अपने मूल स्वरूप की दृढ़तम प्रतीति रूप पर्याय क्षायिक सम्यक्त्व है, जब वह प्रगट होती है तब मिथ्यात्व की तीन और अनंतानुबंधी की चार, इस प्रकार कुल सात कर्म प्रकृतियों का स्वयं क्षय होता है।

९. क्षायिक चारित्र – अपने स्वरूप का पूर्ण चारित्र प्रगट होना क्षायिक चारित्र है। उस समय मोहनीय कर्म की शेष २१ प्रकृतियों का क्षय होता है। इस प्रकार जब कर्म का स्वयं क्षय होता है तब मात्र उपचार से यह कहा जाता है कि 'जीव ने कर्म का क्षय किया है' परमार्थ से तो जीव ने अपनी अवस्था में पुरुषार्थ किया है, जड़ प्रकृति में नहीं। इन नव क्षायिक भावों को नव लब्धि भी कहते हैं।

क्षायोपशमिक भाव के १८ भेद –

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः
सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च।। ५।।

अर्थ – [**ज्ञान अज्ञान**] मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय यह चार ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ये तीन अज्ञान [**दर्शन**] चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन दर्शन [**लब्ध्यः**] क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य ये पाँच लब्धियाँ [**चतुःत्रित्रिपंचभेदाः**] इस प्रकार ४+३+३+५=(१५) भेद तथा [**सम्यक्त्व**] क्षायोपशमिक सम्यक्त्व [**चारित्र**] क्षायोपशमिक चारित्र [**च**] और [**संयमासंयमाः**] संयमासंयम इस प्रकार क्षायोपशमिक भाव के १८ भेद हैं।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व – मिथ्यात्व की तथा अनंतानुबंधी की कर्म प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय तथा उपशम की अपेक्षा से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है और सम्यक्त्व प्रकृति उदय की अपेक्षा से उसी को वेदक सम्यक्त्व कहा जाता है।

क्षायोपशमिक चारित्र – सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्र के समय जो राग है उसकी अपेक्षा से वह सराग चारित्र कहलाता है किन्तु उसमें जो राग है वह चारित्र नहीं है, जितना वीतराग भाव है उतना ही चारित्र है। इस चारित्र को क्षायोपशमिक चारित्र कहते हैं।

संयमासंयम – इस भाव को देशव्रत अथवा विरताविरत चारित्र भी कहते हैं।

औदयिक भाव के २१ भेद –

गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः।। ६।।

अर्थ – [**गति**] तिर्यञ्च, नरक, मनुष्य और देव यह चार गतियाँ [**कषाय**] क्रोध, मान, माया, लोभ यह चार कषायें [**लिंग**] स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसंकवेद यह तीन लिंग [**मिथ्यादर्शन**] मिथ्यादर्शन [**अज्ञान**] अज्ञान [**असंयत**] असंयम [**असिद्ध**] असिद्धत्व तथा [**लेश्याः**] कृष्ण, नील, कापोत, पीत पद्म और शुक्ल यह छह लेश्यायें इस प्रकार [**चतुः चतुः त्रि एक एक एक एक षड् भेदाः**] ४+४+३+१+१+१+१+६=(२१) इस प्रकार सब मिलाकर औदयिक भाव के २१ भेद हैं।

पारिणामिक भाव के तीन भेद –

जीवभव्याभव्यत्वानि च।। ७।।

अर्थ – [**जीवभव्याभव्यत्वानि च**] जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व इस प्रकार पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं।

भव्यत्व – मोक्ष प्राप्त करने के योग्य जीव के 'भव्यत्व' होता है।

अभव्यत्व – जो जीव कभी भी मोक्ष प्राप्त करने के योग्य नहीं होते उनके 'अभव्यत्व' होता है।

जीवत्व – चैतन्यत्व, जीवनत्व, ज्ञानादि गुण युक्त रहना सो जीवन है, जीवत्व है।

पारिणामिक भाव का अर्थ – कर्मोदय की अपेक्षा के बिना आत्मा में जो गुण मूलतः स्वभाव मात्र ही हों उन्हें 'पारिणामिक' कहते हैं।

जीव का लक्षण –

उपयोगो लक्षणम्।। ८।।

अर्थ – **[लक्षणम्]** जीव का लक्षण **[उपयोगः]** उपयोग है।

लक्षण – बहुत से मिले हुए पदार्थों में से किसी एक पदार्थ को अलग करने वाले हेतु (साधन) को लक्षण कहते हैं।

प्रश्न – उपयोग का अर्थ क्या है ?

उत्तर – चैतन्य स्वभाव का अनुसरण करने वाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं। उपयोग जीव का अबाधित लक्षण है। उपयोग को 'ज्ञान-दर्शन' भी कहते हैं, वह सभी जीवों में होता है और जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं होता, इसलिये उसे जीव का असाधारण गुण अथवा लक्षण कहते हैं और वह सद्भूत (आत्मभूत) लक्षण है इसलिये सब जीवों में सदा होता है।

उपयोग के भेद –

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः।। ९।।

अर्थ – **[सः]** वह उपयोग **[द्विविधः]** ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से दो प्रकार का है और वे क्रमशः **[अष्ट चतुः भेदः]** आठ और चार भेद सहित हैं अर्थात् ज्ञानोपयोग के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल (यह पाँच सम्यग्ज्ञान) और कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि (यह तीन मिथ्याज्ञान) इस प्रकार आठ भेद हैं तथा दर्शनोपयोग के चक्षु, अचक्षु, अवधि तथा केवल इस प्रकार चार भेद हैं। इस प्रकार ज्ञान के आठ और दर्शन के चार भेद मिलाकर उपयोग के कुल बारह भेद हैं।

दर्शन और ज्ञान के बीच का भेद

अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञान कहा जाता है। सामान्य-विशेषात्मक बाह्य पदार्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान है और सामान्य-विशेषात्मक आत्म स्वरूप को ग्रहण करने वाला दर्शन है।

जीव के भेद –

संसारिणो मुक्ताश्च।। १०।।

अर्थ – जीव **[संसारिणाः]** संसारी **[च]** और **[मुक्ताः]** मुक्त ऐसे दो प्रकार के हैं। कर्म सहित जीवों को संसारी और कर्म रहित जीवों को मुक्त जीव कहते हैं।

संसारी जीवों के भेद-

समनस्काऽमनस्काः।। ११।।

अर्थ – संसारी जीव **[समनस्काः]** मनसहित-सैनी **[अमनस्काः]** मनरहित असैनी, दो प्रकार के हैं।

संसारी जीवों के अन्य प्रकार से भेद –

संसारिणस्त्रसस्थावराः।। १२ ।।

अर्थ – [संसारिणः] संसारी जीव **[त्रस]** त्रस और **[स्थावराः]** स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं।

स्थावर जीवों के भेद –

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः।। १३।।

अर्थ – [पृथिवी अप् तेजः वायुः वनस्पतयः] पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक यह पाँच प्रकार के **[स्थावराः]** स्थावर जीव हैं। (इन जीवों के मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है।)

त्रस जीवों के भेद–

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः।। १४।।

अर्थ – [द्वि इन्द्रिय आदयः] दो इन्द्रिय से लेकर अर्थात् दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रिय जीव **[त्रसाः]** त्रस जीव कहलाते हैं।

इन्द्रियों की संख्या –

पंचेन्द्रियाणि।। १५।।

अर्थ – [इन्द्रियाणि] इन्द्रियाँ **[पंच]** पाँच हैं।

१. इन्द्रियाँ पाँच हैं। अधिक नहीं। '**इन्द्र**' अर्थात् आत्मा की अर्थात् संसारी जीव की पहिचान कराने वाला जो चिन्ह है उसे इन्द्रिय कहते हैं। प्रत्येक द्रव्येन्द्रिय अपने-अपने विषय का ज्ञान उत्पन्न होने में निमित्तकारण है। कोई एक इन्द्रिय किसी दूसरी इन्द्रिय के आधीन नहीं है। भिन्न-भिन्न एक-एक इन्द्रिय पर की अपेक्षा से रहित है अर्थात् अहमिन्द्र की भांति प्रत्येक अपने-अपने आधीन है ऐसा ऐश्वर्य धारण करती है।

इन्द्रियों के मूल भेद –

द्विविधानि।। १६।।

अर्थ – सब इन्द्रियाँ **[द्विविधानि]** द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के भेद से दो प्रकार की हैं।

द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप –

निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्।। १७।।

अर्थ – [निर्वृत्ति उपकरणे] निर्वृत्ति और उपकरण को **[द्रव्येन्द्रियम्]** द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

निर्वृत्ति – पुद्गल विपाकी नामकर्म के उदय से प्रतिनियत स्थान में होने वाली इन्द्रिय रूप पुद्गल रचना विशेष को बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं और उत्सेधांगुल के असंख्यातवें-भागप्रमाण आत्मा के विशुद्ध प्रदेशों का चक्षु आदि इन्द्रियों के आकार जो परिणमन होता है उसे आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं। इस प्रकार निर्वृत्ति के दो भेद हैं। जो आत्मप्रदेश नेत्रादि इन्द्रियाकार होते हैं वह आभ्यन्तर निर्वृत्ति है और उसी आत्म प्रदेश के साथ नेत्रादि आकार रूप जो पुद्गल समूह रहते हैं वह बाह्य निर्वृत्ति है।

कर्णेन्द्रिय के आत्म प्रदेश जौ की नली के समान और नेत्रेन्द्रिय के आत्म प्रदेश मसूर के आकार के होते हैं और पुद्गल इन्द्रियाँ भी उसी आकार की होती हैं।

उपकरण – निर्वृत्ति का उपकार करने वाला पुद्‌गल समूह उपकरण है। उसके बाह्य और आभ्यन्तर दो भेद हैं। जैसे – नेत्र में सफेद और काला मंडल आभ्यन्तर उपकरण है और पलक तथा गट्टा इत्यादि बाह्य उपकरण हैं।

भावेन्द्रिय का स्वरूप –

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्।। १८।।

अर्थ – [लब्धि उपयोगौ] लब्धि और उपयोग को **[भावेन्द्रियम्]** भावेन्द्रिय कहते हैं।

लब्धि – लब्धि का अर्थ प्राप्ति अथवा लाभ होता है। आत्मा के चैतन्य गुण का क्षयोपशम हेतुक विकास लब्धि है।

उपयोग – चैतन्य के व्यापार को उपयोग कहते हैं।

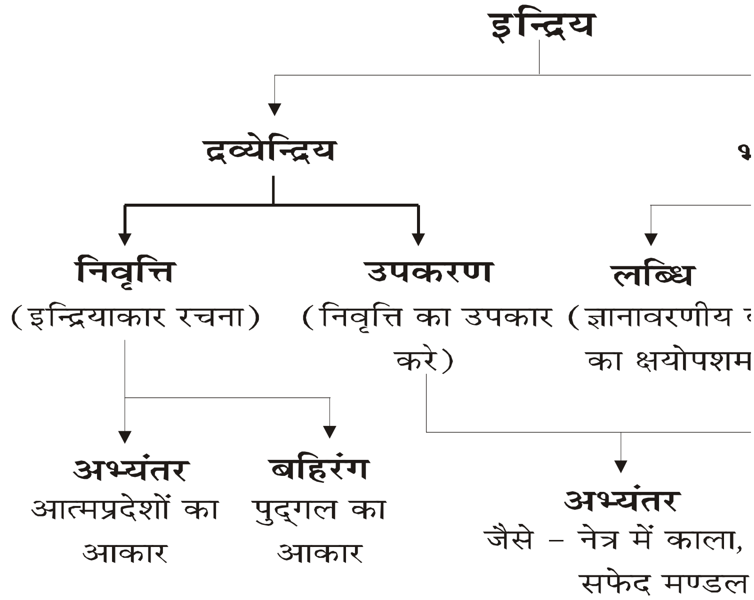

पाँच इन्द्रियों के नाम और उनका क्रम –

स्पर्शनरसनघ्राण चक्षुःश्रोत्राणि।। १९।।

अर्थ – [स्पर्शन] स्पर्शन **[रसन]** रसना **[घ्राण]** नाक **[चक्षुः]** चक्षु और **[श्रोत्र]** कान-यह पाँच इन्द्रियाँ हैं।

(अ) श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का आकार जौ की बीच की नाली के समान (ब) नेत्र का आकार मसूर जैसा (स) नाक का आकार तिल के फूल जैसा (द) रसना का आकार अर्धचन्द्रमा जैसा और (इ) स्पर्शनेन्द्रिय का आकर शरीराकार होता है, स्पर्शनेन्द्रिय सारे शरीर में होती है।

इन्द्रियों के विषय –

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः।। २०।।

अर्थ – [स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः] स्पर्श, रस, गंध, वर्ण (रंग) शब्द यह पाँच क्रमशः **[तत् अर्थाः]** उपरोक्त पाँच इन्द्रियों के विषय हैं अर्थात् उपरोक्त पाँच इन्द्रियाँ उन-उन विषयों को जानती हैं।

जानने का काम भावेन्द्रिय का है, पुद्गल इन्द्रिय निमित्त है। प्रत्येक इन्द्रिय का विषय क्या है वह यहाँ कहा गया है। यह विषय जड़-पुद्गल हैं।

स्पर्श - आठ प्रकार का है - हल्का-भारी, कड़ा-नरम, रूखा-चिकना, ठंडा-गरम।

रस - पाँच प्रकार का है - खट्टा, मीठा, कडुआ, चरपरा, कषायला।

गंध - दो प्रकार की है - सुगन्ध और दुर्गन्ध।

वर्ण - पाँच प्रकार का है - काला, पीला, नीला, लाल और सफेद।

शब्द - सात प्रकार का है - षडज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद।

इस प्रकार कुल २७ भेद हैं, उनके संयोग से असंख्यात भेद हो जाते हैं।

मन का विषय -

श्रुतमनिन्द्रियस्य।। २१।।

अर्थ - [**अनिन्द्रियस्य**] मन का विषय [**श्रुतम्**] श्रुतज्ञानगोचर पदार्थ है अथवा मन का प्रयोजन श्रुतज्ञान है।

द्रव्यमन आठ पंखुड़ी वाले खिले हुए कमल के आकार का है। श्रवण किये गये पदार्थ का विचार करने में मन द्वारा जीव की प्रवृत्ति होती है। कर्णेन्द्रिय से श्रवण किये गये शब्द का ज्ञान मतिज्ञान है, उस मतिज्ञानपूर्वक किये गये विचार को श्रुतज्ञान कहते हैं। सम्यग्ज्ञानी पुरुष को उपदेश श्रवण करने में कर्णेन्द्रिय निमित्त है और उसका विचार करके यथार्थ निर्णय करने में मन निमित्त है। हित की प्राप्ति और अहित का त्याग मन के द्वारा होता है।

इन्द्रियों के स्वामी -

वनस्पत्यन्तानामेकम्।। २२।।

अर्थ - [**वनस्पति अन्तानां**] वनस्पतिकाय जिसके अन्त में है ऐसे जीवों के अर्थात् पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के [**एकम्**] एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है।

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि।। २३।।

अर्थ - [**कृमिपिपीलिकाभ्रमर मनुष्यादीनाम्**] कृमि इत्यादि, चींटी आदि, भ्रमर इत्यादि तथा मनुष्य इत्यादि के [**एकैक वृद्धानि**] क्रम से एक-एक इन्द्रिय बढ़ती (अधिक-अधिक) है अर्थात् कृमि इत्यादि के दो, चींटी इत्यादि के तीन, भौंरा इत्यादि के चार और मनुष्य इत्यादि के पाँच इन्द्रियाँ होती हैं।

प्रश्न - यदि कोई मनुष्य जन्म से ही अंधा और बहरा हो तो उसे तीन इन्द्रिय जीव कहना चाहिये या पंचेन्द्रिय ?

उत्तर - वह पंचेन्द्रिय जीव ही है, क्योंकि उसके पाँचों इन्द्रियाँ हैं किन्तु उपयोग रूप शक्ति न होने से वह देख और सुन नहीं सकता।

सैनी किसे कहते हैं ?

संज्ञिनः समनस्काः।। २४।।

अर्थ - [**समनस्काः**] मन सहित जीवों को [**संज्ञिनः**] सैनी कहते हैं।

विग्रहगति में कार्मण योग –

विग्रहगतौ कर्मयोगः।। २५।।

अर्थ – [विग्रहगतौः] विग्रहगति में अर्थात् नये शरीर के लिये गमन में **[कर्मयोगः]** कार्मण काययोग होता है।

विग्रहगति – एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर की प्राप्ति के लिये गमन करना विग्रहगति है। यहाँ विग्रह का अर्थ शरीर है।

कर्मयोग – कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं। आत्म प्रदेशों के परिस्पन्दन को योग कहते हैं। इस परिस्पन्दन के समय कार्मण शरीर निमित्त रूप है इसलिये उसे कर्मयोग अथवा कार्मण काययोग कहते हैं और विग्रहगति में भी नये कर्मों का आस्रव होता है।

विग्रहगति में जीव और पुद्गलों का गमन कैसे होता है ?

अनुश्रेणि गतिः।। २६।।

उत्तर – [गतिः] जीव पुद्गलों का गमन **[अनुश्रेणि]** श्रेणी के अनुसार ही होता है।

१. श्रेणी – लोक के मध्यभाग से ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशा में क्रमशः हारबद्ध रचना वाले प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं।

२. विग्रहगति में आकाश–प्रदेशों की सीधी पंक्ति पर ही गमन होता है। विदिशा में गमन नहीं होता। जब पुद्गल का शुद्ध परमाणु अति शीघ्र गमन करके एक समय में १४ राजू गमन करता है तब वह श्रेणीबद्ध सीधा ही गमन करता है।

३. उपरोक्त श्रेणी की छह दिशायें होती हैं १. पूर्व से पश्चिम, २. उत्तर से दक्षिण, ३. ऊपर से नीचे तथा अन्य तीन उससे उल्टे रूप में अर्थात् ४. पश्चिम से पूर्व, ५. दक्षिण से उत्तर और ६. नीचे से ऊपर।

मुक्त जीवों की गति कैसी होती है ?

अविग्रहा जीवस्य।। २७।।

अर्थ – [जीवस्य] मुक्त जीव की गति **[अविग्रहा]** वक्रता रहित सीधी होती है।

संसारी जीवों की गति और उसका समय –

विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः।। २८।।

अर्थ – [संसारिणः] संसारी जीव की गति **[चतुर्भ्यः प्राक्]** चार समय से पहले **[विग्रहवती च]** वक्रता मोड़ सहित तथा रहित होती है।

१. संसारी जीव की गति मोड़सहित और मोड़ रहित होती है। यदि मोड़ रहित होती है तो उसे एक समय लगता है। एक मोड़ लेना पड़े तो दो समय, दो मोड़ लेना पड़ें तो तीन समय और तीन मोड़ लेना पड़ें तो चार समय लगते हैं। जीव चौथे समय में तो कहीं न कहीं नया शरीर नियम से धारण कर लेता है, इसलिये विग्रहगति का समय अधिक से अधिक चार समय तक होता है। उन गतियों के नाम यह हैं – १. ऋजुगति (ईषुगति) २. पाणिमुक्ता गति ३. लाँगलिकागति और ४. गौमूत्रिकागति।

२. एक परमाणु को मंदगति से एक आकाशप्रदेश से निकट के दूसरे आकाशप्रदेश तक जाने में जो समय लगता है वह एक समय है यह छोटे से छोटा काल है।

३. लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ जाने में जीव को तीन से अधिक मोड़ लेना पड़ते हों।

अविग्रहगति का समय –

एक समयाऽविग्रहा।। २९।।

अर्थ – [अविग्रहा] मोड़रहित गति **[एक समया]** एक समय मात्र ही होती है, अर्थात् उसमें एक समय ही लगता है।

१. जिस समय जीव का एक शरीर के साथ का संयोग छूटता है उसी समय, यदि (कोई संसारी) जीव अविग्रह गति के योग्य हो तो दूसरे क्षेत्र में रहने वाले अन्य शरीर के योग्य पुद्‌गलों के साथ (शरीर के साथ) सम्बंध प्रारम्भ होता है। मुक्त जीवों को भी सिद्धगति में जाने में एक ही समय लगता है, यह गति सीधी पंक्ति में ही होती है।

२. एक पुद्‌गल को उत्कृष्ट वेगपूर्वक गति करने में चौदह राजू लोक अर्थात् लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक (सीधी पंक्ति में ऊपर या नीचे) जाने में एक समय ही लगता है।

विग्रहगति में आहारक–अनाहारक की व्यवस्था –

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः।। ३०।।

अर्थ – विग्रह गति में **[एकं द्वौ वा तीन्]** एक दो अथवा तीन समय तक **[अनाहारकः]** जीव अनाहारक रहता है।

आहार – औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर तथा छह पर्याप्ति के योग्य पुद्‌गल परमाणुओं के ग्रहण को आहार कहा जाता है।

उपरोक्त आहार को जीव जब तक ग्रहण नहीं करता तब तक वह अनाहारक कहलाता है। संसारी जीव अविग्रहगति में आहारक होता है, परन्तु एक दो या तीन मोड़ वाली गति में एक दो या तीन समय तक अनाहारक रहता है, चौथे समय में नियम से आहारक हो जाता है।

जन्म के भेद –

सम्मूर्च्छनगर्भोपपादा जन्म।। ३१।।

अर्थ – [सम्मूर्च्छनगर्भउपपादाः] सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद तीन प्रकार का **[जन्म]** जन्म होता है।

१. जन्म – नवीन शरीर को धारण करना जन्म है।

सम्मूर्च्छन जन्म – अपने शरीर के योग्य पुद्‌गल परमाणुओं के द्वारा, माता–पिता के रज और वीर्य के बिना ही शरीर की रचना होना सम्मूर्च्छन जन्म है।

गर्भ जन्म – स्त्री के उदर में रज और वीर्य के मेल से जो जन्म होता है उसे गर्भ जन्म कहते हैं।

उपपाद जन्म – माता–पिता के रज और वीर्य के बिना देव और नारकियों के निश्चित स्थान विशेष में उत्पन्न होने को उपपादजन्म कहते हैं। यह उपपादजन्म वाला शरीर वैक्रियिक रजकणों का बनता है।

योनियों के भेद –

सचित्त शीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः।। ३२।।

अर्थ – [सचित्त शीत संवृताः] सचित्त, शीत, संवृत **[सेतरा]** उससे उल्टी तीन अचित्त, उष्ण, विवृत **[च एकशः मिश्राः]** और क्रम से एक–एक की मिली हुई तीन अर्थात् सचित्ताचित, शीतोष्ण और संवृतविवृत

[तत् योनयः] ये नव जन्मयोनियाँ हैं।

योनि – जीवों के उत्पत्ति स्थान को योनि कहते हैं। योनि आधार है और जन्म आधेय है।

सचित्तयोनि – जीव सहित योनि को सचित्त योनि कहते हैं।

संवृतयोनि – जो किसी के देखने में न आवे ऐसे उत्पत्ति स्थान को संवृत (ढकी हुई) योनि कहते हैं।

विवृतयोनि – जो सबके देखने में आये ऐसे उत्पत्ति स्थान को विवृत (खुली) योनि कहते हैं।

१. मनुष्य या अन्य प्राणी के पेट में जीव (कृमि इत्यादि) उत्पन्न होते हैं उनकी सचित्तयोनि है।

२. दीवाल में, मेज, कुर्सी इत्यादि में जीव उत्पन्न हो जाते हैं, उनकी अचित्तयोनि है।

३. मनुष्य की पहनी हुई टोपी इत्यादि में जीव उत्पन्न हो जाते हैं उनकी सचित्ताचित्तयोनि है।

४. सर्दी में जीव उत्पन्न होते हैं उनकी शीतयोनि है।

५. गर्मी में जीव उत्पन्न होते हैं उनकी उष्ण योनि है।

६. पानी के गड्ढे में सूर्य की गर्मी से पानी के गर्म हो जाने पर जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं उनकी शीतोष्ण योनि है।

७. बन्द पेटी में रखे हुए फलों में जो जीव उत्पन्न हो जाते हैं उनकी संवृतयोनि है।

८. पानी में जो काई इत्यादि जीव उत्पन्न होते हैं उनकी विवृतयोनि है।

९. थोड़ा भाग खुला हुआ और थोड़ा ढका हुआ हो ऐसे स्थान में उत्पन्न होने वाले जीवों की संवृतविवृतयोनि होती है।

५. गर्भयोनि के आकार के तीन भेद हैं – १. शंखावर्त २. कूर्मोन्नत और ३. वंशपत्र। शंखावर्तयोनि में गर्भ नहीं रहता। कूर्मोन्नतयोनि में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव और बलभद्र तथा अन्य भी महान पुरुष उत्पन्न होते हैं, उनके अतिरिक्त कोई उत्पन्न नहीं होता। वंशपत्रयोनि में शेष गर्भ जन्म वाले सब जीव उत्पन्न होते हैं।

गर्भ जन्म किसे कहते हैं ?

जरायुजांडजपोतानां गर्भः।। ३३।।

अर्थ – [जरायुज अंडज पोतानां] जरायुज, अंडज और पोतज इन तीन प्रकार के जीवों के **[गर्भः]** गर्भ जन्म ही होता है।

जरायुज – जाली के समान मांस और खून से व्याप्त एक प्रकार की थैली में लिपटा हुआ जो जीव जन्म लेता है उसे जरायुज कहते हैं। जैसे – गाय, भैंस, मनुष्य आदि।

अंडज – जो जीव अंडों में जन्म लेते हैं उनको अंडज कहते हैं। जैसे–चिड़िया, कबूतर, मोर आदि।

पोतज – उत्पन्न होते समय जिन जीवों के शरीर के ऊपर किसी प्रकार का आवरण नहीं होता उन्हें पोतज कहते हैं। जैसे – सिंह, बाघ, हाथी, हिरण, बंदर आदि।

असाधारण भाषा और अध्ययनादि जरायुज जीवों में ही होता है। चक्रधर, वासुदेवादि महाप्रभावशाली पुरुष जरायुज होते हैं, मोक्ष भी जरायुज को प्राप्त होता है।

उपपादजन्म किसे कहते हैं ?

देवनारकाणामुपपादः।। ३४।।

अर्थ – [देवनारकाणां] देव और नारकी जीवों के **[उपपादः]** उपपादजन्म ही होता है।

१. देवों के प्रसूति स्थान में शुद्ध सुगंधित कोमल संपुट के आकार की शय्या होती है, उसमें उत्पन्न होकर अंतर्मुहूर्त में परिपूर्ण जवान हो जाता है, जैसे कोई जीव शय्या से सोकर जागता है उसी प्रकार आनन्द सहित यह जीव बैठा होता है। यह देवों का उपपादजन्म है।

२. नारकी जीव बिलों में उत्पन्न होते हैं। मधुमक्खी के छत्ते की भांति ओंधा मुख किये हुए इत्यादि आकार के विविध मुख वाले उत्पत्ति स्थान हैं, उनमें नारकी जीव उत्पन्न होते हैं और वे उल्टा सिर ऊपर पैर किये हुए अनेक कष्टकर वेदनाओं से निकलकर विलाप करते हुए धरती पर गिरते हैं। यह नारकी जीवों का उपपादजन्म है।

सम्मूर्च्छन जन्म किसके होता है ?

शेषाणां सम्मूर्च्छनम्।। ३५।।

अर्थ – [शेषाणां] गर्भ और उपपाद जन्म वाले जीवों के अतिरिक्त शेष जीवों के **[सम्मूर्च्छनम्]** सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है।

एकेन्द्रिय से असैनी चतुरिन्द्रिय जीवों के नियम से सम्मूर्च्छन जन्म होता है और असैनी तथा सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के गर्भ और सम्मूर्च्छन दोनों प्रकार के जन्म होते हैं अर्थात् कुछ गर्भज होते हैं और कुछ सम्मूर्च्छन होते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों के भी सम्मूर्च्छनजन्म होता है।

शरीर के नाम तथा भेद –

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि।। ३६।।

अर्थ – [औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस कार्मणानि] औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण **[शरीराणि]** यह पाँच शरीर हैं।

औदारिक शरीर – मनुष्य और तिर्यञ्चों का शरीर जो कि सड़ता है, गलता है तथा झरता है वह औदारिक शरीर है। यह शरीर स्थूल होता है इसलिये उदार कहलाता है। सूक्ष्य निगोदिया जीवों का शरीर इन्द्रियों के द्वारा न तो दिखाई देता है, न मुड़ता है और न काटने से कटता है, फिर भी वह स्थूल है, क्योंकि दूसरे शरीर उससे क्रमशः सूक्ष्म हैं।

वैक्रियिक शरीर – जिसमें हल्के, भारी तथा अनेक प्रकार के रूप बनाने की शक्ति हो उसे वैक्रियिक शरीर कहते हैं, वह देव और नारकियों के ही होता है। नोट–यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि औदारिक शरीर वाले जीव को ऋद्धि के कारण जो विक्रिया होती है वह औदारिक शरीर का प्रकार है।

आहारक शरीर – सूक्ष्य पदार्थों के निर्णय के लिये अथवा संयम की रक्षा इत्यादि के लिये छटवें गुणस्थान वर्ती मुनि के मस्तक से जो एक हाथ का पुतला निकलता है, उसे आहारक शरीर कहते हैं। (तत्त्व में कोई शंका होने पर केवली अथवा श्रुतकेवली के पास जाने के लिये ऐसे मुनि के मस्तक से एक हाथ का पुतला निकलता है उसे आहारक शरीर कहते हैं।)

तैजस शरीर – औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरों को कान्ति देने वाले तैजस वर्गणा से बने

हुए शरीर को तैजस शरीर कहते हैं।

कार्मण शरीर – ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं।

शरीरों की सूक्ष्मता का वर्णन –

परं परं सूक्ष्मम्।। ३७।।

अर्थ – पहले कहे हुए शरीरों की अपेक्षा **[परं परं]** आगे-आगे के शरीर **[सूक्ष्मम्]** सूक्ष्म-सूक्ष्म होते हैं अर्थात् औदारिक की अपेक्षा वैक्रियिक सूक्ष्म, वैक्रियिक की अपेक्षा आहारक सूक्ष्म, आहारक की अपेक्षा तैजस सूक्ष्म और तैजस की अपेक्षा से कार्मण शरीर सूक्ष्म होता है।

पहले-पहले शरीर की अपेक्षा आगे के शरीरों के प्रदेश थोड़े होंगे-ऐसी विरुद्ध मान्यता दूर करने के लिये सूत्र कहते हैं।

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात्।। ३८।।

अर्थ – **[प्रदेशतः]** प्रदेशों की अपेक्षा से **[तैजसात् प्राक्]** तैजस शरीर से पहले के शरीर **[असंख्येयगुणं]** असंख्यात्गुने हैं।

औदारिक शरीर के प्रदशों की अपेक्षा असंख्यातगुने प्रदेश वैक्रियिक शरीर के हैं और वैक्रियिक शरीर की अपेक्षा असंख्यातगुने प्रदेश आहारक शरीर के हैं।

अनन्तगुणे परे।। ३९।।

अर्थ – **[परे]** शेष दो शरीर **[अनन्तगुणे]** अनन्तगुने परमाणु (प्रदेश) वाले हैं अर्थात् आहारक शरीर की अपेक्षा अनन्तगुने प्रदेश तैजस शरीर में होते हैं और तैजस शरीर की अपेक्षा अनन्तगुने प्रदेश कार्मण शरीर में होते हैं।

आगे-आगे के शरीरों में प्रदेशों की संख्या अधिक होने पर भी उनका मिलाप लोहे के पिंड के समान सघन होता है इसलिये वे अल्प रूप होते हैं। यहाँ प्रदेश कहने का अर्थ परमाणु समझना चाहिये।

तैजस और कार्मण शरीर की विशेषता –

अप्रतीघाते।। ४०।।

अर्थ – तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर **[अप्रतीघाते]** अप्रतीघात अर्थात् बाधा रहित हैं।

तैजस और कार्मण दोनों शरीर लोक के अन्त तक हर जगह जा सकते हैं और चाहे जहाँ से निकल सकते हैं। वैक्रियिक और आहारक शरीर हर किसी में प्रवेश कर सकता है, परन्तु वैक्रियिक शरीर त्रसनाली तक ही गमन कर सकता है। आहारक शरीर का गमन अधिक से अधिक अढ़ाई द्वीप पर्यंत जहाँ केवली और श्रुतकेवली होते हैं वहाँ तक होता है। मनुष्य का वैक्रियिक शरीर मनुष्यलोक (अढ़ाई द्वीप) तक जाता है उससे अधिक नहीं जा सकता।

तैजस और कार्मण शरीर की अन्य विशेषता –

अनादिसम्बन्धे च।। ४१।।

अर्थ – **[च]** और यह दोनों शरीर **[अनादिसम्बन्धे]** आत्मा के साथ अनादिकाल से सम्बंध वाले हैं।

ये शरीर अनादिकाल से सब जीवों के होते हैं –

सर्वस्य।। ४२।।

अर्थ – ये तैजस और कार्मण शरीर **[सर्वस्य]** सब संसारी जीवों के होते हैं।

जिन जीवों के इन शरीरों का सम्बंध नहीं होता है उनके संसारी अवस्था नहीं होती सिद्ध अवस्था होती है।

एक जीव के एक साथ कितने शरीरों का सम्बंध होता है ?

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः।। ४३।।

अर्थ – [तदादीनि] उन तैजस और कार्मण शरीरों से प्रारम्भ करके **[युगपत्]** एक साथ **[एकस्मिन्]** एक जीव के **[आचतुर्भ्यः]** चार शरीर तक **[भाज्यानि]** विभक्त करना चाहिये अर्थात् जानना चाहिये।

जीव के यदि दो शरीर हों तो तैजस और कार्मण, तीन हों तो तैजस, कार्मण और औदारिक अथवा तैजस, कार्मण और वैक्रियिक, चार हों तो तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक अथवा तैजस, कार्मण, औदारिक और (लब्धि वाले जीव के) वैक्रियिक शरीर होते हैं। इसमें (लब्धि वाले जीव के) औदारिक के साथ जो वैक्रियिक शरीर होना बतलाया है वह शरीर औदारिक की जाति का है, देव के वैक्रियिक शरीर के रजकणों की जाति का नहीं।

कार्मण शरीर की विशेषता –

निरुपभोगमन्त्यम्।। ४४।।

अर्थ – [अन्त्यम्] अंत का कार्मण शरीर **[निरुपभोगम्]** उपभोग रहित होता है।

उपभोग – इन्द्रियों के द्वारा शब्दादिक को ग्रहण करना (जानना) उपभोग है।

औदारिक शरीर का लक्षण –

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम्।। ४५।।

अर्थ – [गर्भ] गर्भ **[सम्मूर्च्छनजम्]** और सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न होने वाला शरीर **[आद्यं]** पहला औदारिक शरीर कहलाता है।

वैक्रियिक शरीर का लक्षण –

औपपादिकं वैक्रियिकम्।। ४६।।

अर्थ – [औपपादिकम्] उपपादजन्म वाले अर्थात् देव और नारकियों के शरीर **[वैक्रियिकं]** वैक्रियिक होते हैं।

देव और नारकियों के अतिरिक्त दूसरों के वैक्रियिक शरीर होता है या नहीं ?

लब्धिप्रत्ययं च।। ४७।।

अर्थ – वैक्रियिक शरीर **[लब्धिप्रत्ययं च]** लब्धिनैमित्तिक भी होता है।

वैक्रियिक ऋद्धि को 'लब्धि' कहा जाता है। प्रत्यय का अर्थ निमित्त है। किसी तिर्यञ्च को भी विक्रिया होती है। मनुष्य तथा तिर्यञ्चों का वैक्रियिक शरीर देव तथा नारकियों के शरीर से भिन्न जाति का होता है, वह औदारिक शरीर का ही एक प्रकार है।

वैक्रियिक के अतिरिक्त किसी अन्य शरीर को भी लब्धि का निमित्त है ?

तैजसमपि।। ४८।।

अर्थ – [तैजसम्] तैजस शरीर **[अपि]** भी लब्धि निमित्तक है।

आहारक शरीर का स्वामी तथा उसका लक्षण –

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव।। ४९।।

अर्थ – [आहारकं] आहारक शरीर **[शुभम्]** शुभ है अर्थात् वह शुभ कार्य करता है **[विशुद्धम्]** विशुद्ध है अर्थात् वह विशुद्धकर्म (मंद कषाय से बंधने वाले कर्म) का कार्य है। **[च अव्याघाति]** और व्याघात – बाधारहित है तथा **[प्रमत्तसंयतस्यैव]** प्रमत्तसंयत (छटवें गुणस्थानवर्ती) मुनि के ही वह शरीर होता है।

१. यह शरीर चन्द्रकान्तमणि के समान सफेद रंग का एक हाथ प्रमाण का पुरुषाकार होता है, वह पर्वत वज्र इत्यादि से नहीं रुकता इसलिये अव्याघाति है। यह शरीर प्रमत्तसंयमी मुनि के मस्तक में से निकलता है, प्रमत्तसंयत गुणस्थान में ही यह शरीर होता है अन्यत्र नहीं होता और यह शरीर सभी प्रमत्तसंयत मुनियों के भी नहीं होता।

२. यह आहारक शरीर – १. कदाचित् लब्धि–विशेष का सद्‌भाव जानने के लिये, २. कदाचित सूक्ष्मपदार्थ के निर्णय के लिये तथा ३. कदाचित् तीर्थगमन के या संयम की रक्षा के निमित्त निकलता है। केवली भगवान अथवा श्रुतकेवली भगवान के पास जाते ही स्वयं निर्णय करके अंतमुहूर्त में वापस आकर संयमी मुनि के शरीर में प्रवेश करता है।

लिंग अर्थात् वेद के स्वामी –

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुँसकानि।। ५०।।

अर्थ – [नारकसम्मूर्च्छिनो] नारकी और सम्मूर्च्छन जन्म वाले **[नपुंसकानि]** नपुंसक होते हैं।

लिंग अर्थात् वेद दो प्रकार के हैं – १. द्रव्य लिंग – पुरुष, स्त्री या नपुंसकत्व बताने वाला शरीर का चिह्न है। २. भावलिंग – स्त्री, पुरुष अथवा स्त्री–पुरुष दोनों के भोगने की अभिलाषा रूप आत्मा के विकारी परिणाम का नाम है। नारकी और सम्मूर्च्छन जीवों के द्रव्यलिंग और भावलिंग दोनों नपुंसक होते हैं।

देवों के लिंग –

न देवाः।। ५१।।

अर्थ – [देवाः] देव **[न]** नपुंसक नहीं होते, अर्थात् देवों के पुरुषलिंग और देवियों के स्त्रीलिंग होता है। १. देवगति में द्रव्यलिंग तथा भावलिंग एक से होते हैं। २. भोगभूमि म्लेच्छखण्ड के मनुष्य स्त्रीवेद और पुरुषवेद दोनों को धारण करते हैं, वहाँ नपुंसक उत्पन्न नहीं होते।

अन्य कितने लिंग वाले हैं ?

शेषास्त्रिवेदाः।। ५२।।

अर्थ – [शेषाः] शेष के गर्भज मनुष्य और तिर्यञ्च **[त्रिवेदाः]** तीनों वेद वाले होते हैं।

भाववेद के भी तीन प्रकार हैं – १. पुरुषवेद की कामाग्नि तृण की अग्नि के समान जल्दी शांत हो जाती है। २. स्त्रीवेद की कामाग्नि अंगार के समान तप्त और कुछ समय के बाद शांत होती है और ३. नपुंसकवेद की कामाग्नि ईंट के भट्टे की आग के समान बहुत समय तक बनी रहती है।

किनकी आयु अपवर्तन (अकालमृत्यु) रहित है ?

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ।। ५३ ।।

अर्थ - [औपपादिक] उपपाद जन्म वाले देव और नारकी **[चरम उत्तम देहाः]** चरम उत्तम देह वाले अर्थात् उसी भव में मोक्ष जाने वाले तथा **[असंख्येयवर्ष आयुषः]** असंख्यात वर्ष आयु वाले भोगभूमि के जीवों की **[आयुषः अनपवर्ति]** आयु अपवर्तन रहित होती है। (अर्थात् इनकी अकाल मृत्यु नहीं होती।)

आठ कर्मों में आयु नाम का एक कर्म है। भोग्यमान (भोगी जाने वाली) आयु कर्म के रजकण दो प्रकार के होते हैं - सोपक्रम और निरुपक्रम। उनमें से आयु के प्रमाण में प्रतिसमय समान निषेक निर्जरित होते हैं, उस प्रकार का आयु निरुपक्रम अर्थात् अपवर्तन रहित है और जिस आयु कर्म के भोगने में पहले तो समय-समय में समान निषेक निर्जरित होते हैं परन्तु उसके अन्तिम भाग में बहुत से निषेक एक साथ निर्जरित हो जायें उस प्रकार की आयु सोपक्रम कहलाती है। आयु कर्म के बन्ध में ऐसी विचित्रता है कि जिसके निरुपक्रम आयु का उदय हो उसके समय-समय समान निर्जरा होती है इसलिये वह उदय कहलाता है और सोपक्रम आयु वाले के पहले अमुक समय तक तो उपरोक्त प्रकार से ही निर्जरा होती है तब उसे उदय कहते हैं, परन्तु अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में सभी निषेक एक साथ निर्जरित हो जाते हैं इसलिये उसे उदीरणा कहते हैं, वास्तव में किसी की आयु बढ़ती या घटती नहीं है परन्तु निरुपक्रम आयु का सोपक्रम आयु से भेद बताने के लिये सोपक्रम आयु वाले जीव की 'अकाल मृत्यु हुई' ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न ०१ - जीव के असाधारण भाव कितने और कौन से हैं ?

उत्तर - जीव के असाधारण भाव पाँच हैं - औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक (मिश्र), औदयिक और पारिणामिक।

प्रश्न ०२ - पाँच भावों के कितने और कौन से भेद हैं ?

उत्तर - पाँच भावों के दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद हैं।

औपशमिक भाव के दो - औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ।

क्षायिक भाव के नौ - केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकवीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र।

क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद - चार ज्ञान - मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय। तीन अज्ञान - कुमति, कुश्रुत, कुअवधि। तीन दर्शन - चक्षु, अचक्षु, अवधि। पाँच लब्धियाँ - क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र, क्षायोपशमिक संयमासंयम।

औदायिक भाव के इक्कीस भेद - चार गति - तिर्यञ्च, नरक, मनुष्य और देव। चार कषाय - क्रोध, मान, माया, लोभ। तीन लिंग - स्त्रीलिंग, पुरुष लिंग, नपुंसकलिंग। १ मिथ्यादर्शन, १ अज्ञान, १ असंयम, १ असिद्धत्व। छह लेश्या - कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल।

पारिणामिक भाव के तीन भेद - जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व।

प्रश्न ०३ – दर्शन और ज्ञान के मध्य क्या भेद है ?

उत्तर – अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञान कहते हैं । सामान्य-विशेषात्मक बाह्य पदार्थ को ग्रहण करने वाला ज्ञान है और सामान्य-विशेषात्मक आत्मस्वरूप को ग्रहण करने वाला दर्शन है।

प्रश्न ०४ – इन्द्रियों के कितने भेद हैं ?

उत्तर – इन्द्रियों के मूल में दो भेद हैं – द्रव्येन्द्रिय एवं भावेन्द्रिय।

द्रव्येन्द्रिय – निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

निर्वृत्ति – पुद्गल विपाकी नामकर्म के उदय से प्रतिनियत स्थान में होने वाली इन्द्रिय रूप पुद्गल की रचना विशेष को बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं। उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण आत्मा के विशुद्ध प्रदेशों का चक्षु आदि इन्द्रियों के आकार जो परिणमन होता है उसे आभ्यंतर निर्वृत्ति कहते हैं। इस प्रकार निर्वत्ति के दो भेद हैं, जो आत्मप्रदेश नेत्रादि इन्द्रियाकार होते हैं वह आभ्यंतर निर्वृत्ति है और उसी आत्म प्रदेश के साथ नेत्रादि आकार रूप जो पुद्गल समूह रहते हैं वह बाह्य निर्वृत्ति है।

उपकरण – निर्वृत्ति का उपकार करने वाला पुद्गल समूह उपकरण है। उसके बाह्य और आभ्यंतर दो भेद हैं। जैसे – नेत्र में सफेद और काला मंडल आभ्यंतर उपकरण है और पलक तथा गट्टा इत्यादि बाह्य उपकरण हैं।

भावेन्द्रिय – लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं।

लब्धि – प्राप्ति अथवा लाभ को लब्धि कहते हैं। आत्मा के चैतन्य गुण का क्षयोपशम हेतुक विकास लब्धि है। उपयोग – चैतन्य के व्यापार को उपयोग कहते हैं।

प्रश्न ०५ – मन का विषय क्या है ?

उत्तर – मन का विषय श्रुतज्ञान गोचर पदार्थ है अथवा मन का प्रयोजन श्रुतज्ञान है।

प्रश्न ०६ – विग्रह गति में जीव और पुद्गलों का गमन कैसे होता है ?

उत्तर – विग्रह गति में जीव और पुद्गलों का गमन आकाश की श्रेणि के ही अनुसार होता है।

श्रेणि – लोक के मध्य भाग के ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशा में क्रमशः हारबद्ध रचना वाले प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणि कहते हैं।

प्रश्न ०७ – विग्रह गति में जीव कम से कम और अधिक से अधिक कितने समय तक अनाहारक रहता है ?

उत्तर – विग्रह गति में जीव कम से कम एक समय और अधिक से अधिक तीन समय अनाहारक रहता है।

प्रश्न ०८ – जीवों के उत्पत्ति स्थान को क्या कहते हैं और उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर – जीवों के उत्पत्ति स्थान को योनि कहते हैं। उसके नौ भेद हैं – सचित्त, शीत, संवृत, अचित्त, उष्ण, विवृत, सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृतविवृत।

प्रश्न ०९ – मुक्त जीव का गमन किस प्रकार होता है ?

उत्तर – मुक्त जीव का गमन वक्रता से रहित सीधा होता है।

प्रश्न १० – एक जीव के कम से कम और अधिक से अधिक कितने शरीर हो सकते हैं ?

उत्तर – एक जीव के कम से कम दो शरीर – तैजस और कार्मण और अधिक से अधिक चार शरीर – तैजस, कार्मण, औदारिक, आहारक अथवा लब्धि निमित्तक वैक्रियक शरीर। जैसे – विष्णु कुमार मुनिराज।

प्रश्न ११ – आहारक शरीर की क्या विशेषता है ?

उत्तर – आहारक शरीर शुभ, विशुद्ध और व्याघात से रहित होता है।

प्रश्न १२ – कौन सा शरीर उपभोग रहित है ?

उत्तर – अंतिम कार्मण शरीर उपभोग रहित है।

प्रश्न १३ – अकाल मरण किन जीवों का नहीं होता ?

उत्तर – देव, नारकी, चरमोत्तम शरीर वाले तथा असंख्यात वर्ष की आयु वाले जीवों का अकाल मरण नहीं होता।

प्रश्न १४ – चरमोत्तम शरीर वाले जीव कौन हैं ?

उत्तर – तद्भव (उसी भव से) मोक्षगामी जीव चरमोत्तम शरीर वाले जीव हैं।

प्रश्न १५ – दूसरे अध्याय में किन-किन विषयों का प्रतिपादन किया गया है ?

उत्तर – दूसरे अध्याय में जीव के असाधारण भाव, संसारी मुक्त जीव की गति, जन्म, योनि, शरीर, लिंग और जिन जीवों का अकाल मरण नहीं होता उन जीवों का वर्णन किया गया है।

....

(स) अधोलोक एवं मध्यलोक का वर्णन

तृतीय अध्याय

अधोलोक का वर्णन

सात नरक पृथ्वियां –

रत्नशर्कराबालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः।। १।।

अर्थ – अधोलोक में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा–ये सात भूमियाँ हैं और क्रम से नीचे–नीचे घनोदधिवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय तथा आकाश का आधार है।

१. रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन भाग हैं – खरभाग, पंकभाग और अब्बहुल भाग, उनमें से ऊपर के पहले दो भागों में व्यन्तर तथा भवनवासी देव रहते हैं और नीचे के अब्बहुल भाग में नारकी रहते हैं। इस पृथ्वी का कुल विस्तार एक लाख अस्सी हजार योजन है। (२००० कोस का एक योजन होता है।)

२. इन पृथ्वियों के रूढ़िगत नाम ये हैं – १. धम्मा २. वंशा ३. मेघा ४. अंजना ५. अरिष्टा ६. मघवी और ७. माघवी।

३. अम्बु (घनोदधि) वातवलय = वाष्प का घना वातावरण। घनवातवलय = घनी हवा का वातावरण। तनुवातवलय = पतली हवा का वातावरण। वातवलय = वातावरण।

'आकाश' कहने से यहाँ अलोकाकाश समझना चाहिये।

सात पृथ्वियों के बिलों की संख्या –

तासु त्रिंशत्पंचविंशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकनरकशतसहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम्।। २।।

अर्थ – उन पृथ्वियों में क्रम से पहली पृथ्वी में ३० लाख, दूसरी में २५ लाख, तीसरी में १५ लाख, चौथी में १० लाख, पाँचवीं में ३ लाख, छटवीं में पाँच कम एक लाख (९९९९५) और सातवीं में ५ ही नरक बिल हैं। (कुल ८४ लाख नरकवास बिल हैं।)

नारकियों के दुःखों का वर्णन –

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणाम देहवेदना विक्रियाः।। ३।।

अर्थ – नारकी जीव सदैव ही अत्यन्त अशुभ लेश्या, परिणाम, शरीर, वेदना और विक्रिया को धारण करते हैं।

लेश्या – यह द्रव्य लेश्या का स्वरूप है जो कि आयु पर्यन्त रहती है। यहाँ शरीर के रंग को द्रव्य लेश्या कहा है। भाव लेश्या अंतर्मुहूर्त में बदल जाती है। अशुभ लेश्या के तीन प्रकार हैं– कृष्ण, नील और कापोत। पहली और दूसरी पृथ्वी में कापोत लेश्या, तीसरी पृथ्वी में ऊपर के भाग में कापोत और नीचे के भाग में नील, चौथी में नील, पाँचवीं में ऊपर के भाग में नील और नीचे के भाग में कृष्ण और छठवीं तथा सातवीं पृथ्वी में कृष्ण लेश्या होती है।

२. परिणाम – यहाँ स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द को परिणाम कहा है।

३. शरीर – पहली पृथ्वी में शरीर की ऊँचाई ७ धनुष ३ हाथ और ६ अंगुल है, वह हुँडक आकार में होता है। तत्पश्चात् नीचे-नीचे की पृथ्वी के नारकियों के शरीर की ऊँचाई क्रमश: दूनी है।

४. वेदना – पहले से चौथे नरक तक उष्ण वेदना है, पाँचवें के ऊपरी भाग में उष्ण और निचले भाग में शीत है तथा छठे और सातवें में महाशीत वेदना है। नारकियों का शरीर वैक्रियिक होने पर भी उनके शरीर के वैक्रियिक पुद्गल मल, मूत्र, कफ, वमन, सड़ा हुआ मांस, हाड़ और चमड़ी वाले औदारिक शरीर से भी अत्यन्त अशुभ होते हैं।

५. विक्रिया – उन नारकियों को क्रूर सिंह व्याघ्रादि रूप अनेक प्रकार के रूप धारण करने की विक्रिया होती है।

नारकी जीव एक दूसरे को दु:ख देते हैं –

परस्परोदीरित दु:खा:।। ४।।

अर्थ – नारकी जीव परस्पर एक-दूसरे को दु:ख उत्पन्न करते हैं। (वे कुत्ते की भांति परस्पर लड़ते हैं।)

विशेष दु:ख –

संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदु:खाश्च प्राक् चतुर्थ्या:।। ५।।

अर्थ – नारकी जीव चौथी पृथ्वी से पहले-पहले (अर्थात् तीसरी पृथ्वी पर्यन्त) अत्यन्त संक्लिष्ट परिणाम के धारक अम्ब-अम्बरीष आदि जाति के असुर कुमार देवों के द्वारा दु:ख पाते हैं अर्थात् अम्ब-अम्बरीष असुर कुमार देव तीसरे नरक तक जाकर नारकी जीवों को दु:ख देते हैं तथा उनके पूर्व के बैर का स्मरण करा-कराकर परस्पर लड़ाते हैं और दु:खी देख राजी होते हैं।

नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण –

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थिति:।। ६।।

अर्थ – उन नरकों के नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयु स्थिति क्रम से पहले में एक सागर, दूसरे में तीन सागर, तीसरे में सात सागर, चौथे में दस सागर, पाँचवें में सत्रह सागर, छठे में बाईस सागर और सातवें में तैंतीस सागर है।

१. नरक गति में भयानक दु:ख होने पर भी नारकियों की आयु निरुपक्रम है, उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती।

२. आयु का यह काल वर्तमान मनुष्यों की आयु की अपेक्षा लम्बा लगता है, परन्तु जीव अनादिकाल से है और मिथ्यादृष्टि होने के कारण यह नारकीपना जीव ने अनन्तबार भोगा है।

सागर काल का परिमाण –

व्यवहार पल्योपम – एक योजन (२००० कोस) प्रमाण गोल व उतने ही गहरे गड्ढे में एक से सात दिन तक के 'उत्तम भोग भूमि' के भेड़ के बच्चे के बालों से, जिसका कोई दूसरा टुकड़ा न हो सके, ऐसे बालों से ठसाठस भर दें, इस गड्ढे को 'व्यवहार पल्य' कहते हैं। प्रति सौ वर्ष में एक बाल निकालने पर जितने समय में गड्ढा खाली हो जाये उसे 'व्यवहार पल्योपम' कहते हैं।

उद्धार पल्योपम – असंख्यात करोड़ वर्षों का जितना समय है, उतने समयों में प्रत्येक रोम खण्ड को गुणा करें और इस प्रकार के रोम खण्डों को फिर उस गड्ढे में भर दें, इस गड्ढे का नाम 'उद्धार पल्य' है। पुन:

एक-एक समय में एक-एक रोम निकालें जितने समय में वह गड्ढा खाली हो जाये उसे 'उद्धार पल्योपम' कहते हैं।

अद्धा पल्योपम - एक सौ वर्ष के जिनते समय होते हैं, उनसे उद्धार पल्य के प्रत्येक रोम को गुणित करें और ऐसे रोम खण्डों से फिर उस गड्ढे को भर दें, इस गड्ढे को 'अद्धा पल्य' कहते हैं, फिर एक-एक समय के बाद एक-एक रोम निकालें, जितने समय में वह गड्ढा खाली हो जाये उस समय को 'अद्धा पल्योपम' कहते हैं।

सागर - दस कोड़ाकोड़ी अद्धा पल्यों का एक सागर होता है।

मध्यलोक का वर्णन -

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः।। ७।।

अर्थ - इस मध्यलोक में अच्छे-अच्छे नाम वाले जम्बूद्वीप इत्यादि द्वीप और लवण समुद्र इत्यादि समुद्र हैं। सबसे बीच में थाली के आकार का जम्बूद्वीप है, जिसमें हम लोग और श्री सीमंधर प्रभु इत्यादि रहते हैं। उसके बाद लवण समुद्र है। उसके चारों ओर धातकी खंड द्वीप है, उसके चारों ओर कालोदधि समुद्र है, उसके चारों ओर पुष्करवर द्वीप है और उसके चारों ओर पुष्करवर समुद्र है-इस तरह एक दूसरे को घेरे हुए असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, सबसे अंतिम द्वीप स्वयंभूरमण द्वीप है और अंतिम समुद्र स्वयंभूरमण समुद्र है। कुल द्वीप-समुद्र ढाई उद्धार सागर प्रमाण हैं। (इस विषय का विशद् वर्णन इसी प्रति में जैन सिद्धांत प्रवेशिका के प्रश्न क्र. ४६७ से ४७१ तक दिया गया है।)

द्वीप और समुद्रों का विस्तार तथा आकार -

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्व परिक्षेपिणो वलयाकृतयः।। ८।।

अर्थ - प्रत्येक द्वीप-समुद्र दूने-दूने विस्तार वाले और पहले-पहले के द्वीप-समुद्रों को घेरे हुए चूड़ी के आकार वाले हैं।

जम्बूद्वीप का विस्तार तथा आकार -

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः।। ९।।

अर्थ - उन सब द्वीप-समुद्रों के बीच में जम्बूद्वीप है, उसकी नाभि के समान सुदर्शन मेरु है तथा जम्बूद्वीप थाली के समान गोल है और एक लाख योजन उसका विस्तार है।

१. सुदर्शन मेरु की ऊंचाई एक लाख योजन की है, उसमें से वह एक हजार योजन नीचे जमीन में और निन्यान्वे हजार योजन जमीन के ऊपर है, इसके अतिरिक्त ४० योजन की चूलिका है। [सभी अकृत्रिम वस्तुओं के माप में २००० कोस का योजन लिया जाता है, उसके अनुसार यहाँ समझना चाहिये।]

२. कोई भी गोल परिधि उसके व्यास से, तिगुने कुछ अधिक (२२/७) होती है। जम्बूद्वीप की परिधि ३१६२२७ योजन ३ कोस १२८ धनुष १३।। अंगुल से कुछ अधिक है।

३. इस द्वीप के विदेह क्षेत्र में विद्यमान उत्तरकुरु भोगभूमि में अनादिनिधन पृथ्वीकाय रूप अकृत्रिम परिवार सहित जम्बू वृक्ष हैं इसलिये इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप है।

सात क्षेत्रों के नाम –

भरत हैमवतहरि विदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि।। १०।।

अर्थ – इस जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

क्षेत्रों के सात विभाग करने वाले छह पर्वतों के नाम –

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः।। ११।।

अर्थ – उन सात क्षेत्रों के विभाग करने वाले पूर्व से पश्चिम तक लम्बे १. हिमवन्, २. महाहिमवन् ३. निषध ४. नील, ५. रुक्मि और ६. शिखरिन् ये छह वर्षधर–कुलाचलपर्वत हैं। [वर्ष=क्षेत्र]

कुलाचलों का रंग –

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः।। १२।।

अर्थ – ऊपर कहे गये पर्वत क्रम से १. स्वर्ण २. चाँदी ३. तपाया सोना, ४. वैडूर्य (नील) मणि ५. चाँदी और ६. स्वर्ण जैसे रंग के हैं।

कुलाचलों का विशेष स्वरूप –

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्य विस्ताराः।। १३।।

अर्थ – इन पर्वतों का तट चित्र–विचित्र मणियों का है और ऊपर–नीचे तथा मध्य में एक समान विस्तार वाला है।

कुलाचलों के ऊपर स्थित सरोवरों के नाम –

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेशरिमहापुंडरीकपुंडरीका ह्रदास्तेषामुपरि।। १४।।

अर्थ – इन पर्वतों के ऊपर क्रम से १. पद्म २. महापद्म ३. तिगिञ्छ ४. केशरि ५. महापुण्डरीक और ६. पुण्डरीक नाम के ह्रद अर्थात् सरोवर हैं।

प्रथम सरोवर की लम्बाई–चौड़ाई –

प्रथमो योजन सहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः।। १५।।

अर्थ – पहला पद्म सरोवर १००० योजन लम्बा और लम्बाई से आधा अर्थात् ५०० योजन चौड़ा है।

प्रथम सरोवर की गहराई –

दशयोजनावगाहः।। १६।।

अर्थ – पहला सरोवर दश योजन अवगाह (गहराई) वाला है ।

उसके मध्य में क्या है ?

तन्मध्ये योजनं पुष्करम्।। १७।।

अर्थ – उसके बीच में एक योजन विस्तार वाला कमल है।

महापद्मादि सरोवरों तथा उनमें रहने वाले कमलों का प्रमाण –

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदा पुष्कराणि च।। १८।।

अर्थ – आगे के सरोवर तथा कमल, पहले के सरोवर तथा कमलों से क्रम से दूने–दूने विस्तार वाले हैं। यह दूना–दूना क्रम तिगिञ्छ नाम के तीसरे सरोवर तक है, बाद में उसके आगे के तीन सरोवर तथा उनके तीन

कमल दक्षिण के सरोवर और कमलों के समान विस्तार वाले हैं।

ह्रदों का विस्तार आदि

क्र.	ह्रद का नाम	स्थान	लम्बाई योजन	चौड़ाई योजन	गहराई योजन	कमल योजन	देवी
१	पद्म	हिमवन्	१०००	५००	१०	१	श्री
२	महापद्म	महाहिमवन्	२०००	१०००	२०	२	ह्री
३	तिगिञ्छ	निषध	४०००	२०००	४०	४	धृति
४	केशरी (केशरीन)	नील	४०००	२०००	४०	४	कीर्ति
५	महापुण्डरीक	रुक्मिन्	२०००	१०००	२०	२	बुद्धि
६	पुण्डरीक	शिखरिन्	१०००	५००	१०	१	लक्ष्मी

छह कमलों में रहने वाली छह देवियाँ –

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः।। १९।।

अर्थ – एक पल्योपम आयु वाली और सामानिक तथा पारिषद् जाति के देवों सहित श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नाम की देवियाँ क्रम से उन सरोवरों के कमलों पर निवास करती हैं।

ऊपर कहे हुए कमलों की कर्णिका के मध्य भाग में एक कोस लम्बे, आधा कोस चौड़े और एक कोस से कुछ कम लम्बे सफेद रंग के भवन हैं, उनमें वे देवियाँ रहती हैं और उन तालाबों में जो अन्य परिवार कमल हैं उनके ऊपर सामानिक तथा पारिषद् देव रहते हैं।

चौदह महानदियों के नाम –

गंगासिंधुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदा नारीनरकांता सुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः।। २०।।

अर्थ – (भरत में) गंगा, सिंधु, (हैमवत में) रोहित, रोहितास्या, (हरिक्षेत्र में) हरित, हरिकान्ता, (विदेह क्षेत्र में) सीता, सीतोदा, (रम्यक् में) नारी, नरकान्ता, (हैरण्यवत् में) स्वर्णकूला, रूप्यकूला और (ऐरावत में) रक्ता, रक्तोदा, इस प्रकार ऊपर कहे हुए सात क्षेत्रों में चौदह नदियाँ बीच में बहती हैं।

नदियों के बहने का क्रम –

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः।। २१।।

अर्थ – (ये चौदह नदियाँ दो के समूह में लेना चाहिये) हर एक दो के समूह में से पहली नदी पूर्व की ओर बहती है (और उस दिशा के समुद्र में मिलती है।)

शेषास्त्वपरगाः।। २२।।

अर्थ – बाकी रही सात नदियाँ पश्चिम की ओर बहती हैं (और उस दिशा के समुद्र में मिलती हैं)।

इन चौदह महानदियों की सहायक नदियाँ –

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः।। २३।।

अर्थ – गंगा-सिन्धु आदि नदियों के युगल चौदह हजार सहायक नदियों से घिरे हुए हैं।
सहायक नदियों की संख्या का क्रम भी विदेह क्षेत्र तक आगे के युगलों में पहले युगलों से दूना-दूना है और उत्तर के तीन क्षेत्रों में दक्षिण के तीन क्षेत्रों के समान है।

नदी युगल	**सहायक नदियों की संख्या**
गंगा-सिन्धु	१४ हजार
रोहित-रोहितास्या	२८ हजार
हरित-हरिकान्ता	५६ हजार
सीता-सीतोदा	१ लाख १२ हजार
नारी-नरकान्ता	५६ हजार
स्वर्णकूला-रूप्यकूला	२८ हजार
रक्ता-रक्तोदा	१४ हजार

भरत क्षेत्र का विस्तार

भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य।। २४।।

अर्थ – भरत क्षेत्र का विस्तार, पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से ६ भाग अधिक है। अर्थात् ५२६, ६/१९ योजन है।

आगे के क्षेत्र और पर्वतों का विस्तार –

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः।। २५।।

अर्थ – विदेह क्षेत्र तक के पर्वत और क्षेत्र भरत क्षेत्र से दूने-दूने विस्तार वाले हैं।। २५।।

विदेह क्षेत्र के आगे के पर्वत और क्षेत्रों का विस्तार –

उत्तरा दक्षिणतुल्याः।। २६।।

अर्थ – विदेह क्षेत्र से उत्तर के तीन पर्वत और क्षेत्र दक्षिण के पर्वत और क्षेत्रों के समान विस्तार वाले हैं।

भरत और ऐरावत क्षेत्र में कालचक्र का परिवर्तन –

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्।। २७ ।।

अर्थ – छह कालों से युक्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्र में जीवों के अनुभव आदि की वृद्धि-हानि होती रहती है।

(नोट: षट्काल चक्र से संबंधित विशद् विवेचन का अध्ययन द्वितीय वर्ष में कर चुके हैं।)

अन्य भूमियों की व्यवस्था –

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः।। २८।।

अर्थ – भरत और ऐरावत क्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्रों में एक ही अवस्था रहती है – उनमें काल का परिवर्तन नहीं होता।

हैमवतक इत्यादि क्षेत्रों में आयु –

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः।। २९।।

अर्थ – हैमवतक, हारिवर्षक और देवकुरु (विदेह क्षेत्र के अन्तर्गत एक विशेष स्थान) के मनुष्य और तिर्यञ्च क्रम से एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य की आयु वाले होते हैं।

इन तीन क्षेत्रों के मनुष्यों की ऊँचाई क्रम से एक, दो और तीन कोस की होती है। शरीर का रंग नीलकमल की तरह नील, हंस की तरह शुक्ल और सोने जैसा पीत होता है।

हैरण्यवतकादि क्षेत्रों में आयु –

तथोत्तराः।। ३०।।

अर्थ – उत्तर के क्षेत्रों में रहने वाले मनुष्य भी हैमवतकादिक के मनुष्यों के समान आयु वाले होते हैं।

१. हैरण्यवतक क्षेत्र की रचना हैमवत के समान, रम्यक् क्षेत्र की रचना हरिक्षेत्र के समान और उत्तरकुरु (विदेह क्षेत्र के अन्तर्गत स्थान विशेष) की रचना देवकुरु के समान है।

२. भोगभूमि – इस तरह उत्तम, मध्यम और जघन्य रूप तीन भोगभूमि के दो-दो क्षेत्र हैं। जम्बूद्वीप में छह भोगभूमियाँ और अढ़ाई द्वीप में कुल ३० भोगभूमियाँ हैं। जहाँ सर्व प्रकार की सामग्री कल्प वृक्षों से प्राप्त होती है उन्हें भोगभूमि कहते हैं।

विदेह क्षेत्र में आयु की व्यवस्था –

विदेहेषु संख्येयकालाः।। ३१।।

अर्थ – विदेह क्षेत्रों में मनुष्य और तिर्यञ्चों की आयु संख्यात वर्ष की होती है।

विदेह क्षेत्र में ऊँचाई पाँच सौ धनुष और आयु एक करोड़ वर्ष पूर्व की होती है।

भरत क्षेत्र का दूसरी तरह से विस्तार –

भरतस्य विष्कंभो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः।। ३२।।

अर्थ – भरत क्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप के एक सौ नब्बेवाँ (१९०) भाग के बराबर है।

२४ वें सूत्र में भरत क्षेत्र का विस्तार बताया है उसमें और इसमें कोई अन्तर नहीं है मात्र कहने का प्रकार भिन्न है। जो एक लाख के १९० हिस्से किये जायें तो हर एक हिस्से का प्रमाण ५२६,६/१९ योजन होता है।

धातकीखंड का वर्णन –

द्विर्धातकीखण्डे।। ३३।।

अर्थ – धातकी खंड नाम के दूसरे द्वीप में क्षेत्र, कुलाचल, मेरु, नदी इत्यादि सब पदार्थों की रचना जम्बूद्वीप से दूनी-दूनी है।

धातकी खंड लवण समुद्र को घेरे हुए है। उसका विस्तार चार लाख योजन है। उसके उत्तर कुरु प्रान्त में धातकी (आंवले) के वृक्ष हैं इसलिये उसे धातकी खंड कहते हैं।

पुष्करार्ध द्वीप का वर्णन –

पुष्करार्द्धे च।। ३४।।

अर्थ – पुष्करार्द्ध द्वीप में सब रचना जम्बूद्वीप की रचना से दूनी-दूनी है।

पुष्करवर द्वीप का विस्तार १६ लाख योजन है, उसके बीच में चूड़ी के आकार का मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है। जिससे उस द्वीप के दो हिस्से हो गये हैं। पूर्वार्द्ध में सारी रचना धातकी खंड के समान है और जम्बूद्वीप से दूनी है। इस द्वीप के उत्तरकुरु प्रान्त में एक पुष्कर (कमल) है, इसलिये उसे पुष्करवर द्वीप कहते हैं।

मनुष्य क्षेत्र –

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्यः।। ३५।।

अर्थ – मानुषोत्तर पर्वत तक अर्थात् अढ़ाई द्वीप में ही मनुष्य होते हैं, मानुषोत्तर पर्वत से परे ऋद्धिधारी मुनि या विद्याधर भी नहीं जा सकते।

१. जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, धातकी खंड, कालोदधि और पुष्करार्ध – इतना क्षेत्र अढ़ाई द्वीप है, इसका विस्तार ४५ लाख योजन है।

२. केवली समुद्घात और मारणांतिक समुद्घात के प्रसंग के अतिरिक्त मनुष्य के आत्मप्रदेश ढाई द्वीप के बाहर नहीं जा सकते।

मनुष्यों के भेद –

आर्या म्लेच्छाश्च।। ३६।।

अर्थ – आर्य और म्लेच्छ के भेद से मनुष्य दो प्रकार के हैं।

आर्यों के दो भेद हैं – ऋद्धि प्राप्त आर्य और अनऋद्धि प्राप्त आर्य। ऋद्धि प्राप्त आर्य – जिन आर्य जीवों को विशेष शक्ति प्राप्त हो। अनऋद्धि प्राप्त आर्य – जिन आर्य जीवों को विशेष शक्ति प्राप्त नहीं हो।

म्लेच्छ – म्लेच्छ मनुष्य दो प्रकार के हैं – कर्मभूमिज और अन्तर्द्वीपज। १. पाँच भरत के पाँच खंड, पाँच ऐरावत के पाँच खंड और विदेह के आठ सौ खंड, इस प्रकार (२५+२५+८००) आठ सौ पचास म्लेच्छ क्षेत्र हैं, उनमें उत्पन्न हुए मनुष्य कर्मभूमिज हैं, २. लवण समुद्र में अड़तालीस द्वीप तथा कालोदधि समुद्र में अड़तालीस, दोनों मिलकर छियानवे द्वीप में कुभोग–भूमियाँ मनुष्य हैं, उन्हें अंतर्द्वीपज म्लेच्छ कहते हैं। उन अंतर्द्वीपज म्लेच्छ मनुष्यों के चेहरे विचित्र प्रकार के होते हैं, उनके मनुष्यों के शरीर (धड़) और उनके ऊपर हाथी, रीछ, मछली इत्यादि का सिर, बहुत लम्बे कान, एक पैर, पूँछ इत्यादि होती है। उनकी आयु एक पल्य की होती है और वृक्षों के फल मिट्टी इत्यादि उनका भोजन है।

कर्मभूमि का वर्णन –

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः।। ३७।।

अर्थ – पाँच मेरु सम्बधी पाँच भरत, पाँच ऐरावत, देवकुरु तथा उत्तरकुरु ये दोनों छोड़कर पाँच विदेह, इस प्रकार अढ़ाई द्वीप में कुल पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं।

जहाँ असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प इन छह कर्म की प्रवृत्ति हो उसे कर्मभूमि कहते हैं। विदेह के एक मेरु सम्बंधी बत्तीस भेद हैं और पाँच विदेह हैं, उनके ३२×५=१६० क्षेत्र पाँच विदेह के हुए और पाँच भरत तथा पाँच ऐरावत ये दस मिलकर कुल पन्द्रह कर्मभूमियों के १७० क्षेत्र हैं। ये पवित्रता के धर्म के क्षेत्र हैं और मुक्ति प्राप्त करने वाले मनुष्य वहाँ ही जन्म लेते हैं।

मनुष्यों की उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु –

नृस्थिती पराऽवरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते।। ३८।।

अर्थ – मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य और जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त की है।

तिर्यञ्चों की आयु स्थिति –

तिर्यग्योनिजानां च।। ३९।।

अर्थ – तिर्यञ्चों की आयु की उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति उतनी ही (मनुष्यों जितनी) है।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न ०१ - नरकों की सात पृथ्वियों के नाम क्या हैं और उनमें कितने बिल हैं ?

उत्तर - नरकों की सात पृथ्वियों के नाम – १. रत्नप्रभा, २. शर्कराप्रभा, ३. बालुकाप्रभा, ४. पंकप्रभा, ५. धूमप्रभा, ६. तमप्रभा, ७. महातमप्रभा। उन पृथ्वियों में क्रमश: पहली पृथ्वी में ३० लाख, दूसरी पृथ्वी में २५ लाख, तीसरी में १५ लाख, चौथी में १० लाख, पाँचवीं में ३ लाख, छटवीं में पाँच कम एक लाख (९९९९५) और सातवीं में ५ ही नरक बिल हैं। कुल ८४ लाख नरकवास बिल हैं।

प्रश्न ०२ - सातों नरक की उत्कृष्ट आयु क्या है ?

उत्तर - नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयु स्थिति क्रम से पहले में एक सागर, दूसरे में तीन सागर, तीसरे में सात सागर, चौथे में दस सागर, पाँचवें में सत्रह सागर, छटवें में बाईस सागर, सातवें में तैंतीस सागर है।

प्रश्न ०३ - असंज्ञी जीव, सरीसृप, पक्षी और सर्प आदि कौन से नरक तक जा सकते हैं ?

उत्तर - असंज्ञी जीव पहले नरक, सरीसृप दूसरे नरक, पक्षी तीसरे नरक, और सर्प आदि चौथे नरक तक जा सकते हैं।

प्रश्न ०४ - सिंह, मत्स्य और मनुष्य आदि कौन से नरक तक जा सकते हैं ?

उत्तर - सिंह, मत्स्य और मनुष्य आदि सातवें नरक तक जा सकते हैं।

प्रश्न ०५ - प्रथम आदि नरकों में जीव लगातार कितनी बार जा सकता है ?

उत्तर - प्रथम नरक में आठ बार, दूसरे नरक में सात बार, तीसरे नरक में छह बार, चौथे नरक में पाँच बार, पाँचवें नरक में चार बार, छटवें नरक में तीन बार, सातवें नरक में दो बार लगातार जा सकता है।

प्रश्न ०६ - पहले, दूसरे, तीसरे नरक से निकलकर जीव क्या हो सकता है ?

उत्तर - पहले, दूसरे, तीसरे नरक से निकल कर जीव तीर्थंकर हो सकता है।

प्रश्न ०७ - चौथे, पाँचवें, छटवें, सातवें नरक से निकल कर जीव क्या हो सकता है ?

उत्तर - चौथे से निकलकर महाव्रती, पाँचवें से निकलकर देशव्रती, छटवें से निकलकर अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य और सातवें नरक से निकलकर जीव पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च होता है।

प्रश्न ०८ - जम्बूद्वीप में सात क्षेत्रों का विभाजन किस प्रकार होता है ?

उत्तर - जम्बूद्वीप में सात क्षेत्रों का विभाजन छह कुलाचलों (पर्वतों) के द्वारा होता है।

प्रश्न ०९ - जम्बूद्वीप के छह कुलाचल के नाम वर्ण सहित लिखिये ?

उत्तर - जम्बूद्वीप के छह कुलाचल हिमवन्, महाहिमवन्, निषध, नील, रुक्मिन्, शिखरिन् हैं। हिमवन् का रंग सोने जैसा, महाहिमवन् का चाँदी जैसा, निषध का तपाये हुए सोने जैसा (लाल), नील का वैडूर्य (नीलमणी) जैसा, रूक्मिन् का चाँदी जैसा, शिखरिन् का सोने जैसा वर्ण है।

प्रश्न १० - हिमवन् आदि पर्वतों पर कौन-कौन से सरोवर हैं ?

उत्तर - हिमवन् पर पद्म सरोवर, महाहिमवन् पर महापद्म सरोवर, निषध पर केसरी सरोवर, रुक्मिन् पर महापुंडरीक और शिखरिन् पर्वत पर पुंडरीक सरोवर हैं।

प्रश्न ११ - जम्बूद्वीप की चौदह महानदियों के नाम क्या हैं और वे किस दिशा में बहती हैं ?

उत्तर - गंगा, सिन्धु , रोहित, रोहितास्या, हरित, हरिकांता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकांता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता, रक्तोदा ये चौदह महानदियाँ हैं। इन सात युगलों में से पहली-पहली गंगा, रोहित आदि सात नदियाँ पूर्व दिशा में बहती हैं। शेष सात नदियाँ सिन्धु आदि पश्चिम दिशा में बहती हैं।

प्रश्न १२ - हैमवत क्षेत्र, हरिक्षेत्र और देवकुरू में जीवों की आयु और शरीर की ऊँचाई कितनी है ?

उत्तर - हैमवत क्षेत्र में जीवों की आयु एक पल्य और शरीर की ऊँचाई दो हजार धनुष, हरिक्षेत्र में आयु दो पल्य और शरीर की ऊँचाई चार हजार धनुष और देवकुरू में जीवों की आयु तीन पल्य और शरीर की ऊँचाई छह हजार धनुष है।

प्रश्न १३ - कर्म भूमि किसे कहते हैं ?

उत्तर - जहाँ असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प इन छह कार्य की प्रवृत्ति हो उसे कर्मभूमि कहते हैं।

प्रश्न १४ - कल्पवृक्ष कितने व कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - कल्पवृक्ष दस प्रकार के होते हैं -

१. मद्यांग, २. वादित्रांग, ३. भूषणांग, ४. माल्यांग, ५. ज्योतिरांग, ६. दीपांग, ७. ग्रहांग, ८. भोजनांग, ९. भाजनांग, १०. वस्त्रांग।

प्रश्न १५ - मनुष्यों और तिर्यञ्चों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु कितनी होती है ?

उत्तर - मनुष्यों और तिर्यञ्चों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य और जघन्य आयु अंतर्मुहूर्त है।

....

(द) ऊर्ध्वलोक का वर्णन

चतुर्थ अध्याय

ऊर्ध्वलोक का वर्णन

देवों के भेद –

देवाश्चतुर्णिकायाः ।। १ ।।

अर्थ – देव चार समूह वाले हैं अर्थात् देवों के चार भेद हैं – १. भवनवासी, २. व्यंतर, ३. ज्योतिषी और ४. वैमानिक।

देव – जो जीव देवगति नामकर्म के उदय से अनेक द्वीप, समुद्र तथा पर्वतादि रमणीक स्थानों में क्रीड़ा करते हैं उन्हें देव कहते हैं।

भवनत्रिक देवों में लेश्या का विभाग –

आदितस्त्रिषु पीतांतलेश्याः ।। २ ।।

अर्थ – पहले के तीन निकायों में पीत तक अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएँ होती हैं।

१. कृष्ण – काली, नील – नीले रंग की, कापोत – कबूतर के रंग जैसी, पीत – पीली।

२. यह वर्णन भाव लेश्या का है। वैमानिक देवों की भाव लेश्या का वर्णन इस अध्याय के २२ वें सूत्र में दिया है।

चार निकाय के देवों के प्रभेद –

दशाष्टपंचद्वादश विकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यंताः ।। ३ ।।

अर्थ – कल्पोपन्न (सोलहवें स्वर्ग तक के देव) पर्यन्त इन चार प्रकार के देवों के क्रम से दश, आठ, पाँच और बारह भेद हैं।

भवनवासियों के दश, व्यन्तरों के आठ, ज्योतिषियों के पाँच और कल्पोपन्न देवों के बारह भेद हैं। [कल्पोपपन्न देव वैमानिक जाति के ही हैं]।

चार प्रकार के देवों के सामान्य भेद –

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्य किल्विषिकाश्चैकशः ।। ४ ।।

अर्थ – ऊपर कहे हुए चार प्रकार के देवों में हर एक के दश भेद हैं – १. इन्द्र, २. सामानिक, ३. त्रायस्त्रिंश, ४. पारिषद, ५. आत्मरक्ष, ६. लोकपाल, ७. अनीक, ८. प्रकीर्णक, ९. आभियोग्य और १०. किल्विषिक।

१. इन्द्र – जो देव दूसरे देवों में नहीं रहने वाली अणिमादिक ऋद्धियों सहित हों उन्हें इन्द्र कहते हैं। यह देव राजा के समान होते हैं।

२. सामानिक – जिन देवों के आयु, वीर्य, भोग–उपभोग इत्यादि इन्द्र के समान होते हैं, तो भी आज्ञारूपी ऐश्वर्य से रहित होते हैं, वे सामानिक देव कहलाते हैं। वे देव, पिता या गुरु के समान होते हैं।

३. त्रायस्त्रिंश – जो देव मंत्री–पुरोहित के स्थान योग्य होते हैं उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं। एक इन्द्र की सभा में ऐसे तैंतीस देव होते हैं।

४. पारिषद् – जो देव इन्द्र की सभा में बैठने वाले होते हैं उन्हें पारिषद् कहते हैं।
५. आत्मरक्ष – जो देव अंगरक्षक के समान होते हैं उन्हें आत्मरक्ष कहते हैं।
(नोट – देवों में घात इत्यादि नहीं होता, तो भी ऋद्धि महिमा के प्रदर्शक आत्मरक्ष देव होते हैं।)
६. लोकपाल – जो देव कोतवाल (फौजदार) के समान लोगों का पालन करें उन्हें लोकपाल कहते हैं।
७. अनीक – जो देव पैदल इत्यादि सात प्रकार की सेना में विभक्त रहते हैं उन्हें अनीक कहते हैं।
८. प्रकीर्णक – जो देव नगरवासियों के समान होते हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं।
९. आभियोग्य – जो देव, दासों की तरह सवारी आदि के काम आते हैं उन्हें आभियोग्य कहते हैं। इस प्रकार के देव घोड़ा, सिंह, हंस इत्यादि प्रकार के वाहन रूप (दूसरे देवों के उपयोग के लिये) अपना रूप बनाते हैं।
१०. किल्विषिक – जो देव चांडालादि की भांति हल्के दरजे के काम करते हैं उन्हें किल्विषिक कहा जाता है।

व्यंतर और ज्योतिषी देवों में इन्द्र आदि भेदों की विशेषता –

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः।। ५।।

अर्थ – ऊपर जो दश भेद कहे हैं उनमें से त्रायस्त्रिंश और लोकपाल ये भेद व्यंतर और ज्योतिषी देवों में नहीं होते अर्थात् उनमें दो भेदों को छोड़कर बाकी के आठ भेद होते हैं।

देवों में इन्द्र की व्यवस्था –

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः।। ६।।

अर्थ – भवनवासी और व्यंतरों में प्रत्येक भेद में दो-दो इन्द्र होते हैं।
१. भवनवासियों के दश भेद हैं इसलिये उनमें बीस इन्द्र होते हैं। व्यंतरों के आठ भेद हैं इसलिये उनमें सोलह इन्द्र होते हैं और दोनों में इतने ही (इन्द्र जितने ही) प्रतीन्द्र होते हैं।
२. जो देव युवराज के समान अथवा इन्द्र के समान होते हैं अर्थात् जो देव इन्द्र जैसा कार्य करते हैं उन्हें प्रतीन्द्र कहते हैं। (त्रिलोकप्रज्ञप्ति, पृष्ठ ११८-११९)
३. श्री तीर्थंकर भगवान सौ इन्द्रों से पूज्य होते हैं, वे इन्द्र निम्नलिखित हैं – भवनवासियों के ४० – बीस इन्द्र और बीस प्रतीन्द्र। व्यन्तरों के ३२ – सोलह इन्द्र और सोलह प्रतीन्द्र। सोलह स्वर्गों में २४ – प्रथम के चार देवलोकों के चार, मध्यम के आठ देवलोकों के चार और अंत के चार देवलोकों के चार, इस प्रकार बारह इन्द्र और बारह प्रतीन्द्र। ज्योतिषी देवों के २ – चन्द्रमा इन्द्र और सूर्य प्रतीन्द्र। मनुष्यों के १- चक्रवर्ती इन्द्र। तिर्यञ्चों के १- अष्टापद – सिंह इन्द्र।

देवों का काम-सेवन सम्बंधी वर्णन –

कायप्रवीचारा आ ऐशानात्।। ७।।

अर्थ – ऐशान स्वर्ग तक के देव (अर्थात् भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और पहले तथा दूसरे स्वर्ग के देव) मनुष्यों की भांति शरीर से काम-सेवन करते हैं।

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः प्रवीचाराः।। ८।।

अर्थ – शेष स्वर्ग के देव, देवियों के स्पर्श से, रूप देखने से, शब्द सुनने से और मन के विचारों से काम-सेवन करते हैं।

तीसरे और चौथे स्वर्ग के देव-देवियों के स्पर्श से। पाँचवें से आठवें स्वर्ग तक के देव-देवियों के रूप देखने से। नववें से बारहवें स्वर्ग तक के देव-देवियों के शब्द सुनने से और तेरहवें से सोलहवें स्वर्ग तक के देव - देवियों सम्बंधी मन के विचार मात्र से तृप्त हो जाते हैं, उनकी कामेच्छा शांत हो जाती है।

परेऽप्रवीचाराः ।। ९ ।।

अर्थ - सोलहवें स्वर्ग से आगे के देव काम-सेवन रहित हैं।

इस सूत्र में 'परे' शब्द से कल्पातीत (सोलहवें स्वर्ग से ऊपर के) सब देवों का संग्रह किया गया है, इसलिये यह समझना चाहिये कि अच्युत (सोलहवें) स्वर्ग के ऊपर नव ग्रैवेयक के ३०९ विमान, ९ अनुदिश विमान और ५ अनुत्तर विमानों में बसने वाले अहमिन्द्र हैं, उनके काम-सेवन के भाव नहीं हैं, यहाँ देवांगनायें नहीं हैं। (सोलहवें स्वर्ग से ऊपर के देवों में भेद नहीं है, सभी समान होते हैं, इसलिये अहमिन्द्र कहलाते हैं।)

भवनवासी देवों के दश भेद -

भवनवासिनोऽसुरनाग विद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ।। १० ।।

अर्थ - भवनवासी देवों के दश भेद हैं - १. असुरकुमार, २. नागकुमार, ३. विद्युत् कुमार, ४. सुपर्णकुमार, ५. वातकुमार, ६. अग्निकुमार, ७. स्तनितकुमार, ८. उदधिकुमार, ९. द्वीपकुमार और १०. दिक्कुमार।

२० वर्ष से नीचे के युवक का जैसा जीवन और आदत होती है वैसा ही जीवन और आदत इन देवों के भी होती है, इसलिये उन्हें कुमार कहते हैं।

उनके रहने का स्थान निम्न प्रकार है -

प्रथम पृथ्वी-रत्नप्रभा में तीन भूमियाँ हैं, उनमें पहली भूमि को 'खरभाग' कहते हैं, उसमें असुरकुमार को छोड़कर नौ प्रकार के भवनवासी देव रहते हैं।

जिस भूमि में असुरकुमार रहते हैं उस भाग को 'पंकभाग' कहते हैं, उसमें राक्षस भी रहते हैं। 'पंकभाग' रत्नप्रभा पृथ्वी का दूसरा भाग है।

रत्नप्रभा का तीसरा (सबसे नीचा) भाग 'अब्बहुल' कहलाता है, वह पहला नरक है।

भवनवासी देवों की यह असुरकुमारादि दश प्रकार की संज्ञा उन-उन प्रकार के नामकर्म के उदय से होती है ऐसा जानना चाहिये।

व्यंतर देवों के आठ भेद -

व्यंतराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूत पिशाचाः ।। ११ ।।

अर्थ - व्यन्तर देवों के आठ भेद हैं - १. किन्नर, २. किंपुरुष, ३. महोरग, ४. गन्धर्व, ५. यक्ष, ६. राक्षस, ७. भूत और ८. पिशाच।

१. कुछ व्यंतरदेव जम्बूद्वीप तथा दूसरे असंख्यात द्वीप समूद्रों में रहते हैं। राक्षस रत्नप्रभा पृथ्वी के 'पंकभाग' में रहते हैं और राक्षसों को छोड़कर दूसरे सात प्रकार के व्यंतरदेव 'खरभाग' में रहते हैं।

२. जुदी-जुदी दिशाओं में इन देवों का निवास है, इसलिये उन्हें व्यंतर कहते हैं।

३. पवित्र वैक्रियिक शरीर के धारी देव कभी भी मनुष्यों के अपवित्र औदारिक शरीर के साथ काम सेवन नहीं

करते, देवों के मांस भक्षण कभी होता ही नहीं। देवों को कंठ से झरने वाला अमृत का आहार होता है, किन्तु कवलाहार नहीं होता।

४. व्यंतर देवों का आवास – द्वीप, पर्वत, समुद्र, देश, ग्राम, नगर, तिराहा, चौराहा, घर, आंगन, रास्ता, पानी का घाट, बाग, वन, देवकुल इत्यादि असंख्यात स्थान हैं।

ज्योतिषी देवों के पाँच भेद –

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च।। १२।।

अर्थ – ज्योतिषी देवों के पाँच भेद हैं – १. सूर्य, २. चन्द्रमा, ३. ग्रह, ४. नक्षत्र और ५. प्रकीर्णक तारे।

ज्योतिषी देवों का निवास मध्यलोक में सम धरातल से ७९० योजन की ऊँचाई से लेकर ९०० योजन की ऊँचाई तक आकाश में है। सबसे नीचे तारे हैं, उनसे १० योजन ऊपर सूर्य है, सूर्य से ८० योजन ऊपर चन्द्रमा है, चन्द्रमा से चार योजन ऊपर २७ नक्षत्र हैं, नक्षत्रों से ४ योजन ऊपर बुध का ग्रह, उससे ३ योजन ऊपर शुक्र, उससे ३ योजन ऊपर बृहस्पति, उससे ३ योजन ऊपर मंगल और उससे ३ योजन ऊपर शनि है, इस प्रकार पृथ्वी से ऊपर ९०० योजन तक ज्योतिषी मंडल है। उनका आवास मध्यलोक में हैं। यहाँ २००० कोस का योजन जानना चाहिये।

ज्योतिषी देवों का विशेष वर्णन –

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके।। १३।।

अर्थ – ऊपर कहे हुए ज्योतषी देव मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए मनुष्य लोक में हमेशा गमन करते हैं। (अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रों को मनुष्य लोक कहते हैं।)

उनसे होने वाला काल विभाग –

तत्कृतः काल विभागः।। १४।।

अर्थ – घड़ी, घंटा, दिवस, रात इत्यादि व्यवहारकाल का विभाग है, वह गतिशील ज्योतिषी देवों के द्वारा किया जाता है।

काल दो प्रकार का है – निश्चयकाल और व्यवहारकाल। निश्चयकाल का स्वरूप पाँचवें अध्याय में २२ वें सूत्र में किया जायेगा। यह व्यवहारकाल–निश्चयकाल बताने वाला है।

बहिरवस्थिताः।। १५।।

अर्थ – मनुष्यलोक (अढ़ाई द्वीप) के बाहर के ज्योतिषी देव स्थिर हैं।

अढ़ाई द्वीप के बाहर असंख्यात द्वीप–समुद्र हैं, उनके ऊपर (सबसे अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र तक) ज्योतिषी देव स्थिर हैं।

इस प्रकार भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी इन तीन प्रकार के देवों का वर्णन पूरा हुआ, अब चौथे प्रकार के वैमानिक देवों का स्वरूप कहते हैं।

वैमानिक देवों का वर्णन –

वैमानिकाः।। १६।।

अर्थ – अब वैमानिक देवों का वर्णन प्रारम्भ करते हैं।

विमान और वैमानिक – जिन स्थानों में रहने वाले देव अपने को विशेष पुण्यात्मा समझें उन स्थानों को विमान कहते हैं। उन विमानों में पैदा होने वाले देवों को वैमानिक देव कहते हैं।

वैमानिक देवों के भेद –

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च।। १७।।

अर्थ – वैमानिक देवों के दो भेद हैं – १. कल्पोपपन्न और २. कल्पातीत।

जिनमें इन्द्रादि दस प्रकार के भेदों की कल्पना होती है ऐसे सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं। उन कल्पों में जो देव पैदा होते हैं उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं। सोलहवें स्वर्ग से ऊपर जो देव उत्पन्न होते हैं उन्हें कल्पातीत कहते हैं।

कल्पों की स्थिति का क्रम –

उपर्युपरि।। १८।।

अर्थ – सोलह स्वर्ग के आठ युगल, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर, ये सब विमान क्रम से ऊपर–ऊपर हैं।

वैमानिक देवों के रहने का स्थान –

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेष्वानत प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसुग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च।। १९।।

अर्थ – सौधर्म–ऐशान, सानत्कुमार–माहेन्द्र, ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर, लांतव–कापिष्ट, शुक्र–महाशुक्र, सतार–सहस्रार इन छह युगलों के बारह स्वर्गों में, आनत–प्राणत इन दो स्वर्गों में, आरण–अच्युत इन दो स्वर्गों में, नव ग्रैवेयक विमानों में, नव अनुदिश विमानों में और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

१. नव ग्रैवेयकों के नाम – १. सुदर्शन, २. अमोघ, ३. सुप्रबुद्ध, ४. यशोधर, ५. सुभद्र, ६. विशाल, ७. सुमन, ८. सौमन और ९. प्रीतिंकर।

२. नव अनुदिशों के नाम – १. आदित्य, २. अर्चि, ३. अर्चिमाली, ४. वैरोचन, ५. प्रभास, ६. अर्चिप्रभ, ७. अर्चिर्मध्य ८. अर्चिरावर्त और ९. अर्चिविशिष्ठ।

वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर अधिकता –

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः।। २०।।

अर्थ – आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या की विशुद्धि, इन्द्रियों का विषय और अवधिज्ञान का विषय ये सब ऊपर–ऊपर के विमानों में (वैमानिक देवों के) अधिक है।

स्थिति – आयुकर्म के उदय से जो भव में रहना होता है उसे स्थिति कहते हैं।

प्रभाव – पर का उपकार तथा निग्रह करने वाली शक्ति प्रभाव है।

सुख – सातावेदनीय के उदय से इन्द्रियों के इष्ट विषयों की अनुकूलता सुख है। यहाँ पर 'सुख' का अर्थ बाहर के संयोग की अनुकूलता किया है, निश्चयसुख (आत्मिकसुख) यहाँ नहीं समझना चाहिये। निश्चयसुख

का प्रारंभ सम्यग्दर्शन से होता है, यहाँ सम्यक्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि के भेद की अपेक्षा से कथन नहीं है किन्तु सामान्य कथन है ऐसा समझना चाहिये।

द्युति – शरीर की तथा वस्त्र–आभूषण आदि की दीप्ति द्युति है।

लेश्याविशुद्धि – लेश्या की उज्ज्वलता विशुद्धि है, यहाँ भावलेश्या समझना चाहिये।

इन्द्रियविषय – इन्द्रिय द्वारा (मतिज्ञान) जानने योग्य पदार्थ को इन्द्रिय विषय कहते हैं।

अवधिविषय – अवधिज्ञान से जानने योग्य पदार्थ अवधिविषय है।

वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर हीनता –

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतोहीनाः।। २१।।

अर्थ – गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान की अपेक्षा से ऊपर–ऊपर के वैमानिक देव हीन–हीन होते हैं।

गति – यहाँ गति का अर्थ गमन है। एक क्षेत्र को छोड़कर अन्य क्षेत्र में जाना गमन (गति) है। सोलहवें स्वर्ग से आगे के देव अपने विमानों को छोड़कर दूसरी जगह नहीं जाते।

शरीर – शरीर का विस्तार सो शरीर है।

परिग्रह – लोभ कषाय के कारण ममता परिणाम होना परिग्रह है।

अभिमान – मान कषाय के कारण अहंकार होना अभिमान है।

वैमानिक देवों में लेश्या का वर्णन –

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु।। २२।।

अर्थ – दो युगलों में पीत, तीन युगलों में पद्म और बाकी के सब विमानों में शुक्ल लेश्या होती है।
पहले और दूसरे स्वर्ग में पीतलेश्या, तीसरे और चौथे में पीत तथा पद्मलेश्या, पाँचवें से आठवें तक पद्मलेश्या, नववें से बारहवें तक पद्म और शुक्ल लेश्या और बाकी के सब वैमानिक देवों के शुक्ललेश्या होती है। नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर इन चौदह विमानों के देवों के परम शुक्ल लेश्या होती है। (भवनत्रिक देवों की लेश्या का वर्णन इस अध्याय के दूसरे सूत्र में आ गया है।)

कल्पसंज्ञा कहाँ तक है ?

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः।। २३।।

अर्थ – ग्रैवेयकों से पहले के सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं। उनमें आगे के विमान कल्पातीत हैं।

सोलह स्वर्गों के बाद नव ग्रैवेयक इत्यादि के देव एक समान वैभव के धारी होते हैं, इसलिये उन्हें अहमिन्द्र कहते हैं, वहाँ इन्द्र इत्यादि भेद नहीं हैं, सभी समान हैं।

लौकान्तिक देव –

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः।। २४।।

अर्थ – जिनका निवास स्थान पाँचवां स्वर्ग (ब्रह्मलोक) है, उन्हें लौकान्तिक देव कहते हैं।

ये देव ब्रह्मलोक के अंत में रहते हैं तथा एक भवावतारी (एकावतारी) होते हैं तथा लोक का अंत (संसार का नाश) करने वाले हैं, इसलिये उन्हें लौकान्तिक कहते हैं। वे द्वादशांग के पाठी होते हैं, चौदह पूर्व के धारक होते हैं, ब्रह्मचारी रहते हैं और तीर्थंकर प्रभु के मात्र तप कल्याणक में आते हैं। वे देवर्षि भी कहे जाते हैं।

लौकान्तिक देवों के नाम –

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च।। २५।।

अर्थ – लौकान्तिक देवों के आठ भेद हैं – १. सारस्वत, २. आदित्य, ३. वह्नि, ४. अरुण, ५. गर्दतोय, ६. तुषित, ७. अव्याबाध और ८. अरिष्ट, ये देव ब्रह्मलोक की ईशान इत्यादि आठ दिशाओं में रहते हैं।

अनुदिश और अनुत्तरवासी देवों के अवतार का नियम –

विजयादिषु द्विचरमाः।। २६।।

अर्थ – विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और अनुदिश विमानों के अहमिन्द्र द्विचरम होते हैं अर्थात् मनुष्य के दो जन्म (भव) धारण करके अवश्य ही मोक्ष जाते हैं। (ये सभी जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं।)

१. सर्वार्थसिद्धि के देव उनके नाम के अनुसार एकावतारी ही होते हैं। विजयादिक में रहने वाले जीव एक मनुष्य भव अथवा दो भव भी धारण करते हैं।

२. सर्वार्थसिद्धि के देव, दक्षिण के छह इन्द्र (सौधर्म, सानत्कुमार, ब्रह्म, शुक्र, आनत, आरण) सौधर्म के चारों लोकपाल, सौधर्म इन्द्र की 'शचि' नाम की इन्द्राणी और लौकान्तिक देव ये सभी एक मनुष्य जन्म धारण करके मोक्ष जाते हैं।

तिर्यञ्च कौन हैं ?

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः।। २७।।

अर्थ – उपपाद जन्म वाले (देव तथा नारकी) और मनुष्यों के अतिरिक्त बाकी बचे हुए तिर्यञ्च योनि वाले हैं। देव, नारकी और मनुष्यों के अतिरिक्त सभी जीव तिर्यञ्च हैं, उनमें से सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव तो समस्त लोक में व्याप्त हैं। लोक का एक भी प्रदेश सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों से रहित नहीं है। बादर एकेन्द्रिय जीवों को पृथ्वी इत्यादि का आधार होता है।

विकलत्रय (दो तीन और चार इन्द्रिय) और संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव त्रसनाली में कहीं-कहीं होते हैं, त्रसनाली के बाहर त्रस जीव नहीं होते। तिर्यञ्च जीव समस्त लोक में होने से उनका क्षेत्र विभाग नहीं है।

भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु का वर्णन –

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिताः।। २८।।

अर्थ – भवनवासी देवों में असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और बाकी के कुमारों की आयु क्रम से एक सागर, तीन पल्य, अढ़ाई पल्य, दो पल्य ओर डेढ़ पल्य है।

वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु –

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके।। २९।।

अर्थ – सौधर्म और ईशान स्वर्ग के देवों की आयु दो सागर से कुछ अधिक है।

सानत्कुमारमाहेंद्रयोः सप्त।। ३०।।

अर्थ – सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की आयु सात सागर से कुछ अधिक है।

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि तु।। ३१।।

अर्थ – पूर्व सूत्र में कहे हुए युगलों की आयु (सात सागर) से क्रमपूर्वक, तीन, सात, नव, ग्यारह, तेरह और पन्द्रह सागर अधिक आयु (उसके बाद के स्वर्गों में) है।

ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में दस सागर से कुछ अधिक, लांतव और कापिष्ठ स्वर्ग में चौदह सागर से कुछ अधिक, शुक्र और महाशुक्र स्वर्ग में सोलह सागर से कुछ अधिक, सतार और सहस्रार स्वर्ग में अठारह सागर से कुछ अधिक, आनत और प्राणत स्वर्ग में बीस सागर तथा आरण और अच्युत स्वर्ग में बाईस सागर उत्कृष्ट आयु है।

कल्पातीत देवों की आयु -

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च।। ३२।।

अर्थ - आरण और अच्युत स्वर्ग से ऊपर के नव ग्रैवयकों में, नव अनुदिशों में, विजय इत्यादि विमानों में और सर्वार्थसिद्धि विमानों में देवों की आयु एक-एक सागर अधिक है।

१. पहले ग्रैवेयक में २३, दूसरे में २४, तीसरे में २५, चौथे में २६, पाँचवें में २७, छटवें में २८, सातवें में २९, आठवें में ३०, नववें में ३१, नव अनुदिशों में ३२, विजय आदि में ३३ सागर की उत्कृष्ट आयु है। सर्वार्थसिद्धि के सभी देवों की ३३ सागर की स्थिति होती है, इससे कम किसी की नहीं होती।

२. मूल सूत्र में 'अनुदिश' शब्द नहीं है किन्तु 'आदि' शब्द से अनुदिशों का भी ग्रहण हो जाता है।

स्वर्गों की जघन्य आयु -

अपरा पल्योपमधिकम्।। ३३।।

अर्थ - सौधर्म और ईशान स्वर्ग में जघन्य आयु एक पल्य से कुछ अधिक है।

सागर और पल्य का माप तीसरे अध्याय के छटवें सूत्र की टीका में दिया है। वहाँ अद्धापल्य लिखा है उसे ही पल्य समझना चाहिये।

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनंतरा।। ३४।।

अर्थ - जो पहले-पहले के युगलों की उत्कृष्ट आयु है, वह पीछे-पीछे के युगलों की जघन्य आयु है।

सौधर्म और ईशान स्वर्ग की उत्कृष्ट आयु दो सागर से कुछ अधिक है, उतनी ही सानत्कुमार और माहेन्द्रकुमार की जघन्य आयु है। इसी क्रम के अनुसार आगे के देवों की जघन्य आयु समझना चाहिये। सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु नहीं होती।

नारकी जीवों की जघन्य आयु -

नारकाणां च द्वितीयादिषु।। ३५।।

अर्थ - दूसरे इत्यादि नरक के नारकियों की जघन्य आयु भी देवों की जघन्य आयु के समान है - अर्थात् जो पहले नरक की उत्कृष्ट आयु है वही दूसरे नरक की जघन्य आयु है। इस प्रकार आगे के नरकों में भी जघन्य आयु जानना चाहिये।

पहले नरक की जघन्य आयु -

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम्।। ३६।।

अर्थ - पहले नरक के नारकियों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है। (नारकियों की उत्कृष्ट आयु का वर्णन तीसरे अध्याय के छटवें सूत्र में किया है)।

भवनवासी देवों की जघन्य आयु –

भवनेषु च।। ३७।।

अर्थ – भवनवासी देवों की भी जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है।

व्यंतर देवों की जघन्य आयु –

व्यन्तराणां च।। ३८।।

अर्थ – व्यंतर देवों की भी जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है।

व्यंतर देवों की उत्कृष्ट आयु –

परा पल्योपमधिकम्।। ३९।।

अर्थ – व्यंतर देवों की उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम से कुछ अधिक है।

ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु –

ज्योतिष्काणां च।। ४०।।

अर्थ – ज्योतिषी देवों की भी उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम से कुछ अधिक है।

ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु –

तदष्टभागोऽपरा।। ४१।।

अर्थ – ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु एक पल्योपम के आठवें भाग है।

लौकान्तिक देवों की आयु –

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्।। ४२।।

अर्थ – समस्त लौकान्तिक देवों की उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु आठ सागर की है।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न ०१ – कल्पोपपन्न व कल्पातीत को स्पष्ट करके कल्पों की स्थिति का क्रम बताइये ?

उत्तर – कल्पोपपन्न – जिसमें इन्द्रादि दस प्रकार के भेदों की कल्पना होती है, ऐसे सोलह स्वर्गों को कल्प कहते हैं। उन कल्पों में जो देव रहते हैं उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं।

कल्पातीत – सोलहवें स्वर्ग से ऊपर जो देव उत्पन्न होते हैं उन्हें कल्पातीत कहते हैं।

सोलह स्वर्ग के आठ युगल, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर यह सब विमान क्रम से ऊपर-ऊपर हैं।

प्रश्न ०२ – चार प्रकार के देवों में सामान्य भेद कितने हैं ?

उत्तर – चार प्रकार के देवों में सामान्य भेद दस हैं – इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक दस भेद हैं।

प्रश्न ०३ – भवनवासी और व्यंतर देवों में कितने - कितने इन्द्र होते हैं ?

उत्तर – भवनवासी देवों में २० और व्यंतर देवों में १६ इन्द्र होते हैं।

प्रश्न ०४ – मनुष्य लोक में मेरु की प्रदक्षिणा कौन से देव करते हैं ?

उत्तर – मनुष्य लोक में ज्योतिषी देव मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं।

प्रश्न ०५ - वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर किस विषय की हीनता है ?

उत्तर - गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान ऊपर-ऊपर के वैमानिक देवों में कम - कम होते जाते हैं।

प्रश्न ०६ - सोलह स्वर्गों के ऊपर के देवों की विशेषता बताइये ?

उत्तर - सोलह स्वर्ग के ऊपर के देव एक समान वैभवधारी होते हैं और सब अहमिन्द्र कहलाते हैं।

प्रश्न ०७ - लौकांतिक देव कहाँ रहते हैं, उनकी विशेषता लिखकर नाम बताइये ?

उत्तर - लौकांतिक देव पाँचवें स्वर्ग के अंत में रहते हैं। वे एक भवावतारी होते हैं। लोक (संसार का) अंत (नाश) करने वाले होते हैं, इसलिये इन्हें लौकांतिक कहते हैं। ये द्वादशांग के पाठी होते हैं। ब्रह्मचारी होते हैं और तीर्थंकरों के मात्र तप कल्याणक में आते हैं। इन्हें देवर्षि भी कहते हैं। लौकांतिक देवों के नाम - सारस्वत, आदित्य, वन्हि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट।

प्रश्न ०८ - सर्वार्थसिद्धि व विजयादिक अनुदिश विमान में रहने वाले देवों की क्या विशेषता है ?

उत्तर - सर्वार्थसिद्धि के देव उनके नाम के अनुसार एक भवावतारी ही होते हैं। विजयादिक में रहने वाले जीव एक मनुष्य भव अथवा दो भव भी धारण करते हैं।

प्रश्न ०९ - भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी होती है ?

उत्तर - भवनवासी देवों में असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और बाकी के कुमारों की उत्कृष्ट आयु क्रम से एक सागर, तीन पल्य, अढ़ाई पल्य, दो पल्य और डेढ़ पल्य है।

प्रश्न १० - वैमानिक देवों में सौधर्म, ईशान स्वर्ग एवं सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु कितनी है ?

उत्तर - सौधर्म और ईशान स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु दो सागर से कुछ अधिक तथा सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की आयु सात सागर से कुछ अधिक है।

प्रश्न ११ - वैमानिक देवों में लेश्या कौन-कौन सी है ?

उत्तर - वैमानिक देवों में पहले दूसरे स्वर्ग में पीत लेश्या, तीसरे और चौथे स्वर्ग में पीत और पद्म, पाँचवें, छठे, सातवें और आठवें स्वर्ग में पद्म लेश्या, नवमें, दसमें, ग्यारहवें, बारहवें में पद्म और शुक्ल लेश्या, शेष सब विमानों में शुक्ल लेश्या, अनुदिश और अनुत्तर के विमानों में परम शुक्ल लेश्या है।

प्रश्न १२ - कल्पातीत देवों की आयु कितनी है ?

उत्तर - आरण और अच्युत स्वर्ग से ऊपर के नव ग्रैवेयकों में, नव अनुदिशों में, विजय इत्यादि विमानों में और सर्वार्थसिद्धि विमानों में देवों की आयु एक - एक सागर अधिक है।

पहले ग्रैवेयक में २३, दूसरे में २४, तीसरे में २५, चौथे में २६, पाँचवें में २७, छटवें में २८, सातवें में २९, आठवें में ३०, नववें में ३१, नव अनुदिशों में ३२, विजय आदि में ३३ सागर की उत्कृष्ट आयु है। सर्वार्थसिद्धि के सभी देवों की ३३ सागर की स्थिति होती है, इससे कम किसी की नहीं होती।

प्रश्न १३ - स्वर्गों की जघन्य आयु कितनी है ?

उत्तर - सौधर्म और ईशान स्वर्ग में जघन्य आयु एक पल्य से कुछ अधिक है।

प्रश्न १४ - नारकी जीवों की जघन्य आयु कितनी है ?

उत्तर - दूसरे इत्यादि नरक के नारकियों की जघन्य आयु भी देवों की जघन्य आयु के समान है अर्थात् जो पहले नरक की उत्कृष्ट आयु है वही दूसरे नरक की जघन्य आयु है। इसी प्रकार आगे के नरकों में भी जघन्य आयु जानना चाहिये।

प्रश्न १५ - पहले नरक की तथा भवनवासी व्यंतर देवों की जघन्य आयु कितनी है ?

उत्तर - पहले नरक के नारकियों की और भवनवासी व्यंतर देवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है।

....

(इ) अजीव तत्त्व का विवेचन

पंचम अध्याय

अजीव तत्त्व का वर्णन –

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्‌गलाः।। १।।

अर्थ – [**धर्माधर्माकाशपुद्‌गलाः**] धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और पुद्‌गल ये चार [**अजीव कायाः**] अजीव तथा बहुप्रदेशी हैं।

१. प्रस्तुत सूत्र में 'काय' शब्द यह सूचित करता है कि धर्म-अधर्म आकाश और पुद्‌गल ये चार द्रव्य बहुप्रदेशी अर्थात् कायवान हैं।

२. प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार का अभिप्राय ''बहुप्रदेशी अजीव'' द्रव्य से है अतः यहाँ काल को ग्रहण नहीं किया है।

३. जिस प्रकार अणु एक प्रदेशी होने के कारण उसके द्वितीय आदि प्रदेश नहीं होते हैं, उसी प्रकार कालाणु के भी द्वितीयादिक प्रदेश नहीं होते हैं, इसलिये कालाणु अप्रदेशी है। यद्यपि पुद्‌गल परमाणु को निश्चय से एक प्रदेशी कहा है तथापि उपचार से पुद्‌गल को बहुप्रदेशत्व भी कहते हैं।

४. काल द्रव्य को उपचार से काय नहीं कहा जा सकता। वह रत्नों की राशि के समान पृथक् ही रहता है।

ये अजीवकाय क्या है ?

द्रव्याणि।। २।।

अर्थ – ये चार पदार्थ [**द्रव्याणि**] द्रव्य हैं (द्रव्य का लक्षण २९, ३०, ३८ वे सूत्रों में कहा गया है।)

द्रव्य – जो त्रिकाल अपने गुण-पर्याय को प्राप्त होता है उसे द्रव्य कहते हैं।

द्रव्य में जीव की गिनती –

जीवाश्च।। ३।।

अर्थ – [**जीवाः**] जीव [**च**] भी द्रव्य है। यहाँ 'जीवाः' शब्द बहुवचन है, वह यह बतलाता है कि जीव अनेक हैं। जीव का व्याख्यान पहले (प्रथम चार अध्यायों में) हो चुका है, इसके अतिरिक्त ३९ वें सूत्र में 'काल' द्रव्य बतलाया है, अतः सब मिलकर छह द्रव्य हुए।

पुद्‌गल द्रव्य से अतिरिक्त द्रव्यों की विशेषता –

नित्यावस्थितान्यरूपाणि।। ४।।

अर्थ – ऊपर कहे गये द्रव्यों में से चार द्रव्य [**अरूपाणि**] रूप रहित [**नित्यावस्थितानि**] नित्य और अवस्थित हैं।

नित्य – जो कभी नष्ट न हो उसे नित्य कहते हैं। (देखो सूत्र ३१)

अवस्थित – जो अपनी संख्या का उल्लंघन न करे उसे अवस्थित कहते हैं।

अरूपी – जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण न पाया जाय उसे अरूपी कहते हैं।

पहले दो स्वभाव समस्त द्रव्यों में होते हैं। ऊपर जो आसमानी रंग दिखाई देता है उसे लोग आकाश कहते हैं किन्तु यह तो पुद्‌गल का रंग है। आकाश तो सर्वव्यापक, अरूपी, अजीव एक द्रव्य है।

एक पुद्गल द्रव्य का ही रूपित्व –

रूपिणः पुद्गलाः।। ५।।

अर्थ – [पुद्गलाः] पुद्गल द्रव्य **[रूपिणाः]** रूपी अर्थात् मूर्तिक है।

'रूपी' का अर्थ स्पर्श, रस, गंध और वर्ण सहित है। (देखो सूत्र २३) पुद्+गल इन दो पदों से मिलकर पुद्गल शब्द बना है। पुद् अर्थात् इकट्ठे होना–मिल जाना और गल अर्थात् बिछुड़ जाना। स्पर्श गुण की पर्याय की विचित्रता के कारण मिलना और बिछुड़ना पुद्गल में ही होता है, इसलिये जब उसमें स्थूलता आती है तब पुद्गल द्रव्य इन्द्रियों का विषय बनता है। रूप, रस, गंध, स्पर्श का गोल, त्रिकोण, चौकोर, लम्बे इत्यादि रूप से जो परिणमन है सो मूर्ति है।

धर्मादि द्रव्यों की संख्या –

आ आकाशादेकद्रव्याणि।। ६।।

अर्थ – [आ आकाशात्] आकाश पर्यन्त **[एकद्रव्याणि]** एक–एक द्रव्य हैं अर्थात् धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य एक–एक हैं।

जीव द्रव्य अनन्त हैं, पुद्गल द्रव्य अनन्तानंत हैं और काल द्रव्य असंख्यात अणु रूप है। पुद्गल द्रव्य एक नहीं है यह बताने के लिए, इस सूत्र में पहले सूत्र की संधि करने के लिये 'आ' शब्द का प्रयोग किया है।

धर्मादि द्रव्यों का गमन रहितत्व –

निष्क्रियाणि च।। ७।।

अर्थ – [च] और फिर यह धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और आकाश द्रव्य **[निष्क्रियाणि]** क्रिया रहित हैं अर्थात् ये एक स्थान से दूसरे स्थान को प्राप्त नहीं होते।

धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्य के प्रदेशों की संख्या –

असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैक जीवानाम्।। ८।।

अर्थ – [धर्माधर्मैक जीवानाम्] धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्य के **[असंख्येयाः]** असंख्यात **[प्रदेशः]** प्रदेश हैं।

प्रदेश – आकाश के जितने क्षेत्र को एक पुद्गल परमाणु रोके उतने क्षेत्र को एक प्रदेश कहते हैं।

आकाश के प्रदेश –

आकाशस्यानन्ताः।। ९।।

अर्थ – [आकाशस्य] आकाश के **[अनंताः]** अनन्त प्रदेश हैं।

आकाश के दो भाग हैं – लोकाकाश और अलोकाकाश। उसमें से लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं। जितने प्रदेश धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के हैं उतने ही प्रदेश लोकाकाश के हैं फिर भी उनका विस्तार एक सरीखा है। लोकाकाश छहों द्रव्यों का स्थान है। दिशा, कोना, ऊपर, नीचे ये सब आकाश के विभाग हैं।

पुद्गल के प्रदेशों की संख्या –

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम्।। १०।।

अर्थ :– [पुद्गलानाम्] पुद्गलों के **[संख्येयाऽसंख्येयाः च]** संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं।

इसमें पुद्गलों की संयोगी पर्याय (स्कन्ध) के प्रदेश बताये हैं। प्रत्येक अणु स्वतंत्र पुद्गल है। उसके एक ही प्रदेश होता है ऐसा ११ वें सूत्र में कहा है।
स्कन्ध दो परमाणुओं से लेकर अनन्त परमाणुओं का होता है।

अणु एक प्रदेशी है -

नाणोः ।। ११ ।।

अर्थ - [अणोः] पुद्गल परमाणु के **[न]** दो इत्यादि प्रदेश नहीं हैं अर्थात् वह एक प्रदेशी है।
अणु एक द्रव्य है, उसके एक ही प्रदेश है, क्योंकि परमाणुओं का खंडन नहीं होता।

समस्त द्रव्यों के रहने का स्थान -

लोकाकाशेऽवगाहः ।। १२ ।।

अर्थ - [अवगाहः] उपरोक्त समस्त द्रव्यों का अवगाह (स्थान) **[लोकाकाशे]** लोकाकाश में है।
आकाश के जितने हिस्से में जीव आदि छहों द्रव्य हैं उतने हिस्से को लोकाकाश कहते हैं और अवशिष्ट अर्थात् शेष आकाश को अलोकाकाश कहते हैं।
आकाश एक अखंड द्रव्य है। उसमें कोई भाग नहीं होते, किन्तु पर द्रव्य के अवगाह की अपेक्षा से यह भेद होता है - अर्थात् निश्चय से आकाश एक अखंड द्रव्य है, व्यवहार से पर द्रव्य के निमित्त की अपेक्षा से ज्ञान में उसके दो भाग होते हैं - लोकाकाश और अलोकाकाश।

धर्म-अधर्म द्रव्य का अवगाहन -

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ।। १३ ।।

अर्थ - [धर्माधर्मयोः] धर्म और अधर्म द्रव्य का अवगाह **[कृत्सने]** तिल में तेल की तरह समस्त लोकाकाश में है।
यह सूत्र यह बतलाता है कि धर्म द्रव्य के प्रत्येक प्रदेश का अधर्म द्रव्य के प्रत्येक प्रदेश में व्याघात रहित (बेरोकटोक) प्रवेश है और अधर्म द्रव्य के प्रदेश का धर्म द्रव्य के प्रत्येक प्रदेश में व्याघात (बाधा)रहित प्रवेश है। यह परस्पर में प्रवेशपना धर्म-अधर्म की अवगाहन शक्ति के निमित्त से है।

पुद्गल का अवगाहन -

एक प्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ।। १४ ।।

अर्थ - [पुद्गलानाम्] पुद्गल द्रव्य का अवगाह **[एक प्रदेशादिषु]** लोकाकाश के एक प्रदेश से लेकर संख्यात और असंख्यात प्रदेश पर्यन्त **[भाज्यः]** विभाग करने योग्य है-जानने योग्य है।

जीवों का अवगाहन -

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ।। १५ ।।

अर्थ - [जीवानाम्] जीवों का अवगाह **[असंख्येयभागादिषु]** लोकाकाश के असंख्यात भाग से लेकर संपूर्ण लोक क्षेत्र में है।
जीव अपनी छोटी से छोटी अवगाहनरूप अवस्था में भी असंख्यात प्रदेश रोकता है। जीवों के सूक्ष्म अथवा बादर शरीर होते हैं। सूक्ष्म शरीर वाले एक निगोद जीव के अवगाहन योग्य क्षेत्र में साधारण शरीर वाले (निगोद) जीव अनन्तानन्त रहते हैं तो भी परस्पर बाधा नहीं पाते। सूक्ष्म जीव तो समस्त लोक में हैं।

लोकाकाश का कोई प्रदेश ऐसा नहीं है जिसमें जीव न हों।

जीव का अवगाहन लोक के असंख्यात भाग में कैसे ?

प्रदेशसंहार विसर्पाभ्यां प्रदीपवत्।। १६।।

अर्थ - [प्रदीपवत्] दीपक के प्रकाश की भांति **[प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां]** प्रदेशों के संकोच और विस्तार के द्वारा जीव लोकाकाश के असंख्यातादिक भागों में रहता है।

१. जैसे एक बड़े मकान में दीपक रखने से उसका प्रकाश समस्त मकान में फैल जाता है और उसी दीपक को एक छोटे घड़े में रखने से उसका प्रकाश उसी में मर्यादित हो जाता है, उसी प्रकार जीव भी छोटे या बड़े जैसे शरीर को प्राप्त होता है उसमें उतना ही विस्तृत या संकुचित होकर रह जाता है, परन्तु केवली के प्रदेश समुद्घात-अवस्था में संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं और सिद्ध अवस्था में अंतिम शरीर से कुछ न्यून रहता है।

२. बड़े से बड़ा शरीर स्वयंभूरमण समुद्र के महामत्स्य का है, जो १००० योजन लंबा है। छोटे से छोटा शरीर (अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण) लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदिया जीव का है, जो एक श्वास में १८ बार जन्म लेता है तथा मरण करता है।

३. स्वभाव से जीव अमूर्तिक है किन्तु अनादि से कर्म के साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बंध है और इस प्रकार छोटे-बड़े शरीर के साथ जीव का सम्बंध रहता है। शरीर के अनुसार जीव के प्रदेशों का संकोच विस्तार होता है, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध है।

अब धर्म और अधर्म द्रव्य का जीव और पुद्गल के साथ का विशेष सम्बंध बतलाते हैं -

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः।। १७।।

अर्थ - [गतिस्थित्युपग्रहौ] स्वयमेव गमन तथा स्थिति को प्राप्त हुए जीव और पुद्गलों के गमन तथा ठहरने में जो सहायक है वह **[धर्माधर्मयोः उपकारः]** क्रम से धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार है।

१. उपकार, सहायक, उपग्रह एकार्थवाची हैं। वे भिन्न-भिन्न द्रव्यों का भिन्न-भिन्न प्रकार का निमित्तत्व बतलाते हैं। उपकार, सहायकता या उपग्रह का अर्थ ऐसा नहीं होता कि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का भला करता है, क्योंकि २० वें सूत्र में यह बताया है कि जीव को दुःख और मरण होने में पुद्गल द्रव्य का उपकार है, यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि लोक व्यवहार में जब किसी के द्वारा किसी को कोई सुविधा दी जाती है तब व्यवहार-भाषा में यह कहा जाता है कि एक जीव ने दूसरे का उपकार किया, भला किया। किन्तु यह मात्र निमित्त सूचक भाषा है। एक द्रव्य न तो अपने गुण-पर्याय को छोड़ सकता है और न दूसरे द्रव्य को दे सकता है। प्रत्येक के प्रदेश दूसरे द्रव्यों के प्रदेशों से अत्यन्त भिन्न हैं, परमार्थ से निश्चय से एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकते, एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में त्रिकाल अभाव है, इसलिये कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य का वास्तव में लाभ या हानि नहीं कर सकता। एक द्रव्य को अपने कारण से लाभ या हानि हुई तब उस समय दूसरे कौन द्रव्य निमित्त रूप में मौजूद हुए, यह बतलाने के लिये १७ से २२ वें तक के सूत्रों में 'उपकार' शब्द का प्रयोग किया है।

आकाश और दूसरे द्रव्यों के साथ का निमित्त–नैमित्तिक सम्बंध –

आकाशस्यावगाहः।। १८।।

अर्थ – [अवगाहः] समस्त द्रव्यों को अवकाश–स्थान देना यह **[आकाशस्य]** आकाश का उपकार है। जो समस्त द्रव्यों को रहने को स्थान देता है उसे आकाश कहते हैं।

पुद्‌गल द्रव्य का जीव के साथ निमित्त–नैमित्तक संबंध –

शरीरवाङ्‌मनः प्राणापानाः पुद्‌गलानाम्।। १९।।

अर्थ – [शरीरवाङ्‌मनः प्राणापानाः] शरीर, वचन, मन तथा श्वासोच्छ्‌वास ये **[पुद्‌गलानाम्]** पुद्‌गल द्रव्य के उपकार हैं अर्थात् शरीर आदि की रचना पुद्‌गल से ही होती है।

पुद्‌गल का जीव के साथ निमित्त–नैमित्तिक सम्बंध –

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च।। २०।।

अर्थ – [सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च] इन्द्रियजन्य सुख–दुःख, जीवन–मरण ये भी पुद्‌गल के उपकार हैं।

जीव का उपकार –

परस्परोपग्रहो जीवानाम्।। २१।।

अर्थ – [जीवानाम्] जीवों के **[परस्परोपग्रहः]** परस्पर में उपकार है।

१. एक जीव दूसरे को सुख का निमित्त, दुःख का निमित्त, जीवन का निमित्त, मरण का निमित्त, सेवा–सुश्रुषा आदि का निमित्त होता है।

२. यहाँ उपग्रह या उपरोक्त सूत्र में उपकार शब्द है। दुःख और मरण के साथ भी उसका सम्बंध है, किन्तु उसका अर्थ 'भला करना' नहीं होता किन्तु निमित्त मात्र है ऐसा समझना चाहिये।

काल द्रव्य का उपकार –

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य।। २२।

अर्थ – [वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च] वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व **[कालस्य]** काल द्रव्य के उपकार हैं।

वर्तना – सर्व द्रव्य अपने – अपने उपादान कारण से अपनी पर्याय के उत्पाद रूप वर्तते हैं, इस परिणमन में बाह्य निमित्त कारण काल द्रव्य है, इसलिये वर्तना काल का लक्षण या उपकार कहा जाता है।

परिणाम – जो द्रव्य अपने स्वभाव को छोड़े बिना पर्याय रूप से पलटे (बदले) उसे परिणाम कहते हैं। धर्मादि सर्व द्रव्यों के अगुरुलघुत्व गुण के अविभाग प्रतिच्छेदरूप अनन्त परिणाम (षट्‌गुण हानि वृद्धि सहित) हैं, वह अति सूक्ष्म स्वरूप है। जीव के उपशमादि पाँच भाव रूप परिणाम हैं और पुद्‌गल वर्णादिक परिणाम हैं तथा घटादिक अनेक रूप परिणाम हैं। द्रव्य की पर्याय–परिणति को परिणाम कहते हैं।

क्रिया – एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्र को गमन करना क्रिया है। वह क्रिया जीव और पुद्‌गल दोनों के होती है, दूसरे चार द्रव्यों के क्रिया नहीं होती।

परत्व – जिसमें बहुत समय का व्यवहार हो उसे परत्व कहते हैं।

अपरत्व – जिसमें थोड़े समय का व्यवहार हो उसे अपरत्व कहते हैं।

इन सभी कार्यों का निमित्तकारण कालद्रव्य है। वे कार्य काल को बताते हैं।

द्रव्यों का उपकार (निमित्त - सहायक)

	जीव	**पुद्गल**	**धर्म**	**अधर्म**	**आकाश**	**काल**
क्या उपकार (कार्य)	परस्पर में एक समान एक दूसरे का उपकार	१. शरीर २. वचन ३. मन ४. श्वासो-च्छवास ५. सुख ६. दु:ख ७. जीवन ८. मरण	गति	स्थिति	अवगाहन	१. वर्तना २. परिणाम ३. क्रिया ४. परत्व ५. अपरत्व
किस द्रव्य	जीव का	जीव पर	जीव और पुद्गल पर	जीव और पुद्गल पर	सभी पर	सभी पर

पुद्गल द्रव्य का लक्षण -

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।। २३ ।।

अर्थ - [स्पर्श रस गन्ध वर्णवन्तः] स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले **[पुद्गलाः]** पुद्गल द्रव्य हैं।

सूत्र में 'पुद्गलाः' यह शब्द बहुवचन में है, इससे यह स्पष्ट किया गया है कि पुद्गल बहुत से हैं और प्रत्येक पुद्गल में चार लक्षण हैं, किसी में भी चार से कम नहीं है, ऐसा आशय है।

इन चार गुणों की पर्यायों के भेद निम्नप्रकार हैं - स्पर्श गुण की आठ पर्याय हैं - १. स्निग्ध, २. रूक्ष, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. हलका, ६. भारी, ७. मृदु ८. कर्कश।

रस गुण की पाँच पर्याय हैं - १. खट्टा, २. मीठा, ३. कड़ुवा, ४. चरपरा ५. कषायला। इन पाँचों में से परमाणु में एक काल में एक रस पर्याय प्रगट होती है।

गंध गुण की दो पर्यायें हैं - १. सुगन्ध २. दुर्गन्ध। इन दोनों में से एक काल में एक गंध पर्याय प्रगट होती है।

वर्ण गुण की पाँच पर्याय हैं - १. काला, २.पीला, ३. नीला, ४. लाल ५. सफेद। इन पाँचों से परमाणु के एक काल में एक वर्ण पर्याय प्रगट होती है।

इस तरह चार गुण के कुल २० भेद-पर्याय हैं। प्रत्येक पर्याय के दो, तीन, चार से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं।

पुद्गल की पर्याय -

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ।। २४ ।।

अर्थ - उक्त लक्षण वाले पुद्गल **[शब्द बन्ध सौक्ष्म्य स्थौल्य संस्थान भेद तमश्छायातपोद्योतवन्तः च]**

शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान (आकार), भेद, अंधकार, छाया, आतप और उद्योतादि वाले होते हैं अर्थात् ये भी पुद्गल पर्यायें हैं।

इन अवस्थाओं में से कितनी तो परमाणु और स्कन्ध दोनों में होती हैं, और कई स्कंध में ही होती हैं।

शब्द दो तरह का है-१. भाषात्मक और २. अभाषात्मक। इनमें से भाषात्मक दो तरह का है- १. अक्षरात्मक और २. अनक्षरात्मक। उनमें अक्षरात्मक भाषा संस्कृत और देश भाषा रूप है। वह दोनों शास्त्रों को प्रगट करने वाली और मनुष्य के व्यवहार का कारण है। अनक्षरात्मक भाषा दो इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय वालों तथा कितने पंचेन्द्रिय जीवों के होती है और अतिशय रूप ज्ञान को प्रकाशित करने में कारण केवली भगवान की दिव्य ध्वनि यह सभी अनक्षरात्मक भाषा है। यह पुरुषनिमित्तक है, इसलिये प्रायोगिक है।

अभाषात्मक शब्द भी दो भेद रूप है। एक प्रायोगिक दूसरा वैस्रसिक। जिस शब्द के उत्पन्न होने में पुरुष निमित्त हो वह प्रायोगिक है और जो पुरुष की बिना अपेक्षा के स्वभाव रूप उत्पन्न हो वह वैस्रसिक है, जैसे मेघ-गर्जना आदि। प्रायोगिक भाषा चार तरह की है-१. तत, २. वितत, ३. घन ४. सुषिर। जो चमड़े ढोल, नगाड़े आदि से उत्पन्न हो वह तत है। तार वाली वीणा, सितार, तंबूरा आदि से उत्पन्न होने वाली भाषा को वितत कहते हैं। घण्टा आदि के बजाने से उत्पन्न होने वाली भाषा घन कहलाती है और जो बांसुरी शंखादिक से उत्पन्न हो उसे सुषिर कहते हैं।

जो कान से सुना जाय उसे शब्द कहते हैं। जो मुख से उत्पन्न हो सो भाषात्मक शब्द है। जो दो वस्तु के आघात से उत्पन्न हो उसे अभाषात्मक शब्द कहते हैं। अभाषात्मक शब्द उत्पन्न होने में प्राणी तथा जड़ पदार्थ दोनों निमित्त हैं। जो केवल जड़ पदार्थों के आघात से उत्पन्न हो उसे वैस्रसिक कहते हैं, जिसके उत्पन्न होने में प्राणियों का निमित्त होता है उसे प्रायोगिक कहते हैं।

मुख से निकलने वाला जो शब्द, अक्षर, पद, वाक्य रूप है उसे साक्षर भाषात्मक कहते हैं, उसे वर्णात्मक भी कहते हैं।

तीर्थंकर भगवान के सर्व प्रदेशों से जो निरक्षर ध्वनि निकलती है उसे अनक्षर भाषात्मक कहा जाता है, ध्वन्यात्मक भी कहा जाता है।

बंध-दो तरह का है १. वैस्रसिक और २. प्रायोगिक। पुरुष की अपेक्षा से रहित जो बंध होता है उसे वैस्रसिक कहते हैं। यह वैस्रसिक दो तरह का है १. आदिमान २. अनादिमान। उसमें स्निग्ध रूक्षादि के कारण से जो बिजली, उल्कापात, बादल, आग इन्द्रधनुष आदि होते हैं उसे आदिमान वैस्रसिक-बंध कहते हैं। पुद्गल का अनादिमान बंध महास्कन्ध आदि हैं। (अमूर्तिक पदार्थों में भी वैस्रसिक अनादिमान बंध उपचार से कहा जाता है। यह धर्म, अधर्म तथा आकाश का है एवं अमूर्तिक और मूर्तिक पदार्थ का अनादिमान बंध-धर्म, अधर्म, आकाश और जगद्व्यापी महास्कन्ध का है।)

जो पुरुष की अपेक्षा सहित हो वह प्रायोगिक बंध है। उसके दो भेद हैं- १. अजीव विषय, २. जीवाजीव विषय। लाख का लकड़ी का जो बंध है सो अजीव विषयक प्रायोगिक बंध है। जीव के जो कर्म और नोकर्म बंध हैं वह जीवाजीव विषयक प्रायोगिक बंध है।

सूक्ष्म-दो तरह का है-१. अन्त्य, २. आपेक्षिक। परमाणु अन्त्य सूक्ष्म है। आँवले से बेर सूक्ष्म है, वह

आपेक्षिक सूक्ष्म है।

स्थूल–दो तरह का है १. अन्त्य, २. आपेक्षिक। जो जगद्व्यापी महास्कन्ध है वह अन्त्य स्थूल है, उससे बड़ा दूसरा कोई स्कन्ध नहीं है। 'बेर' आँवला आदि आपेक्षिक स्थूल हैं।

संस्थान–आकृति को संस्थान कहते हैं। उसके दो भेद हैं १. इत्थंलक्षण संस्थान और २. अनित्थंलक्षण संस्थान। उसमें गोल, त्रिकोण, चौरस, लंबा, चौड़ा, परिमंडल ये इत्थंलक्षण संस्थान हैं। बादल आदि जिसकी कोई आकृति नहीं वह अनित्थंलक्षण संस्थान हैं।

भेद–छह तरह का है। १. उत्कर, २. चूर्ण, ३. खण्ड, ४. चूर्णिका, ५. प्रतर और ६. अनुचटन। आरे आदि से लकड़ी आदि का विदारण करना सो उत्कर है। गेहूँ, बाजरा आदि का आटा चूर्ण है। घड़े आदि के टुकड़े खण्ड हैं। उड़द, मूँग, चना आदि दाल को चूर्णिका कहते हैं। मेघ, भोजपत्र, अभ्रक, मिट्टी आदि की तहें निकलना प्रतर है। तप्तायमान लोहे को घन इत्यादि से पीटने पर जो स्फुलिंग (चिंगारियाँ) निकलते हैं उसे अनुचटन कहते हैं।

अंधकार–जो प्रकाश का विरोधी है वह अंधकार है।

छाया–प्रकाश (उजेले) को ढकने वाली छाया है। वह दो प्रकार की है १. तद्वर्णपरिणति २. प्रतिबिम्बस्वरूप। रंगीन काँच में से देखने पर जैसा काँच का रंग हो वैसा ही दिखाई देता है यह तद्वर्णपरिणति कहलाती है और दर्पण, फोटो आदि में जो प्रतिबिम्ब देखा जाता उसे प्रतिबिम्ब स्वरूप कहते हैं।

आताप–सूर्य विमान के द्वारा जो उत्तम प्रकाश होता है उसे आताप कहते हैं।

उद्योत–चन्द्रमा, चन्द्रकांत मणि, दीपक आदि के प्रकाश को उद्योत कहते हैं।

उपरोक्त भेदों में 'सूक्ष्म' तथा 'संस्थान' (ये दो भेद) परमाणु और स्कन्ध दोनों में होते हैं और अन्य सब स्कन्ध के प्रकार हैं।

३. दूसरी तरह से पुद्गल के छह भेद हैं – १. सूक्ष्म-सूक्ष्म, २. सूक्ष्म, ३. सूक्ष्म स्थूल, ४. स्थूल सूक्ष्म, ५. स्थूल और ६. स्थूलस्थूल।

१. सूक्ष्म-सूक्ष्म – परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म है। **२. सूक्ष्म** – कार्माणवर्गणा सूक्ष्म है। **३. सूक्ष्म-स्थूल** – स्पर्श, रस, गंध और शब्द ये सूक्ष्मस्थूल हैं, क्योंकि ये आँख से दिखाई नहीं देते इसलिये सूक्ष्म है और इन्द्रियों से जाने जाते हैं इसलिये स्थूल हैं। **४. स्थूल-सूक्ष्म** – छाया, परछांई, प्रकाश आदि स्थूल सूक्ष्म है। क्योंकि यह आँख से दिखाई देते हैं इसलिये स्थूल हैं और उसे हाथ से पकड़ नहीं सकते इसलिये सूक्ष्म है। **५. स्थूल** – जल, तेल आदि सब स्थूल है। क्योंकि छेदन-भेदन से ये अलग हो जाते हैं और इकट्ठे करने से मिल जाते हैं।

६. स्थूल-स्थूल – पृथ्वी, पर्वत, काष्ठ आदि स्थूल-स्थूल हैं। वे पृथक करने से पृथक तो हो जाते हैं किन्तु फिर मिल नहीं सकते।

परमाणु इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है किन्तु इन्द्रिय ग्राह्य होने की उसमें योग्यता है। इसी तरह सूक्ष्म स्कन्ध को भी समझना चाहिये।

४. शब्द को आकाश का गुण मानना भूल है, क्योंकि आकाश अमूर्तिक है और शब्द मूर्तिक है, इसलिये शब्द आकाश का गुण नहीं हो सकता। शब्द का मूर्तिकत्व साक्षात् है क्योंकि शब्द कर्ण इन्द्रिय से ग्रहण होता है,

हस्तादि से तथा दीवाल आदि से रोका जाता है और हवा आदि मूर्तिक वस्तु से उसका तिरस्कार होता है, दूर जाता है। शब्द पुद्गल द्रव्य की पर्याय है इसलिये मूर्तिक है। यह प्रमाण सिद्ध है। पुद्गलस्कन्ध के परस्पर टकराने से शब्द प्रगट होता है।

पुद्गल के भेद –

अणवः स्कन्धाश्च।। २५।।

अर्थ – पुद्गल द्रव्य **[अणवः स्कन्धाः च]** अणु और स्कन्ध के भेद से दो प्रकार के हैं।

अणु – जिसका विभाग न हो सके ऐसे पुद्गल को अणु कहते हैं। पुद्गल मूल द्रव्य है।

स्कन्ध – दो तीन से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के पिण्ड को स्कन्ध कहते हैं।

स्कन्धों की उत्पत्ति का कारण –

भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते।। २६।।

अर्थ – परमाणुओं के **[भेदसंघातेभ्यः]** भेद (अलग होने से) संघात (मिलने से) अथवा भेद संघात दोनों से **[उत्पद्यन्ते]** पुद्गल स्कन्धों की उत्पत्ति होती है।

दृष्टांत – १०० परमाणुओं का स्कन्ध है, उनमें से दस परमाणु अलग हो जाने से ९० परमाणुओं का स्कन्ध बना, यह भेद का दृष्टांत है। उसमें (सौ परमाणु के स्कन्ध में) दस परमाणुओं के मिलने से एक सौ दस परमाणुओं का स्कन्ध हुआ, यह संघात का दृष्टांत है। उसी में ही एक साथ दस परमाणुओं के अलग होने और पन्द्रह परमाणुओं के मिल जाने से एक सौ पाँच परमाणुओं का स्कन्ध हुआ, यह भेद संघात का उदाहरण है।

अणु की उत्पत्ति का कारण –

भेदादणुः।। २७।।

अर्थ – **[अणुः]** अणु की उत्पत्ति **[भेदात्]** भेद से होती है।

दिखाई देने योग्य स्थूल स्कंध की उत्पत्ति का कारण –

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः।। २८।।

अर्थ – **[चाक्षुषः]** चक्षुइन्द्रिय से देखने योग्य स्कन्ध **[भेदसंघाताभ्याम्]** भेद और संघात दोनों के एकत्र रूप होने से उत्पन्न होता है, अकेले भेद से नहीं।

द्रव्यों का सामान्य लक्षण –

सद् द्रव्यलक्षणम्।। २९।।

अर्थ – **[द्रव्यलक्षणम्]** द्रव्य का लक्षण **[सत्]** सत् (अस्तित्व) है।

सत् का लक्षण –

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।। ३०।।

अर्थ – **[उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं]** जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सहित हो **[सत्]** वह सत् है।

१. जगत् में सत् के सम्बंध से कई असत् मान्यतायें चल रही हैं। कोई सत् को सर्वथा कूटस्थ–जो कभी न बदले ऐसा मानते हैं, कोई ऐसा कहते हैं कि सत् ज्ञानगोचर नहीं है, इसलिये सत् का यथार्थ त्रिकाली अबाधित स्वरूप इस सूत्र में कहा है।

२. प्रत्येक वस्तु का स्वरूप स्थायी रहते हुए बदलता है, उसे इंग्लिश में Permanancy With a Change (बदलने के साथ स्थायित्व) कहा है। उसे दूसरी तरह से इस प्रकार भी कहते हैं कि No Substance is Destroyed, Every Substance Changes its Form.(कोई वस्तु नष्ट नहीं होती, प्रत्येक वस्तु अपनी अवस्था बदलती रहती है।)

३. उत्पाद :- चेतन अथवा अचेतन द्रव्य में नवीन अवस्था का प्रगट होना उत्पाद है। जैसे - मिट्टी के पिंड की घट पर्याय। प्रत्येक उत्पाद होने पर पूर्वकाल से चला आया जो स्वभाव या स्वजाति है वह कभी छूट नहीं सकती।

व्यय :- स्वजाति अर्थात् मूल स्वभाव के नष्ट हुए बिना जो चेतन तथा अचेतन द्रव्य में पूर्व अवस्था का विनाश (उत्पाद के समय ही) होना व्यय है। जैसे - घट की उत्पत्ति होने पर मिट्टी के पिंड रूप आकार का विनाश।

ध्रौव्य :- अनादि अनन्तकाल तक सदा बना रहने वाला मूल स्वभाव जिसका व्यय या उत्पाद नहीं होता उसे ध्रौव्य कहते हैं। जैसे - मिट्टी के पिंड और घट आदि अवस्थाओं में मिट्टी का अन्वय बना रहता है।

नित्य का लक्षण -

तद्भावाव्ययं नित्यम्।। ३१।।

अर्थ - [तद्भावाव्ययं] तद्भाव से अव्यय है-नाश नहीं होना सो **[नित्यम्]** नित्य है।

जो पहले समय में हो वही दूसरे समय में हो उसे तद्भाव कहते हैं, वह नित्य होता है-अव्यय-अविनाशी होता है।

एक वस्तु में दो विरुद्ध धर्म सिद्ध करने की रीति -

अर्पितानर्पिसिद्धेः।। ३२।।

अर्थ - [अर्पितानर्पितसिद्धेः] प्रधानता और गौणता से पदार्थों की सिद्धि होती है।

१. प्रत्येक वस्तु अनेकान्त स्वरूप है, यह सिद्धान्त इस सूत्र में स्याद्वाद द्वारा कहा है। नित्यता और अनित्यता परस्पर विरोधी धर्म हैं, तथापि वे वस्तु को वस्तुपने में निष्पन्न (सिद्ध) करने वाले हैं, इसलिये वे प्रत्येक द्रव्य में होते ही हैं। उनका कथन मुख्य गौण रूप से होता है, क्योंकि सभी धर्म एक नहीं कहे जा सकते। जिस समय जिस धर्म को सिद्ध करना हो उस समय उसकी मुख्यता ली जाती है। उस मुख्यता-प्रधानता को 'अर्पित' कहा जाता है और उस समय जिस धर्म को गौण रखा हो उसे अनर्पित कहा जाता है। यानी पुरुष जानता है कि अनर्पित किया हुआ धर्म यद्यपि उस समय कहने में नहीं आया तो भी वह धर्म रहते ही हैं।

२. जिस समय द्रव्य को द्रव्य की अपेक्षा से नित्य कहा है उसी समय वह पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। सिर्फ उस समय 'अनित्यता' कही नहीं गई किन्तु गर्भित रखी है। इसी प्रकार जब पर्याय की अपेक्षा से द्रव्य को अनित्य कहा है उसी समय वह द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है, सिर्फ उस समय नित्यता कही नहीं गई है, क्योंकि दोनों धर्म एक साथ कहे नहीं जा सकते।

अर्पित अर्थात् मुख्यता और अनर्पित अर्थात् गौणता के द्वारा अनेकान्त स्वरूप का कथन -

अनेकान्त की व्याख्या निम्न प्रमाण है -

''एक वस्तु में वस्तुत्व की निष्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का एक ही साथ प्रकाशित होना अनेकान्त है।'' जैसे कि जो वस्तु सत् है वही असत् है अर्थात् जो अस्ति है वही नास्ति है, जो एक है वही अनेक है, जो

नित्य है वही अनित्य है इत्यादि।

अर्पित और अनर्पित का स्वरूप स्पष्ट रूप से समझने के लिये यहाँ दृष्टांत दिये जाते हैं –

१. 'जीव चेतन है' ऐसा कहने से 'जीव अचेतन नहीं है' ऐसा उसमें स्वयं गर्भित रूप से आ गया। इसमें 'जीव चेतन है' यह कथन अर्पित हुआ और 'जीव अचेतन नहीं है' यह कथन अनर्पित हुआ।

२. 'अजीव जड़ है' ऐसा कहने से 'अजीव चेतन नहीं है' ऐसा उसमें स्वयं गर्भित रूप से आ गया, इसमें पहला कथन अर्पित है और उसमें 'अजीव चेतन नहीं है' यह भाव अनर्पित गौण रूप से आ गया, अर्थात् बिना कहे भी उसमें गर्भित है ऐसा समझ लेना चाहिये।

३. 'जीव द्रव्य एक है' ऐसा कहने पर उसमें यह आ गया कि 'जीव गुण पर्याय से अनेक है' पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

४. 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है' ऐसा कहने से यह कथन भी आ गया कि 'पुण्य-पाप, आस्रव-बंध ये मोक्षमार्ग नहीं है' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

५. 'घी का घड़ा' कहने से उसमें यह कथन भी आ गया कि 'घड़ा घीमय नहीं किन्तु मिट्टीमय है, घी का घड़ा यह तो मात्र व्यवहार कथन है' इसमें पहला कथन अर्पित और दूसरा अनर्पित है।

उपरोक्त दृष्टांत ध्यान में रखकर शास्त्र में कैसा भी कथन किया हो उसका निम्नलिखित अनुसार अर्थ करना चाहिये-

पहले यह निश्चय करना चाहिये कि शब्दार्थ के द्वारा यह कथन किस नय से किया है। उसमें जो कथन जिस नय से किया हो वह कथन अर्पित है ऐसा समझना और सिद्धान्त के अनुसार उसमें गौण रूप से जो दूसरे भाव गर्भित हैं, यद्यपि वे भाव जो कि वहाँ शब्दों में नहीं कहे गये तो भी ऐसा समझ लेना चाहिये कि वे गर्भित रूप से कहे हैं, यह अनर्पित कथन है। इस प्रकार अर्पित और अनर्पित दोनों पहलुओं को समझकर यदि जीव अर्थ करे तो ही जीव को प्रमाण और नय का सत्य ज्ञान हो। यदि दोनों पहलुओं को यथार्थ न समझे तो उसका ज्ञान अज्ञानरूप से परिणमा है, इसलिये उसका ज्ञान अप्रमाण और कुनयरूप है। प्रमाण को सम्यक् अनेकांत भी कहा जाता है।

परमाणुओं में बंध होने का कारण –

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः।। ३३।।

अर्थ – [स्निग्धरूक्षत्वात्] चिकने और रूखे के कारण **[बन्धः]** दो, तीन इत्यादि परमाणुओं का बंध होता है।

१. पुद्गल में अनेक गुण हैं किन्तु उनमें से स्पर्श गुण के अतिरिक्त दूसरे गुणों का पर्याय से बंध नहीं होता, वैसे ही स्पर्श की आठ पर्यायों में से भी स्निग्ध और रूक्ष नाम की पर्यायों के कारण से ही बंध होता है और दूसरे छह प्रकार की पर्यायों से बंध नहीं होता, ऐसा यहाँ बताया है।

२. स्निग्ध, स्निग्ध के साथ, रूक्ष, रूक्ष के साथ तथा एक दूसरे के साथ बंध होता है।

बंध कब नहीं होता ?

न जघन्यगुणानाम्।। ३४।।

अर्थ – [जघन्यगुणानाम्] जघन्य गुण सहित परमाणुओं का **[न]** बंध नहीं होता।

'जघन्य गुण परमाणु' अर्थात् जिस परमाणु में स्निग्धता या रूक्षता का एक अविभागी अंश हो उसे जघन्य सहित परमाणु कहते हैं। जघन्य गुण अर्थात् एक गुण समझना।

बंध कब नहीं होता, इसका वर्णन –

गुण साम्ये सदृशानाम्।। ३५।।

अर्थ – [गुणसाम्ये] गुणों की समानता हो तब **[सदृशानाम्]** समान जाति वाले परमाणु के साथ बंध नहीं होता। जैसे कि दो गुण वाले स्निग्ध परमाणु का दूसरे दो गुण वाले स्निग्ध परमाणु के साथ बंध नहीं होता अथवा वैसे स्निग्ध परमाणु का उतने ही गुण वाले रूक्ष परमाणु के साथ बंध नहीं होता। न-(बंध नहीं होता) यह शब्द इस सूत्र में नहीं कहा परन्तु ऊपर के सूत्र में कहा गया 'न' शब्द इस सूत्र में भी लागू होता है।

१. सूत्र में 'सदृशानाम्' पद से यह प्रगट होता है कि गुणों की विषमता में समान जाति वाले तथा भिन्न जाति वाले पुद्गलों का बंध होता है।

२. दो गुण या अधिक गुण स्निग्धता और वैसे ही दो या अधिक गुण रूक्षता समान रूप हो तब बंध नहीं होता, ऐसा बताने के लिये 'गुणसाम्ये' पद इस सूत्र में लिया है।

बंध कब होता है ?

द्वयधिकादिगुणानां तु।। ३६।।

अर्थ – [द्वयधिकादिगुणानां तु] दो अधिक गुण हों इस तरह के गुण वाले के साथ ही बंध होता है। जब एक परमाणु से दूसरे परमाणु में दो अधिक गुण हों तब ही बंध होता है। जैसे कि दो गुण वाले परमाणु का बंध चार गुण वाले परमाणु के साथ हो, तीन गुण वाले परमाणु का पाँच गुण वाले परमाणु के साथ बंध हो परन्तु उससे अधिक या कम गुण वाले परमाणु के साथ बंध नहीं होता। यह बंध स्निग्ध का स्निग्ध के साथ, रूक्ष का रूक्ष के साथ, स्निग्ध का रूक्ष के साथ तथा रूक्ष का स्निग्ध के साथ भी बंध होता है।

दो गुण अधिक के साथ मिलने पर नई व्यवस्था कैसी होती है ?

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च।। ३७।।

अर्थ – [च] और **[बन्धे]** बन्ध रूप अवस्था में **[अधिकौ]** अधिक गुण वाले परमाणुओं जितने गुण रूप में **[पारिणामिकौ]** (कम गुण वाले परमाणुओं का) परिणमन होता है। (यह कथन निमित्त का है)। आशय यह है कि जो अल्प गुण धारक परमाणु हो वह जब अधिक गुणधारक परमाणु के साथ बंध अवस्था को प्राप्त होता है तब वह अल्पगुण धारक परमाणु अपनी पूर्व अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था प्रगट करता है और एक स्कन्ध हो जाता है अर्थात् अधिक गुण धारक परमाणु की जाति का और उतने गुण वाला स्कन्ध होता है।

द्रव्य का दूसरा लक्षण –

गुणपर्ययवत् द्रव्यम्।। ३८।।

अर्थ – [गुणपर्ययवत्] गुण-पर्यायवाला **[द्रव्यम्]** द्रव्य है।

गुण– १. द्रव्य की अनेक पर्याय बदलने पर भी जो द्रव्य से कभी पृथक नहीं हो, निरंतर द्रव्य के साथ सहभावी रहे वह गुण कहलाता है।

२. जो द्रव्य के पूरे हिस्से में तथा उसकी सभी हालतों में रहे उसे गुण कहते हैं। (जैन सिद्धान्त प्र. प्रश्न ११३)

३.जो द्रव्य में शक्ति की अपेक्षा से भेद किया जावे वह गुण शब्द का अर्थ है।

पर्याय– १. क्रम से होने वाली वस्तु की–गुण की अवस्था को पर्याय कहते हैं। २. गुण के विकार को (विशेष कार्य को) पर्याय कहते हैं। (जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्न १४८) ३. द्रव्य में जो विक्रिया हो अथवा जो अवस्था बदले वह पर्याय कहलाती है।

काल भी द्रव्य है –

कालश्च।। ३९।।

अर्थ – [कालः] काल **[च]** भी द्रव्य है।

१. काल उत्पाद–व्यय–ध्रुव तथा गुण–पर्याय सहित है इसलिये वह द्रव्य है।

२. काल द्रव्यों की संख्या असंख्यात है। वे रत्नों की राशि की तरह एक दूसरे से पृथक–लोक के समस्त प्रदेशों पर स्थित हैं। वह प्रत्येक कालाणु जड़, एक प्रदेशी और अमूर्तिक है। उसमें स्पर्श गुण नहीं है, इसलिये एक दूसरे के साथ मिलकर स्कन्ध रूप नहीं होता। काल में मुख्य रूप से या गौण रूप से प्रदेश–समूह की कल्पना नहीं हो सकती, इसलिये उसे अकाय भी कहते हैं। वह निष्क्रिय है अर्थात् एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में नहीं जाता।

३. सूत्र २२ में वर्तना मुख्य काल का लक्षण कहा है और उसी सूत्र में व्यवहार काल का लक्षण परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व कहा है। इस व्यवहार काल के अनंत समय हैं ऐसा अब इसके बाद के सूत्र में कहते हैं।

व्यवहार काल का प्रमाण –

सोऽनन्तसमयः।। ४०।।

अर्थ – [सः] वह काल द्रव्य **[अनन्त समयः]** अनन्त समय वाला है। काल की पर्याय यह समय है। यद्यपि वर्तमान काल एक समय मात्र ही है तथापि भूत–भविष्य की अपेक्षा से उसके अनन्त समय हैं।

समय – मंदगति से गमन करने वाले एक पुद्गल परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश जाने में जितना समय लगता है वह एक समय है। यह काल की पर्याय होने से व्यवहार है। आवली (समयों के समूह से ही जो हो) घड़ी, घंटा आदि व्यवहारकाल है। व्यवहारकाल निश्चयकाल की पर्याय है।

निश्चयकालद्रव्य – लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि की तरह कालाणु के स्थित होने का ३९ वें सूत्र की टीका में कहा है, वह प्रत्येक निश्चयकाल द्रव्य है। उसका लक्षण वर्तना है, यह सूत्र २२ में कहा जा चुका है।

२. एक समय में अनंत पदार्थों की परिणति पर्याय जो अनन्त संख्या में है, उसके एक कालाणु की पर्याय निमित्त होती है, इस अपेक्षा से एक कालाणु को उपचार से अनन्त कहा जाता है। मुख्य अर्थात् निश्चयकालाणु द्रव्य की संख्या असंख्यात है।

३. समय सबसे छोटे से छोटा काल है, उसका विभाग नहीं हो सकता।

गुण का लक्षण –

द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः।। ४१।।

अर्थ – [द्रव्याश्रयाः] जो द्रव्य के आश्रय से हो और **[निर्गुणाः]** स्वयं दूसरे गुणों से रहित हो **[गुणाः]**

वे गुण हैं।

१. ज्ञान गुण जीव द्रव्य के आश्रित रहता है तथा ज्ञान में और कोई दूसरा गुण नहीं रहता। यदि उसमें गुण रहे तो वह गुण न रहकर गुणी (द्रव्य) हो जाय, किन्तु ऐसा नहीं होता। 'आश्रया:' शब्द भेद-अभेद दोनों बतलाता है।

२. प्रत्येक गुण अपने द्रव्य के आश्रित रहता है, इसलिये एक द्रव्य का गुण दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, तथा दूसरे द्रव्य को प्रेरणा, असर या मदद नहीं कर सकता, पर द्रव्य निमित्त रूप से होता है परन्तु एक द्रव्य पर द्रव्य में अकिंचित्कर है। प्रेरणा, सहाय, मदद, उपकार आदि का कथन उपचार मात्र है अर्थात् निमित्त का मात्र ज्ञान कराने के लिये है।

परिणाम का लक्षण -

तद्भावः परिणामः।। ४२।।

अर्थ - [तद्भावः] जो द्रव्य का स्वभाव (निजभाव, निजतत्त्व) है **[परिणामः]** सो परिणाम है।

द्रव्य जिस स्वरूप से होता है तथा जिस स्वरूप से परिणमता है वह तद्भाव परिणाम है।

प्रत्येक द्रव्य अपने भाव से परिणमता है, पर के भाव से नहीं परिणमता अत: यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक द्रव्य अपना काम कर सकता है किन्तु दूसरे का नहीं कर सकता।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न ०१ - द्रव्य का लक्षण क्या है ?

उत्तर - द्रव्य का लक्षण सत् (अस्तित्व) है।

प्रश्न ०२ - सत् किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सहित हो वह सत् है।

प्रश्न ०३ - नित्य, अवस्थित किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो कभी नष्ट न हो उसे नित्य कहते हैं। जो अपनी संख्या का उल्लंघन न करे उसे अवस्थित कहते हैं।

प्रश्न ०४ - निष्क्रिय किसे कहते हैं, निष्क्रिय कितने द्रव्य हैं ?

उत्तर - एक स्थान से दूसरे स्थान को प्राप्त नहीं होने को निष्क्रिय कहते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य निष्क्रिय हैं।

प्रश्न ०५ - प्रदेश किसे कहते हैं, प्रत्येक द्रव्य कितने प्रदेशी हैं ?

उत्तर - आकाश के जितने क्षेत्र को एक पुद्‌गल परमाणु रोके उसे एक प्रदेश कहते हैं। जीव द्रव्य - असंख्यात प्रदेशी। पुद्‌गल द्रव्य - संख्यात, असंख्यात, अनंतप्रदेशी। धर्म द्रव्य - असंख्यात प्रदेशी। अधर्म द्रव्य - असंख्यात प्रदेशी। आकाश द्रव्य - अनंत प्रदेशी। काल द्रव्य - एक प्रदेशी है।

प्रश्न ०६ - धर्म, अधर्म द्रव्य लोकाकाश में किस तरह व्याप्त रहते हैं ?

उत्तर - धर्म अधर्म द्रव्य लोकाकाश में तिल में तेल की तरह व्याप्त रहते हैं।

प्रश्न ०७ - सम्पूर्ण लोकाकाश के बराबर जीव द्रव्य कब होता है ?

उत्तर - जीव द्रव्य केवली समुद्घात के समय सम्पूर्ण लोकाकाश के बराबर होता है।

प्रश्न ०८ - धर्म अधर्म और आकाश द्रव्य का क्या उपकार है ?

उत्तर - धर्म द्रव्य गति में सहायक है, अधर्म द्रव्य स्थिति (ठहरने) में सहायक है और आकाश द्रव्य समस्त द्रव्यों को अवगाह (स्थान) देने में सहायक है। यही इन द्रव्यों का उपकार है।

प्रश्न ०९ - जीव, पुद्गल और काल द्रव्य का उपकार बताइये ?

उत्तर - शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास, इन्द्रियजन्य सुख-दु:ख, जीवन-मरण ये पुद्गल द्रव्य के उपकार हैं। जैसे - पिता - पुत्र का, स्वामी - सेवक का, गुरू - शिष्य का उपकार ये जीव द्रव्य के परस्पर उपकार हैं। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व ये कालद्रव्य के उपकार हैं।

प्रश्न १० - वर्तना, परिणाम व क्रिया किसे कहते हैं ?

उत्तर - वर्तना - सर्वद्रव्य अपने आप वर्तते हैं तथापि उनके वर्तन में जो बाह्य सहकारी कारण होता है उसे वर्तना कहते हैं।

परिणाम - अपने स्वभाव को न छोड़कर द्रव्यों की पर्यायों के बदलने को परिणाम कहते हैं। जैसे - जीवों के परिणाम क्रोधादि और पुद्गलों के परिणाम अणु आदि।

क्रिया - एक स्थान से दूसरे स्थान में गमन को क्रिया कहते हैं।

प्रश्न ११ - पुद्गल द्रव्य की कितनी पर्याय हैं ?

उत्तर - पुद्गल द्रव्य की दस पर्याय हैं। शब्द, बंध आदि।

प्रश्न १२ - अर्पित, अनर्पित किसे कहते हैं ?

उत्तर - विवक्षित कथन अर्थात् मुख्यता प्रधानता अर्थात् प्रधान रूप कथन को अर्पित कहते हैं और विवक्षित कथन अर्थात् गौण रूप कथन को अनर्पित कहते हैं।

प्रश्न १३ - बंध कब होता है ?

उत्तर - जब एक परमाणु से दूसरे परमाणु में दो या अधिक गुण हों तब ही बंध होता है। जैसे कि दो गुण वाले परमाणु का बंध चार गुण वाले परमाणु के साथ हो, परंतु उससे अधिक या कम गुण वाले परमाणु के साथ बंध नहीं होता।

प्रश्न १४ - द्रव्य नित्य किस कारण से हैं ?

उत्तर - गति, स्थिति, अवगाहन, वर्तना आदि विशेष गुणों के ग्रहण करने वाले तथा अस्तित्व, वस्तुत्व आदि सामान्य गुणों को ग्रहण करने वाले यह छहों द्रव्य द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से कभी भी विनाश को प्राप्त नहीं होते, इसलिये नित्य हैं।

प्रश्न १५ - समय किसे कहते हैं ?

उत्तर - मंदगति से गमन करने वाले एक पुद्गल परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर जाने में जितना समय लगता है वह एक समय है।

....

श्री तत्त्वार्थ सूत्र के स्वाध्याय का प्रयोजन -

आचार्य श्री उमास्वामी द्वारा रचित तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम पाँच अध्याय में जीव और अजीव तत्त्व का वर्णन किया गया हैतथा अध्याय ६ से १० में आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ के स्वाध्याय का प्रयोजन जीव और अजीव को भिन्न-भिन्न जानना है। आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी ने अपने ग्रन्थ इष्टोपदेश में लिखा है -

जीवोऽन्य: पुद्गलश्चान्य: इत्यसौ तत्त्व संग्रह:।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोऽस्तु तस्यैव विस्तर:।। ५०।।

जीव और पुद्गल भिन्न-भिन्न हैं, यही तत्त्व का सार है, इसके अतिरिक्त जो कुछ भी (द्वादशांग रूप) कथन है वह सब इसी का विस्तार है।

आचार्य श्री जिन तारण तरण स्वामी जी ने श्री ज्ञानसमुच्चय सार जी ग्रन्थ में कहा है -

पूर्वं पूर्व उक्तं च, द्वादशांगं समुच्चयं।
ममात्मा अंग सार्धं च, आत्मनं परमात्मनं।। ७६।।

श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा जो द्वादशांग वाणी के समुच्चय रूप जिनवाणी का स्वरूप निर्दिष्ट किया है, इनमें चौदह पूर्वों का भी समावेश है, इन चौदह पूर्वों का सार इतना ही है कि मेरा आत्मा शरीर सहित होते हुए भी आत्मा ही परमात्मा है।

आचार्य श्री तारण स्वामी जी श्री ज्ञानसमुच्चय सार जी ग्रन्थ में सावधान करते हुए कहते हैं कि -

इन्द्री सरीर सुभावं, अतीन्द्रि न्यान जीव सहकारं।
गुन दोसं नवि जानई, अजीव तत्त्वं च मनंपि सहकारं।। ७८३।।

इन्द्रियाँ शरीर स्वभावमय हैं जबकि जीव अतीन्द्रिय ज्ञान स्वरूप है, जिसको स्वीकार करना है। जो जीव अजीव तत्त्व को मन से स्वीकार करते हैं अर्थात् शरीर ही मैं हूँ ऐसा मानते हैं वे गुन और दोषों को नहीं जानते हैं।

इस प्रकार जीव और अजीव के स्वरूप का निर्णय करने के साथ ही आस्रव आदि का निर्णय यथार्थ होता है। जीव विभाव परिणामों के निमित्त से प्रतिसमय कर्म का आस्रव और बंध करता है। जबकि स्वभाव के आश्रय से कर्मों की निर्जरा होती है। सम्यग्दर्शन होने पर संवर होता है और संवर पूर्वक निर्जरा होती है, यही निर्जरा मोक्ष की प्राप्ति में कार्यकारी होती है।

कर्म बंध में जीव का अज्ञान भाव मुख्य है, जबकि संवर और निर्जरा में ज्ञान भाव मुख्य है। मोक्ष की प्राप्ति स्वरूप में लीन होने पर होती है। संसार के दु:खों से जिस जीव को भय और दु:ख लगता है वही जीव परमार्थ के मार्ग में अग्रसर होता है।

अनादिकाल से जीव अपने स्वरूप से अपरिचित है इसलिये संसार की चार गति चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण कर रहा है। तत्त्वार्थ सूत्र के अध्ययन से हमें यही प्रेरणा प्राप्त होती है कि हम अपने जीवन में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का लक्ष्य बनायें तथा सात तत्त्वों के स्वरूप को हेय, ज्ञेय, उपादेयपने से जानकर यथार्थ श्रद्धान करें और जीवन को सार्थक बनायें यही तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के स्वाध्याय का प्रयोजन है।

अध्याय ३

तत्त्वार्थ सूत्र जी :
आचार्य श्री उमास्वामी जी

अ. अष्टकर्म संबंधी आस्रव विवेचन

ब. शुभास्रव, बारह व्रतों का स्वरूप

स. बंधतत्त्व, कर्मबंध विवेचन

द. संवर, निर्जरा तत्त्व का वर्णन

इ. मोक्ष तत्त्व विवेचन

(अ) अष्टकर्म सम्बंधी आश्रव विवेचन

षष्ट अध्याय

यह आस्रव अधिकार है, इसमें प्रथम योग के भेद और उसका स्वरूप कहते हैं –

कायवाङ्मनः कर्मयोगः।। १।।

अर्थ – [कायवाङ्मनः कर्म] शरीर, वचन और मन के अवलम्बन से आत्मा के प्रदेशों का सकम्प होना **[योगः]** योग है।

१. आत्मा के प्रदेशों का सकम्प होना योग है। सूत्र में जो योग के तीन भेद कहे हैं वे निमित्त की अपेक्षा से हैं। उपादान रूप योग में तीन भेद नहीं हैं, किन्तु एक ही प्रकार है। दूसरी तरह से योग के दो भेद किये जा सकते हैं। १. भाव योग और २. द्रव्ययोग। कर्म, नोकर्म के ग्रहण करने में निमित्त रूप आत्मा की शक्ति विशेष को भावयोग कहते हैं और उस शक्ति के कारण से जो आत्मा के प्रदेशों का सकम्प होना वह द्रव्ययोग कहलाता है।

२. आत्मा के अनन्तगुणों में एक योग गुण है, यह अनुजीवी गुण है। इस गुण की पर्याय में दो भेद होते हैं – १. परिस्पंदरूप अर्थात् आत्मप्रदेशों के कंपन रूप और २. आत्म प्रदेशों की निश्चलता रूप निष्कंप रूप। प्रथम प्रकार योग गुण की अशुद्ध पर्याय और दूसरा भेद योग गुण की शुद्ध पर्याय है।

इस सूत्र में योग गुण की कंपन रूप अशुद्ध पर्याय को 'योग' कहा है।

आस्रव का स्वरूप –

स आस्रवः।। २।।

अर्थ – [सः] वह योग **[आस्रवः]** आस्रव है।

प्रश्न – आस्रव को जानने की आवश्यकता क्या है ?

उत्तर – दु:ख का कारण क्या है यह जाने बिना दु:ख दूर नहीं किया जा सकता, मिथ्यात्वादि भाव स्वयं ही दु:खमय हैं, उसे जैसा है यदि वैसा न जाने तो जीव उसका अभाव भी न करेगा और जीव को दु:ख होता ही रहेगा, इसलिये आस्रव को जानना आवश्यक है।

प्रश्न – जीव को आस्रव तत्त्व की विपरीत श्रद्धा अनादि से क्यों है ?

उत्तर – मिथ्यात्व और शुभाशुभ रागादिक प्रगट रूप से दु:ख देने वाले हैं तथापि उनके सेवन करने से सुख होगा ऐसी मान्यता के कारण आस्रव तत्त्व की विपरीत श्रद्धा है।

योग के निमित्त से आस्रव के भेद –

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य।। ३।।

अर्थ – [शुभः] शुभ योग **[पुण्यस्य]** पुण्य कर्म के आस्रव में कारण है और **[अशुभः]** अशुभ योग **[पापस्य]** पापकर्म के आस्रव में कारण है।

१. योग में शुभ या अशुभ ऐसा भेद नहीं है, किन्तु आचरण रूप उपयोग में (चारित्र गुण की पर्याय में) शुभोपयोग और अशुभोपयोग ऐसा भेद होता है, इसलिये शुभोपयोग के साथ के योग को उपचार से शुभयोग कहते हैं और अशुभोपयोग के साथ के योग को उपचार से अशुभयोग कहा जाता है।

शुभयोग तथा अशुभयोग के अर्थ -

शुभयोग - पंच परमेष्ठी की भक्ति, प्राणियों के प्रति उपकार भाव, रक्षा भाव, सत्य बोलने का भाव, परधन हरण न करने का भाव इत्यादि शुभ परिणाम से निर्मित योग को शुभयोग कहते हैं।

अशुभयोग - जीवों की हिंसा करना, असत्य बोलना, परधन हरण करना, ईर्ष्या करना इत्यादि भाव रूप अशुभ परिणाम से बने हुए योग को अशुभयोग कहते हैं।

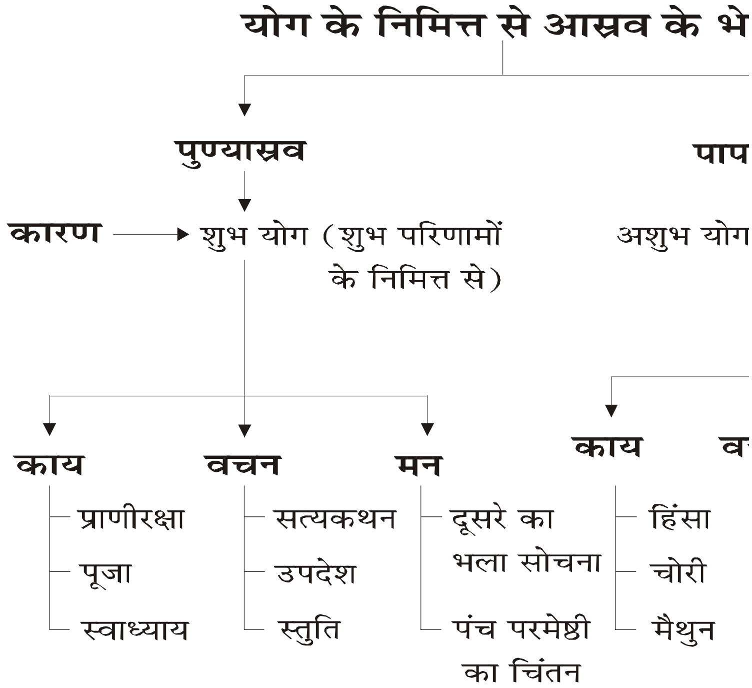

आस्रव सर्व संसारी जीवों के समान फल का कारण होता है या इसमें विशेषता है ?

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः।। ४।।

अर्थ - [सकषायस्य साम्परायिकस्य] कषायसहित जीव को संसार के कारण रूप कर्म का आस्रव होता है और **[अकषायस्य ईर्यापथस्य]** कषाय रहित जीव को स्थिति रहित कर्म का आस्रव होता है।

१. साम्परायिक आस्रव - यह आस्रव संसार का ही कारण है। मिथ्यात्व भाव रूप आस्रव अनन्त संसार का कारण है। मिथ्यात्व का अभाव होने के बाद होने वाला आस्रव अल्प संसार का कारण है। यह आस्रव पहले से दसवें गुणस्थान तक होता है।

२. ईर्यापथ आस्रव - यह आस्रव स्थिति और अनुभाग रहित है और यह अकषायी जीवों के ११-१२ और १३ वें गुणस्थान में होता है। चौदहवें गुणस्थान में रहने वाले जीव अकषायी और अयोगी दोनों हैं, इसलिये वहाँ आस्रव नहीं है।

साम्परायिक आस्रव के ३९ भेद –

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याःपूर्वस्य भेदाः।। ५।।

अर्थ – [इन्द्रियाणि पंच] स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियाँ **[कषायाः चतुः]** क्रोधादि चार कषाय **[अव्रतानि पंच]** हिंसा इत्यादि पाँच अव्रत और **[क्रियाः पंचविंशतिः]** सम्यक्त्व आदि पच्चीस प्रकार की क्रियायें **[संख्याः भेदाः]** इस तरह कुल ३९ भेद **[पूर्वस्य]** पहले (साम्परायिक) आस्रव के हैं, अर्थात् इन सर्व भेदों के द्वारा साम्परायिक आस्रव होता है।

पच्चीस प्रकार की क्रियाओं के नाम और उनके अर्थ –

१. सम्यक्त्व क्रिया – चैत्य, गुरु और प्रवचन (शास्त्र) की पूजा इत्यादि कार्यों से सम्यक्त्व की वृद्धि होती है, इसीलिये यह सम्यक्त्व क्रिया है। यहाँ मन, वचन, काय की जो क्रिया होती है वह सम्यक्त्वी जीव के शुभभाव में निमित्त है। वे शुभभाव को धर्म नहीं मानते, उस मान्यता की दृढ़ता के द्वारा उनके सम्यक्त्व की वृद्धि होती है, इसलिये यह मान्यता आस्रव नहीं, किन्तु जो सकषाय (शुभ भाव सहित) योग है वह भाव आस्रव है, वह सकषाय योग द्रव्यकर्म के आस्रव में मात्र निमित्तकारण है।

२. मिथ्यात्व क्रिया – कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र की पूजा, स्तवन आदि मिथ्यात्व के कारण होने वाली क्रियायें हैं यह मिथ्यात्व क्रिया है।

३. प्रयोग क्रिया – हाथ, पैर इत्यादि चलाने के भाव रूप जो क्रिया है वह प्रयोग क्रिया है।

४. समादान क्रिया – संयमी का असंयम के सन्मुख होना।

५. ईर्यापथ क्रिया – समादान क्रिया से विपरीत क्रिया अर्थात् संयम बढ़ाने के लिये साधु जो क्रिया करते हैं वह ईर्यापथ क्रिया है। ईर्यापथ पाँच समिति रूप है, उसमें जो शुभभाव है वह ईर्यापथ क्रिया है।

अब पाँच क्रियायें कही जाती हैं, इसमें पर हिंसा के भाव की मुख्यता है –

६. प्रादोषिक क्रिया – क्रोध के आवेश से द्वेषादि रूप बुद्धि करना प्रादोषिक क्रिया है।

७. कायिकी क्रिया – उपर्युक्त दोष उत्पन्न होने पर हाथ से मारना, मुख से गाली देना इत्यादि प्रवृत्ति का जो भाव है वह कायिकी क्रिया है।

८. अधिकरणिकी क्रिया – हिंसा के साधनभूत बन्दूक, छुरी इत्यादि लेना, देना, रखना यह सब अधिकरणिकी क्रिया है।

९. परिताप क्रिया – दूसरे को दुःख देने में लगना।

१०. प्राणातिपात क्रिया – दूसरे के शरीर, इन्द्रिय या श्वासोच्छ्वास को नष्ट करना प्राणातिपात क्रिया है।

नोट :– यह व्यवहार कथन है, इसका अर्थ ऐसा समझना चाहिये कि जीव जब निज में इस प्रकार के अशुभ भाव करता है, तब इस क्रिया में बताई गई पर वस्तुयें स्वयं बाह्य निमित्त रूप से होती हैं। ऐसा नहीं मानना कि जीव पर पदार्थों का कुछ कर सकता है या पर पदार्थ जीव का कुछ कर सकते हैं।

अब ११ से १५ तक की ५ क्रियायें कहते हैं। इनका सम्बंध इन्द्रियों के भोगों के साथ है।

११. दर्शन क्रिया – सौन्दर्य देखने की इच्छा दर्शन क्रिया है।

१२. स्पर्शन क्रिया – किसी वस्तु को स्पर्श करने की इच्छा स्पर्शन क्रिया है (इसमें अन्य इन्द्रियों संबंधी

वांछा का समावेश समझना चाहिये।)

१३. प्रात्ययिकी क्रिया – इन्द्रिय के भोगों की वृद्धि के लिये नवीन–नवीन सामग्री एकत्रित करना या उत्पन्न करना प्रात्ययिकी क्रिया है।

१४. समंतानुपात क्रिया – स्त्री, पुरुष तथा पशुओं के उठने–बैठने के स्थान को मलमूत्र से खराब करना समंतानुपात क्रिया है।

१५. अनाभोग क्रिया – बिना देखी या बिना शोधी जमीन पर बैठना, उठना, सोना या कुछ धरना–उठाना अनाभोग क्रिया है।

अब १६ से २० तक की पाँच क्रियायें कहते हैं, यह उच्च धर्माचरण में धक्का पहुँचाने वाली हैं –

१६. स्वहस्त क्रिया – जो काम दूसरे के योग्य हो उसे स्वयं करना स्वहस्त क्रिया है।

१७. निसर्ग क्रिया – पाप के साधनों के लेने–देने में सम्मति देना निसर्ग क्रिया है।

१८. विदारण क्रिया – आलस्य के वश होकर अच्छे काम न करना और दूसरे के दोष प्रगट करना विदारण क्रिया है।

१९. आज्ञाव्यापादिनी क्रिया – शास्त्र की आज्ञा का स्वयं पालन न करना और उसके विपरीत अर्थ करना तथा विपरीत उपदेश देना आज्ञाव्यापादिनी क्रिया है।

२०. अनाकांक्षा क्रिया – उन्मत्तपना या आलस्य के वश होकर प्रवचन (शास्त्रों) में कही गई आज्ञा के प्रति आदर या प्रेम न रखना अनाकांक्षा क्रिया है।

अब अंतिम पाँच क्रियायें कहते हैं, इनके होने से धर्म धारण करने में विमुखता रहती है –

२१. आरम्भ क्रिया : हानिकारक कार्यों में रुकना, छेदना, तोड़ना, भेदना या अन्य कोई वैसा करे तो हर्षित होना आरम्भ क्रिया है।

२२. परिग्रह क्रिया – परिग्रह का कुछ भी नाश न हो ऐसे उपायों में लगे रहना परिग्रह क्रिया है।

२३. माया क्रिया – मायाचार से ज्ञानादि गुणों को छिपाना।

२४. मिथ्यादर्शन – मिथ्यादृष्टि जीवों की तथा मिथ्यात्व से परिपूर्ण कार्यो की प्रशंसा करना मिथ्यादर्शन क्रिया है।

२५. अप्रत्याख्यान क्रिया – जो त्याग करने योग्य हो उसका त्याग न करना अप्रत्याख्यान क्रिया है। (प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है, विषयों के प्रति आसक्ति का त्याग करने के बदले उनमें आसक्ति करना अप्रत्याख्यान है)

आस्रव में विशेषता (हीनाधिकता) का कारण –

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्य विशेषेभ्यस्तद्विशेषः।। ६।।

अर्थ – [तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यः] तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण विशेष और वीर्य विशेष से **[तद्विशेषः]** आस्रव में विशेषता हीनाधिकता होती है।

तीव्रभाव – अत्यन्त बढ़े हुए क्रोधादि भाव तीव्रभाव हैं।

मंदभाव – कषायों की मंदता रूप भाव को मंदभाव कहते हैं।

ज्ञातभाव – जानकर इरादापूर्वक करने में आने वाली प्रवृत्ति ज्ञातभाव है।

अज्ञातभाव – बिना जाने असावधानी से प्रवर्तना अज्ञातभाव है।

अधिकरण – जिस द्रव्य का आश्रय लिया जाये वह अधिकरण है।

वीर्य – द्रव्य की स्वशक्ति विशेष को वीर्य (बल) कहते हैं।

अधिकरण के भेद –

अधिकरणं जीवाऽजीवाः।। ७।।

अर्थ – [अधिकरणं] अधिकरण **[जीवाऽजीवाः]** जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य ऐसे दो भेद रूप है, इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि आत्मा में जो कर्मास्रव होता है उसमें दो प्रकार का निमित्त होता है, एक जीव निमित्त और दूसरा अजीव निमित्त। यहाँ अधिकरण का अर्थ निमित्त है।

जीव अधिकरण के भेद –

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः।। ८।।

अर्थ – [आद्यं] पहला अर्थात् जीव अधिकरण-आस्रव **[संरम्भसमारम्भारम्भ योग कृत कारितानुमत कषायविशेषैः च]** संरम्भ-समारम्भ-आरम्भ, मन-वचन-काय रूप तीन योग, कृत-कारित-अनुमोदना तथा क्रोधादि चार कषायों की विशेषता से **[त्रिः त्रिः त्रिः चतुः]** ३×३×३×४ **[एकशः]** १०८ भेद रूप है। (इन १०८ प्रकार के पापास्रव का नाश करने के लिये माला में १०८ दाने होते हैं।)

संरम्भादि तीन भेद हैं, उन प्रत्येक में मन-वचन-काय ये तीन भेद लगाने से नव भेद हुए, इन प्रत्येक भेद में कृत-कारित-अनुमोदना ये तीन भेद लगाने से २७ भेद हुए और इन प्रत्येक में क्रोध-मान-माया-लोभ ये चार भेद लगाने से १०८ भेद होते हैं। ये सब भेद जीवाधिकरण आस्रव के हैं।

सूत्र में च शब्द अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय के चार भेद बतलाता है।

अनन्तानुबंधी कषाय – जिस कषाय से जीव अपना स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट न कर सके उसे अनन्तानुबंधी कषाय कहते हैं अर्थात् जो आत्मा के स्वरूपाचरण चारित्र का घात करे उसे अनन्तानुबंधी कषाय कहते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय – जिस कषाय के उदय से जीव एकदेश रूप संयम (सम्यग्दृष्टि श्रावक के व्रत) किंचित् मात्र भी प्राप्त न कर सके उसे अप्रत्यख्यानावरण कषाय कहते हैं।

प्रत्याख्यानावरण कषाय – जीव जिस कषाय के उदय से सम्यग्दर्शन पूर्वक सकल संयम को ग्रहण न कर सके उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं।

संज्वलन कषाय – जिस कषाय के उदय से जीव का संयम तो बना रहे परन्तु शुद्ध स्वभाव में शुद्धोपयोग में पूर्ण रूप से लीन न हो सके उसे संज्वलन कषाय कहते हैं।

संरम्भ – किसी भी (विकारी) कार्य करने के संकल्प करने को संरम्भ कहा जाता है। (संकल्प दो प्रकार का है १. मिथ्यात्व रूप संकल्प २. अस्थिरता रूप संकल्प।)

समारम्भ – उस निर्णय के अनुसार साधन मिलाने (के भाव) को समारम्भ कहा जाता है।

आरम्भ – उस कार्य के प्रारंभ करने को आरंभ कहा जाता है।

कृत – स्वयं करने (के भाव) को कृत कहते हैं।

कारित – दूसरे से कराने के भाव को कारित कहते हैं।

अनुमति – जो दूसरे करें उसे भला समझना वह अनुमति है।

अजीवाधिकरण आस्रव के भेद –

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गाः द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम्।। ९।।

अर्थ – [परम्] दूसरा अजीवाधिकरण आस्रव **[निर्वर्तना द्वि]** दो प्रकार की निर्वर्तना **[निक्षेप चतुः]** चार प्रकार के निक्षेप **[संयोग द्वि]** दो प्रकार के संयोग और **[निर्सगाः त्रिभेदाः]** तीन प्रकार के निसर्ग ऐसे कुल ११ भेद रूप है।

निर्वर्तना – रचना करना, निपजाना सो निर्वर्तना है। उसके दो भेद हैं, १. शरीर से कुचेष्टा उत्पन्न करना देह **दुःप्रयुक्त निर्वर्तना** है और २. शस्त्र इत्यादि हिंसा के उपकरण की रचना करना सो **उपकरण निर्वर्तना** है।

निक्षेप – वस्तु के रखने को (धरने को) निक्षेप कहते हैं। उसके चार भेद हैं – १. बिना देखे वस्तु को रखना अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण है। २. यत्नाचार रहित होकर वस्तु को रखना दुःखप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण है। ३. भयादिक से या अन्य कार्य करने की जल्दी में पुस्तक, कमण्डलु, शरीर या शरीरादि के मैल को रखना सहसानिक्षेपाधिकरण है ४. जीव है या नहीं ऐसा बिना देखे और बिना विचार किये शीघ्रता से पुस्तक, कमण्डलु, शरीर या शरीर के मैल को रखना और जहाँ वस्तु रखनी चाहिये वहाँ न रखना अनाभोगनिक्षेपाधिकरण है।

संयोग – मिलाप होना सो संयोग है। उसके दो भेद हैं – १. भक्तपान संयोग और २. उपकरण संयोग। एक आहार पानी को दूसरे आहार-पानी के साथ मिला देना सो भक्तपान संयोग है और ठंडी पुस्तक, कमण्डलु, शरीरादिक को धूप से गरम हुई पीछी आदि से पोंछना तथा शोधना सो उपकरण संयोग है।

निसर्ग – प्रवर्तन को निसर्ग कहते हैं। उसके तीन भेद हैं – १. मन को प्रवर्ताना सो मन निसर्ग है, २. वचनों को प्रवर्ताना सो वचन निसर्ग है ३. शरीर को प्रवर्ताना सो काय निसर्ग है।

यहाँ तक सामान्य आस्रव के कारण कहे, अब विशेष आस्रव के कारण वर्णित करते हैं, उसमें प्रत्येक कर्म के आस्रव के कारण बतलाते हैं –

ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव का कारण –

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः।। १०।।

अर्थ – [तत्प्रदोष निह्नव मात्सर्यान्तराया सादनोपघाताः] ज्ञान और दर्शन के सम्बंध में करने में आये हुए प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात **[ज्ञानदर्शनावरणयोः]** ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मास्रव के कारण हैं।

प्रदोष – मोक्ष का कारण अर्थात् मोक्ष का उपाय तत्त्वज्ञान है, उसका कथन करने वाले पुरुष की प्रशंसा न करते हुए अंतरङ्ग में दुष्ट परिणाम होना प्रदोष है।

निह्नव – वस्तुस्वरूप जानते हुए भी छिपाना, ऐसा कहना कि मैं नहीं जानता यह निह्नव है।

मात्सर्य – वस्तु स्वरूप के जानते हुए भी यह विचार कर किसी को न पढ़ाना कि यदि मैं इसे कहूँगा तो 'यह पंडित हो जायेगा' ऐसा भाव मात्सर्य है।

अंतराय – यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में विघ्न उत्पन्न करना अन्तराय है।

आसादन – पर के द्वारा प्रकाश होने योग्य ज्ञान को रोकना आसादन है।

उपघात – यथार्थ ज्ञान में दोष लगाना उपघात है।

इस सूत्र में 'तत्' का अर्थ ज्ञान–दर्शन होता है।

उपरोक्त छह दोष यदि ज्ञान सम्बंधी हों तो ज्ञानावरण कर्म के आस्रव में निमित्त हैं और दर्शन सम्बंधी हों तो दर्शनावरण कर्म के आस्रव में निमित्त हैं।

इस सूत्र में जो ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म के आस्रव के छह कारण कहे गये हैं। इन छह के पश्चात् इनका विशेष स्वरूप श्री तत्त्वार्थसार के चौथे अध्याय की १३ से १६ वीं गाथा में इस प्रकार दिया गया है –

०७ – तत्त्वों का उत्सूत्र कथन करना। ०८ – तत्त्व का उपदेश सुनने में अनादर करना।

०९ – तत्त्वोपदेश सुनने में आलस्य रखना। १० – लोभ बुद्धि से शास्त्र बेचना।

११ – अपने आपको बहुश्रुतज्ञ (उपाध्याय) मानकर अभिमान से मिथ्या उपदेश देना।

१२ – अध्ययन के लिये जिस समय का निषेध है उस समय में (अकाल में) शास्त्र पढ़ना।

१३ – सच्चे आचार्य तथा उपाध्याय से विरुद्ध रहना। १४ – तत्त्वों में श्रद्धा न रखना।

१५ – तत्त्वों का अनुचिंतन न करना। १६ – सर्वज्ञ भगवान के शासन के प्रचार में बाधा डालना।

१७ – बहुश्रुत ज्ञानियों का अपमान करना। १८ – तत्त्वज्ञान का अभ्यास करने में शठता करना।

यहाँ यह तात्पर्य है कि जो काम करने से अपने तथा दूसरे के तत्त्वज्ञान में बाधा आवे या मलिनता हो वे सब ज्ञानावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं। जैसे कि एक ग्रन्थ के असावधानी से लिखने पर किसी पाठ को छोड़ देना अथवा कुछ का कुछ लिख देना ज्ञानावरण कर्म के आस्रव का कारण होता है।

४. पुनः दर्शनावरण के लिये सूत्र में कहे गये छह कारणों के पश्चात् अन्य विशेष कारण श्री तत्त्वार्थसार के चौथे अध्याय की १७, १८, १९ वीं गाथा में निम्न प्रकार दिये हैं –

७ – किसी की आँख निकाल लेना। ८. बहुत सोना। ९. दिन में सोना। १०. नास्तिकपने की भावना रखना। ११. सम्यग्दर्शन में दोष लगाना। १२. कुतीर्थवालों की प्रशंसा करना। १३. तपस्वियों (दिगम्बर मुनियों) को देखकर ग्लानि करना, ये सब दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं।

असातावेदनीय के आस्रव के कारण –

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य ।। ११ ।।

अर्थ – **[आत्मपरोभयस्थानानि]** अपने में, पर में और दोनों के विषय में स्थित **[दुःखशोक तापाक्रंदन वधपरिदेवनानि]** दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये **[असद्वेद्यस्य]** असातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

दुःख – पीड़ा रूप परिणाम विशेष को दुःख कहते हैं।

शोक – अपने को लाभदायक मालूम होने वाले पदार्थ का वियोग होने पर विकलता होना शोक है।

ताप – संसार में अपनी निंदा आदि होने पर पश्चात्ताप होना।

आक्रन्दन – पश्चात्ताप सहित अश्रुपात करके रोना आक्रन्दन है।

वध – प्राणों का वियोग करने को वध कहते हैं।

परिदेवन – संक्लेश परिणामों के कारण से ऐसा रुदन करना कि जिससे सुनने वाले के हृदय में दया उत्पन्न हो जाए वह परिदेवन है।

यद्यपि शोक, ताप आदि दु:ख के ही भेद हैं तथापि दु:ख की जातियाँ बताने के लिये यह दो भेद बतलाये हैं। स्वयं को, पर को या दोनों को एक साथ दु:ख-शोकादि उत्पन्न करना असातावेदनीय कर्म के आस्रव का कारण होता है।

सातावेदनीय के आस्रव के कारण –

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ।। १२।।

अर्थ – [**भूतव्रत्यनुकंपा**] प्राणियों के प्रति और व्रतधारियों के प्रति अनुकम्पा, दया [**दान सरागसंयमादियोगः**] दान, सराग संयमादि के योग [**क्षांति शौचमिति**] क्षमा और शौच, अर्हन्त भक्ति इत्यादि [**सद्वेद्यस्य**] सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

भूत – चारों गतियों के प्राणी।

व्रती – जिन्होंने सम्यग्दर्शन पूर्वक अणुव्रत या महाव्रत धारण किये हों ऐसे जीव, इन दोनों पर अनुकम्पा-दया करना भूतव्रत्यनुकंपा है।

प्रश्न – जब कि 'भूत' कहने पर उसमें समस्त जीव आ गये तो फिर 'व्रती' बतलाने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर – सामान्य प्राणियों से व्रती जीवों के प्रति अनुकंपा की विशेषता बतलाने के लिये यह कहा गया है, व्रती जीवों के प्रति भक्ति पूर्वक भाव होना चाहिये।

दान – दु:खी, भूखे आदि जीवों पर उपकार के लिये धन, औषधि, आहारादि देना तथा व्रती सम्यग्दृष्टि सुपात्र जीवों को भक्तिपूर्वक दान देना दान कहलाता है।

सरागसंयम – सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्र के धारक मुनि को जो महाव्रत रूप शुभ भाव है, संयम के साथ वह राग होने से सराग संयम कहा जाता है। राग संयम नहीं, जितना वीतराग भाव है वह संयम है।

संयमासंयम – सम्यग्दृष्टि श्रावक के व्रतों को संयमासंयम कहते हैं।

अकामनिर्जरा – पराधीनता से (अपनी बिना इच्छा के) भोग-उपभोग का निरोध होने पर संक्लेश रहित होना अर्थात् कषाय की मन्दता करना अकाम निर्जरा है।

बालतप – मिथ्यादृष्टि का मंद कषाय से होने वाला तप।

योग – शुभ परिणाम सहित निर्दोष क्रिया विशेष को योग कहते हैं।

क्षांति – शुभ परिणाम की भावना से क्रोधादि कषाय में होने वाली तीव्रता के अभाव को क्षांति (क्षमा) कहते हैं।

शौच – शुभ परिणाम पूर्वक जो लोभ का त्याग है वह शौच है। वीतरागी निर्विकल्प क्षमा और शौच को 'उत्तम क्षमा' और 'उत्तम शौच' कहते हैं, वह आस्रव का कारण नहीं है।

अनन्त संसार के कारणभूत दर्शनमोह के आस्रव के कारण –

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य।। १३।।

अर्थ – [**केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादः**] केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव का अवर्णवाद करना सो

[दर्शनमोहस्य] दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव का कारण है।

– गुणवान पुरुष में जो दोष नहीं है, उनका उनमें उद्‌भावन (दोषारोपण) करना अवर्णवाद है। अवर्णवाद, निंदा और अपवाद एकार्थवाची शब्द हैं।

– केवलज्ञानी भगवान कवलाहार करते हैं ऐसा कहना केवली का अवर्णवाद है।

– शास्त्र में मांस भक्षण आदि को निर्दोष कहा है, इत्यादि रूप कथन करना श्रुत का अवर्णवाद है।

– रत्नत्रय से युक्त श्रमणों का समुदाय संघ कहलाता है। संघ अपने आचरण से निर्मल व पवित्र होता है, ऐसे साधु संघ को ये शूद्र हैं, अपवित्र हैं, अशुचि हैं आदि कहकर इनका अपवाद करना संघ का अवर्णवाद है।

– सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित आगम में उपदिष्ट अहिंसा ही वस्तुतः धर्म है। किन्तु जिनदेव द्वारा कथित धर्म में कोई सार नहीं है, जो इनका सेवन करते हैं, वे असुर होंगे ऐसा कहना धर्म का अवर्णवाद है।

– देवों को ये ''सुरा और मांस का सेवन करते हैं'' कहना देवों का अवर्णवाद है।

चारित्र मोहनीय के आस्रव के कारण –

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य।। १४।।

अर्थ – [कषायोदयात्] कषाय के उदय से **[तीव्रपरिणामः]** तीव्र परिणाम होना **[चारित्रमोहस्य]** चारित्र मोहनीय के आस्रव का कारण है।

नरकायु के आस्रव के कारण –

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः।। १५।।

अर्थ – [बह्वारम्भपरिग्रहत्वं] बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह होना **[नारकस्यायुषः]** नरकायु के आस्रव का कारण है।

'बहु' शब्द संख्यावाचक तथा परिणाम वाचक है, ये दोनों अर्थ यहाँ लागू होते हैं। अधिक संख्या में आरम्भ-परिग्रह रखने से नरकायु का आस्रव होता है। बहु आरम्भ-परिग्रह के जो भाव हैं सो उपादान कारण है और जो बाह्य बहुत आरम्भ-परिग्रह है सो निमित्तकारण है।

आरम्भ – हिंसादि प्रवृत्ति का नाम आरम्भ है। जितना भी आरम्भ किया जाता है उसमें स्थावर आदि जीवों का नियम से घात होता है। आरम्भ के साथ 'बहु' शब्द का समास करके ज्यादा आरम्भ अथवा बहुत तीव्र परिणाम से जो आरम्भ किया जाता है वह बहु आरम्भ है, ऐसा अर्थ समझना।

परिग्रह – 'यह वस्तु मेरी है, मैं इसका स्वामी हूँ'-ऐसा पर में अपनेपन का अभिमान अथवा पर वस्तु में 'यह मेरी है' ऐसा जो संकल्प है वह परिग्रह है। केवल बाह्य धन-धान्यादि पदार्थों में ही 'परिग्रह' नाम लागू होता है ऐसी बात नहीं है, बाह्य में किसी भी पदार्थ के न होने पर भी यदि भाव में ममत्व हो तो वहाँ भी परिग्रह होता है।

सूत्र में जो नरकायु के आस्रव के कारण बताये हैं वे संक्षेप में हैं, उन भावों का विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है –

१. मिथ्यादर्शन सहित हीनाचार में तत्पर रहना। २. अत्यन्त मान करना।

३. शिलाभेद की तरह अत्यन्त तीव्र क्रोध करना। ४. अत्यन्त तीव्र लोभ का अनुराग करना।

५. दया रहित परिणामों का होना। ६. दूसरों को दुःख देने का विचार रखना।

७. जीवों को मारने तथा बांधने का भाव करना। ८. जीवों के निरंतर घात करने का परिणाम रखना।

९. जिसमें दूसरे प्राणी का वध हो ऐसे झूठे वचन बोलने का स्वभाव रखना।
१०. दूसरों के धन हरण करने का स्वभाव रखना।
११. दूसरों की स्त्रियों को आलिंगन करने का स्वभाव रखना।
१२. मैथुन-सेवन से विरक्त न होना। १३. अत्यन्त आरम्भ में इन्द्रियों को लगाये रखना।
१४. काम-भोगों की अभिलाषा को सदैव बढ़ाते रहना। १५. शील सदाचार रहित स्वभाव रखना।
१६. अभक्ष्य-भक्षण को ग्रहण करने अथवा कराने का भाव रखना।
१७. अधिक काल तक बैर बांधे रखना। १८. महा क्रूर स्वभाव रखना।
१९. बिना विचारे रोने-कूटने का स्वभाव रखना। २०. देव-गुरु-शास्त्र में मिथ्या दोष लगाना।
२१. कृष्ण लेश्या के परिणाम रखना। २२. रौद्र ध्यान में मरण करना।
इत्यादि लक्षण वाले परिणाम नरकायु के कारण होते हैं।

तिर्यञ्चायु के आस्रव के कारण -

माया तैर्यग्योनस्य।। १६।।

अर्थ - [माया] माया-छलकपट **[तैर्यग्योनस्य]** तिर्यञ्चायु के आस्रव का कारण है।

जो जीव का कुटिल स्वभाव है, उससे तिर्यञ्च योनि का आस्रव होता है। तिर्यञ्चायु के आस्रव के कारण का इस सूत्र में जो वर्णन किया है वह संक्षेप में है। उन भावों का विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है-

१. माया से मिथ्याधर्म का उपदेश देना। २. बहुत आरम्भ-परिग्रह में कपटयुक्त परिणाम करना।
३. कपट-कुटिल कर्म में तत्पर होना। ४. पृथ्वी भेद सदृश क्रोधीपना होना।
५. शीलरहितपना होना। ६. शब्द से और चेष्टा से तीव्र मायाचार करना।
७. पर के परिणाम में भेद उत्पन्न करना। ८. अति अनर्थ प्रगट करना।
९. गंध, रस, स्पर्श का विपरीतपना होना। १०. जाति, कुल, शील में दूषण लगाना।
११. विसम्वाद में प्रीति रखना। १२. दूसरे के उत्तम गुण को छिपाना।
१३. अपने में जो गुण नहीं है उन्हें भी बतलाना। १४. नील-कापोत लेश्या रूप परिणाम करना।
१५. आर्तध्यान में मरण करना। इत्यादि लक्षण वाले परिणाम तिर्यञ्चायु के आस्रव के कारण हैं।

मनुष्यायु के आस्रव के कारण -

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य।। १७।।

अर्थ - [अल्पारम्भपरिग्रहत्वं] थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रहपन **[मानुषस्य]** मनुष्य-आयु के आस्रव का कारण है।

नरकायु आस्रव का कथन १५ वें सूत्र में किया जा चुका है। उस नरकायु के आस्रव से जो विपरीत है वह मनुष्यायु के आस्रव का कारण है। इस सूत्र में मनुष्यायु के कारण का संक्षेप में कथन है, उसका विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है -

१. मिथ्यात्व सहित बुद्धि का होना। २. स्वभाव में विनय होना। ३. प्रकृति में भद्रता होना।
४. परिणामों में कोमलता होना और मायाचार का भाव न होना। ५. श्रेष्ठ आचरणों में सुख मानना।
६. बालू की रेखा के समान क्रोध का होना। ७. विशेष गुणी पुरुषों के साथ प्रिय व्यवहार होना।

८. थोड़ा आरम्भ और थोड़ा परिग्रह रखना। ९. संतोष रखने में रुचि रखना।
१०. प्राणियों के घात से विरक्त होना। ११. बुरे कार्यों से निवृत्त होना।
१२. मन में जो बात है उसी के अनुसार सरलता से बोलना। १३. व्यर्थ बकवाद न करना।
१४. परिणामों में मधुरता का होना। १५. सभी लोगों के प्रति उपकार बुद्धि रखना।
१६. परिणामों में वैराग्यवृत्ति रखना। १७. किसी के प्रति ईर्ष्याभाव न रखना।
१८. दान देने का स्वभाव होना। १९. कापोत तथा पीत लेश्या सहित होना।
२०. धर्मध्यान में मरण होना।
इत्यादि लक्षण वाले परिणाम मनुष्यायु के आस्रव के कारण हैं।

स्वभावमार्दवं च ।। १८ ।।

अर्थ – [स्वभावमार्दवं] स्वभाव से ही सरल परिणाम होना **[च]** भी मनुष्यायु के आस्रव का कारण है।

सभी आयुयों के आस्रव के कारण –

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ।। १९ ।।

अर्थ – [निःशीलव्रतत्वं च] शील और व्रत का जो अभाव है वह भी **[सर्वेषाम्]** सभी प्रकार की आयु के आस्रव का कारण है।

देवायु के आस्रव के कारण –

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य।। २० ।।

अर्थ – [सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि] सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप **[देवस्य]** ये देवायु के आस्रव के कारण हैं।

देवायु के आस्रव के कारण –

सम्यक्त्वं च।। २१ ।।

अर्थ – [सम्यक्त्वं च] सम्यग्दर्शन भी देवायु के आस्रव का कारण है अर्थात् सम्यग्दर्शन के साथ रहा हुआ जो राग है वह भी देवायु के आस्रव का कारण है।

अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण –

योगवक्रता विसम्वादनं चाशुभस्य नाम्नः ।। २२ ।।

अर्थ – [योगवक्रता] योग में कुटिलता **[विसम्वादनं च]** और विसम्वादन अर्थात् अन्यथा प्रवर्तन **[अशुभस्य नाम्नः]** अशुभ नामकर्म के आस्रव का कारण है।
मन से अन्यथा विचारना, वचन से अन्यथा बोलना और शरीर से अन्यथा करना योग की कुटिलता है।

शुभ नामकर्म के आस्रव का कारण –

तद्विपरीतं शुभस्य।। २३ ।।

अर्थ – [तद्विपरीतं] उससे अर्थात् अशुभ नामकर्म के आस्रव के जो कारण कहे हैं, उनसे विपरीत भाव **[शुभस्य]** शुभ नामकर्म के आस्रव का कारण है।
२२ वें सूत्र में योग की वक्रता और विसंवाद को अशुभ नाम कर्म के आस्रव का कारण कहा है, उससे विपरीत अर्थात् सरलता होना और अन्यथा प्रवृत्ति का अभाव होना शुभ नामकर्म के आस्रव का कारण है।

तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव का कारण –

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौशक्तितस्त्यागतपसीसाधु-समाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमितितीर्थंकरत्वस्य।। २४।।

अर्थ – [दर्शनविशुद्धिः] १. दर्शनविशुद्धि **[विनयसम्पन्नता]** २. विनयसम्पन्नता **[शील व्रतेष्वनतिचारः]** ३. शील और व्रतों में अनतिचार अर्थात् अतिचार का न होना **[अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगः]** निरन्तर ज्ञानोपयोग **[संवेग]** ५. संवेग अर्थात् संसार से भयभीत होना **[शक्तितस्त्याग तपसी]** ६–७. शक्ति के अनुसार त्याग तथा तप करना **[साधुसमाधिः]** साधुसमाधि **[वैयावृत्य करणम्]** ९. वैयावृत्य करना **[अर्हदाचार्य बहुश्रुतप्रवचनभक्तिः]** १०–१३. अर्हत्, आचार्य, बहुश्रुत (उपाध्याय) और प्रवचन (शास्त्र) के प्रति भक्ति करना **[आवश्यकापरिहाणिः]** १४. आवश्यक में हानि न करना, **[मार्गप्रभावना]** १५. मार्गप्रभावना और **[प्रवचनवत्सलत्वम्]** १६. प्रवचन–वात्सल्य **[इति तीर्थंकरत्वस्य]** ये सोलह भावना तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति के आस्रव का कारण हैं।

इन सभी भावनाओं में दर्शन विशुद्धि मुख्य है, इसलिये वह प्रथम ही बतलाई गई है, इसके अभाव में अन्य सभी भावनायें हों तो भी तीर्थंकर नामकर्म का आस्रव नहीं होता।

तीर्थंकरों के तीन भेद –

तीर्थंकर देव तीन तरह के हैं–१. पंचकल्याणक, २. तीन कल्याणक और ३. दो कल्याणक। जिनके पूर्वभव में तीर्थंकर प्रकृति बंध गई हो उनके तो नियम से गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ये पाँच कल्याणक होते हैं। जिनके वर्तमान मनुष्य–पर्याय के भव में ही गृहस्थ अवस्था में तीर्थंकर प्रकृति बंध जाती है उनके तप, ज्ञान और निर्वाण ये तीन कल्याणक होते हैं और जिनके वर्तमान मनुष्य पर्याय के भव में मुनि दीक्षा लेकर फिर तीर्थंकर प्रकृति बंधती है उनके ज्ञान और निर्वाण ये दो ही कल्याणक होते हैं। दूसरे और तीसरे प्रकार के तीर्थंकर महाविदेह क्षेत्र में ही होते हैं। महाविदेह में जो पंच कल्याणक तीर्थंकर हैं, उनके अतिरिक्त दो और तीन कल्याणक वाले भी तीर्थंकर होते हैं तथा वे महाविदेह के जिस क्षेत्र में दूसरे तीर्थंकर न हों वहाँ ही होते हैं। महाविदेह क्षेत्र के अलावा भरत–ऐरावत क्षेत्रों में जो तीर्थंकर होते हैं उन सभी के नियम से पंचकल्याणक ही होते हैं।

गोत्रकर्म एवं नीच गोत्रकर्म के आस्रव का कारण –

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।। २५।।

अर्थ – [परात्मनिंदाप्रशंसे] दूसरे की निंदा और अपनी प्रशंसा करना **[सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च]** तथा प्रगट गुणों को छिपाना और अप्रगट गुणों को प्रसिद्ध करना **[नीचैर्गोत्रस्य]** नीच गोत्रकर्म के आस्रव का कारण है।

एकेन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी तिर्यञ्च, नारकी तथा लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य इन सबके नीच गोत्र है। देवों के उच्च गोत्र है, गर्भज मनुष्यों के दोनों प्रकार के गोत्रकर्म होते हैं।

उच्च गोत्रकर्म के आस्रव का कारण –

तद्विपर्ययौ नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य।। २६।।

अर्थ – [तद्विपर्ययः] उस नीच गोत्रकर्म के आस्रव के कारणों से विपरीत अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिंदा इत्यादि **[च]** तथा **[नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ]** नम्र वृत्ति होना तथा मद का अभाव होना **[उत्तरस्य]** दूसरे गोत्रकर्म अर्थात् उच्च गोत्रकर्म के आस्रव का कारण है।

यहाँ नम्रवृत्ति होना और मद का अभाव होने को अशुभ भाव का अभाव समझना उसमें जो शुभभाव है वह उच्च गोत्रकर्म के आस्रव का कारण है। 'अनुत्सेक' का अर्थ है अभिमान का न होना।

अंतरायकर्म के आस्रव का कारण –

विघ्नकरणमन्तरायस्य।। २७।।

अर्थ – [विघ्नकरणम्] दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य में विघ्न करना **[अंतरायस्य]** अन्तराय कर्म के आस्रव का कारण है।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न ०१ – योग किसे कहते हैं ?

उत्तर – काय, वचन और मन के अवलंबन से आत्मा के प्रदेशों का सकम्प होना योग है।

प्रश्न ०२ – साम्परायिक और ईर्यापथ आस्रव किसे कहते हैं और यह किसको होते हैं ?

उत्तर – जिस आस्रव का संसार ही प्रयोजन है उसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं। स्थिति और अनुभाग रहित कर्मों के आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। साम्परायिक आस्रव पहले गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक के जीवों को होता है। ईर्यापथ आस्रव ग्यारहवें गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक के जीवों को होता है। चौदहवें गुणस्थान में आस्रव का सर्वथा अभाव हो जाता है।

प्रश्न ०३ – आस्रव में वृद्धि हानि किसके कारण होती है ?

उत्तर – तीव्र भाव, मंद भाव, ज्ञात भाव, अज्ञात भाव, अधिकरण विशेष, वीर्य विशेष इन कारणों से आस्रव में हीनाधिकता होती है।

प्रश्न ०४ – अधिकरण किसे कहते हैं, उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर – जिसके आश्रित द्रव्य रहे उसे अधिकरण कहते हैं। उसके जीवाधिकरण, अजीवाधिकरण दो भेद हैं अर्थात् आस्रव जीव और अजीव दोनों के आश्रय से है।

प्रश्न ०५ – साम्परायिक आस्रव के कितने भेद हैं ?

उत्तर – साम्परायिक आस्रव के ३९ भेद हैं – पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, पाँच अव्रत और २५ क्रिया।

प्रश्न ०६ – जीवाधिकरण के कितने भेद हैं ?

उत्तर – जीवाधिकरण के १०८ भेद हैं – संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, कृत, कारित, अनुमोदना, मन, वचन, काय, क्रोध, मान, माया, लोभ = ३ × ३ × ३ × ४ = १०८ भेद हैं।

प्रश्न ०७ - अजीवाधिकरण के कितने भेद हैं ?

उत्तर - अजीवाधिकरण के ग्यारह भेद हैं - दो निर्वर्तना, चार प्रकार का निक्षेप, दो प्रकार का संयोग, तीन प्रकार का निसर्ग। (२ + ४ + २ + ३ = ११)

प्रश्न ०८ - ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी कर्म आस्रव के कारण क्या हैं ?

उत्तर - ज्ञान और दर्शन के विषयों में प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादना और उपघात करना ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं।

प्रश्न ०९ - प्रदोष किसे कहते हैं ?

उत्तर - मोक्ष का कारण अथवा मोक्ष का उपाय तत्वज्ञान है, उसका कथन करने वाले पुरुष की प्रशंसा न करते हुए अंतरङ्ग में दुष्ट परिणाम होना प्रदोष है।

प्रश्न १० - अवर्णवाद किसे कहते हैं, दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रव के कारण क्या हैं ?

उत्तर - झूठे दोष (आरोप) लगाने को अवर्णवाद कहते हैं। केवली श्रुत (शास्त्र) संघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) धर्म और देव का अवर्णवाद करना दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

प्रश्न ११ - चारों गति सम्बंधी आस्रव के कारण क्या हैं ?

उत्तर - बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह होना नरकायु के, माया छलकपट तिर्यञ्चायु के, थोड़ा आरंभ, थोड़ा परिग्रहपन, स्वभाव की सरलता मनुष्य आयु के आस्रव के तथा सराग संयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बालतप ये देवायु के आस्रव के कारण हैं।

प्रश्न १२ - तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव का कारण क्या है ?

उत्तर - दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावना भाना तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति के आस्रव का कारण है।

प्रश्न १३ - असातावेदनीय व सातावेदनीय के आस्रव के क्या कारण हैं ?

उत्तर - अपने में, पर में और दोनों के विषय में स्थित दुःख, शोक, ताप, आक्रंदन, वध और परिदेवन असातावेदनीय कर्म आस्रव के कारण हैं। प्राणियों के प्रति और व्रतधारियों के प्रति अनुकम्पा, दया, दान, सराग संयमादि के योग क्षमा और शौच अरहन्त भक्ति इत्यादि सातावेदनीय कर्म आस्रव के कारण हैं।

प्रश्न १४ - नीच गोत्र, उच्च गोत्र कर्म आस्रव के कारण क्या हैं ?

उत्तर - दूसरे की निंदा और अपनी प्रशंसा करना तथा प्रगट गुणों को छिपाना और अप्रगट गुणों को प्रसिद्ध करना, नीच गोत्र कर्म आस्रव का और पर प्रशंसा, आत्मनिंदा, नम्र वृत्ति होना तथा मद का अभाव होना उच्च गोत्र कर्म के आस्रव का कारण है।

प्रश्न १५ - संयमासंयम किसे कहते हैं ?

उत्तर - त्रस हिंसा के त्याग रूप संयम और स्थावर हिंसा के त्याग न होने रूप असंयम को संयमासंयम कहते हैं।

....

(ब) शुभास्रव, बारह व्रतों का स्वरूप

सप्तम अध्याय

व्रत का लक्षण –

हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।। १।।

अर्थ – [हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिः] हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह अर्थात् पदार्थों के प्रति ममत्व रूप परिणमन इन पाँच पापों से (बुद्धिपूर्वक) निवृत्त होना **[व्रतम्]** व्रत है।

व्रत के भेद –

देशसर्वतोऽणुमहती।। २।।

अर्थ – व्रत के दो भेद हैं – **[देशतः अणु]** उपरोक्त हिंसादि पापों का एकदेश त्याग करना अणुव्रत और **[सर्वतः महती]** सर्वदेश त्याग करना महाव्रत है।

१. शुभ भाव रूप व्यवहार व्रत के ये दो भेद हैं। पाँचवें गुणस्थान में देशव्रत होता है और छटवें गुणस्थान में महाव्रत होता है।

व्रतों में स्थिरता के कारण –

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच।। ३।।

अर्थ – [तत्स्थैर्यार्थं] उन व्रतों की स्थिरता के लिये **[भावनाः पंच पंच]** प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनायें हैं।

भावना – किसी वस्तु का बार-बार विचार करना भावना है।

अहिंसा व्रत की पाँच भावनायें –

वाङ्मनोगुप्तीर्यादान निक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच।। ४।।

अर्थ – [वाङ्मनोगुप्तीर्यादान निक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि] वचनगुप्ति-वचन को रोकना, मनगुप्ति-मन की प्रवृत्ति को रोकना, ईर्यासमिति-चार हाथ जमीन देखकर चलना, आदाननिक्षेपणसमिति-जीवरहित भूमि देखकर सावधानी से किसी वस्तु को उठाना धरना और आलोकितपान भोजन-देख-शोधकर भोजन-पानी ग्रहण करना **[पंच]** ये पाँच अहिंसा व्रत की भावनायें हैं।

सत्य व्रत की पाँच भावनायें –

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच।। ५।।

अर्थ – [क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानानि] क्रोध प्रत्याख्यान, लोभ प्रत्याख्यान, भीरुत्व प्रत्याख्यान, हास्य प्रत्याख्यान अर्थात् क्रोध का त्याग करना, लोभ का त्याग करना, भय का त्याग करना, हास्य का त्याग करना **[अनुवीचिभाषणं च]** और शास्त्र की आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना **[पंच]** ये पाँच सत्यव्रत की भावनायें हैं।

अचौर्यव्रत की पाँच भावनायें –

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माऽविसंवादाः पंच।। ६।।

अर्थ – [शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माऽविसंवादाः] शून्यागारवास-पर्वतों

की गुफा, वृक्ष की पोल इत्यादि निर्जन स्थानों में रहना, विमोचितावास–दूसरों के द्वारा छोड़े गये स्थान में निवास करना, किसी स्थान पर रहते हुए दूसरों को न हटाना तथा यदि कोई अपने स्थान में आवे तो उसे न रोकना, शास्त्रानुसार भिक्षा की शुद्धि रखना और साधर्मियों के साथ यह मेरा है–यह तेरा है ऐसा क्लेश न करना **[पंच]** ये पाँच अचौर्यव्रत की भावनायें हैं।

समान धर्म के धारक जैन साधु–श्रावकों को परस्पर में विसंवाद नहीं करना चाहिये, क्योंकि विसंवाद से यह मेरा–यह तेरा ऐसा पक्ष ग्रहण होता है और इसी से अग्राह्य के ग्रहण करने की संभावना हो जाती है।

ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनायें –

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरस स्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच।। ७।।

अर्थ – [स्त्रीरागकथाश्रवणत्यागः] स्त्रियों में राग बढ़ाने वाली कथा सुनने का त्याग **[तन्मनोहराङ्ग निरीक्षणत्यागः]** उनके मनोहर अंगों को निरखकर देखने का त्याग **[पूर्वरतानुस्मरणत्यागः]** अव्रत अवस्था में भोगे हुए विषयों के स्मरण का त्याग **[वृष्येष्टरसत्यागः]** कामवर्धक गरिष्ठ रसों का त्याग और **[स्वशरीरसंस्कारत्यागः]** अपने शरीर के संस्कारों का त्याग **[पंच]** ये पाँच ब्रह्मचर्य व्रत की भावनायें हैं।

परिग्रहत्याग व्रत की पाँच भावनायें –

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच।। ८।।

अर्थ – [मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि] स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों के इष्ट–अनिष्ट विषयों के प्रति राग–द्वेष का त्याग करना **[पंच]** परिग्रह त्याग व्रत की पाँच भावनायें हैं।

इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं – द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। इसकी व्याख्या दूसरे अध्याय के १७–१८ सूत्र की टीका में दी है। भावेन्द्रिय, ज्ञान का विकास है, वह जिन पदार्थों को जानती है वे पदार्थ ज्ञान के विषय होने से ज्ञेय हैं, किन्तु यदि उनके प्रति राग–द्वेष किया जावे तो उपचार से इन्द्रियों का विषय कहा जाता है। वास्तव में वह विषय (ज्ञेय पदार्थ) स्वयं इष्ट या अनिष्ट नहीं, किन्तु जिस समय जीव राग–द्वेष करता है तब उपचार से उन पदार्थों को इष्टानिष्ट कहा जाता है, इस सूत्र में उन पदार्थों की और राग–द्वेष छोड़ने की भावना करना बताया है।

राग का अर्थ प्रीति, लोलुपता और द्वेष का अर्थ नाराजी, तिरस्कार है।

हिंसा आदि से विरक्त होने की भावना –

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम्।। ९।।

अर्थ – [हिंसादिषु] हिंसा आदि पाँच पापों से **[इह अमुत्र]** इस लोक में तथा परलोक में **[अपायावद्य दर्शनम्]** नाश की (दुःख, आपत्ति, भय तथा निंद्यगति की) प्राप्ति होती है–ऐसा बारम्बार चिंतवन करना चाहिये।

अपाय – अभ्युदय और मोक्षमार्ग की जीव की क्रिया को नाश करने वाला जो उपाय है सो अपाय है।

अवद्य – निंद्य, निंदा के योग्य है।

दुःखमेव वा।। १०।।

अर्थ – [वा] अथवा ये हिंसादि पाँच पाप **[दुःखमेव]** दुःख रूप ही हैं–ऐसा विचारना।

यहाँ कारण में कार्य का उपचार समझना, क्योंकि हिंसादि तो दु:ख के कारण हैं, किन्तु उन्हें ही कार्य अर्थात् दु:ख रूप बतलाया है।

प्रश्न – हम ऐसा देखते हैं कि विषय रमणता से तथा भोग-विलास से रतिसुख उत्पन्न होता है तथापि उसे दु:ख रूप क्यों कहा ?

उत्तर – इन विषयादि में सुख नहीं है, अज्ञानी लोग भ्रांति से उन्हें सुख रूप मानते हैं। पर से सुख होता है ऐसा मानना बड़ी भूल है-भ्रांति है। जैसे – चर्म, मांस, रुधिर में जब विकार होता है तब नख (नाखून) पत्थर आदि से शरीर को खुजाता है, वहाँ यद्यपि खुजलाने से अधिक दु:ख होता है तथापि भ्रांति से सुख मानता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव पर से सुख मानता है यह बड़ी भ्रांति-भूल है।

जीव स्वयं इन्द्रियों के वश होता है यही स्वाभाविक दु:ख है। निराकुलता ही सच्चा सुख है, बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान के वह सुख नहीं हो सकता।

प्रश्न – धन-संचय से तो सुख दिखाई देता है तथापि वहाँ भी दु:ख क्यों कहते हो ?

उत्तर – धन-संचय आदि में सुख नहीं। एक पक्षी के पास मांस का टुकड़ा पड़ा हो तब दूसरे पक्षी उसे नोंचते हैं और उस पक्षी को भी चोंचें मारते हैं, उस समय उस पक्षी की जैसी हालत होती है वैसी हालत धन-धान्य आदि परिग्रहधारी मनुष्यों की होती है। लोग संपत्तिशाली पुरुष को उसी तरह नोंचते हैं। धन की संभाल करने में आकुलता से दु:खी होना पड़ता है अर्थात् यह मान्यता भ्रमरूप है कि धन-संचय से सुख होता है।

व्रतधारी सम्यग्दृष्टि की भावना –

मैत्री प्रमोद कारुण्यमाध्यस्थानि च सत्वगुणाधिक क्लिश्यमानाविनयेषु।। ११।।

अर्थ – [**सत्त्वेषु मैत्री**] प्राणी मात्र के प्रति निर्बैर बुद्धि अर्थात् समभाव [**गुणाधिकेषु प्रमोदं**] अधिक गुणवालों के प्रति प्रमोद (हर्ष) [**क्लिश्यमानेषु कारुण्यं**] दु:खी रोगी जीवों के प्रति करुणा और [**अविनयेषु माध्यस्थं**] हठाग्रही मिथ्यादृष्टि जीवों के प्रति माध्यस्थ भावना ये चार भावना अहिंसादि पाँच व्रतों की स्थिरता के लिये बारम्बार चिंतवन करने योग्य हैं।

सम्यग्दृष्टि जीवों के यह चार भावनायें शुभभाव रूप होती हैं। ये भावना मिथ्यादृष्टि के नहीं होती, क्योंकि उसे वस्तु स्वरूप का विवेक नहीं है।

मैत्री – दूसरों को दु:ख न देने की भावना को मैत्री कहते हैं।

प्रमोद – अधिक गुणों के धारक जीवों के प्रति प्रसन्नता आदि से अन्तरंग भक्ति प्रगट होना प्रमोद है।

कारुण्य – दु:खी जीवों को देखकर उनके प्रति करुणा भाव होना कारुण्य है।

माध्यस्थ – जो जीव तत्त्वार्थ श्रद्धा से रहित है और तत्त्व का उपदेश देने से उल्टा चिढ़ता है, उसके प्रति तटस्थ भाव रखना माध्यस्थ है।

व्रतों की रक्षा के लिये सम्यग्दृष्टि की विशेष भावना –

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्।। १२।।

अर्थ – [**संवेगवैराग्यार्थम्**] संवेग अर्थात् संसार का भय और वैराग्य अर्थात् राग-द्वेष का अभाव करने के लिये [**जगत्कायस्वभावौ वा**] क्रम से संसार और शरीर के स्वभाव का चिंतवन करना चाहिये।

हिंसा पाप का लक्षण –

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।। १३।।

अर्थ – [प्रमत्तयोगात्] कषाय–राग–द्वेष अर्थात् अयत्नाचार (असावधानी–प्रमाद) के सम्बंध से अथवा प्रमादी जीव के मन–वचन–काय योग से **[प्राणव्यपरोपणं]** जीव के भावप्राण का, द्रव्यप्राण का अथवा इन दोनों का वियोग करना **[हिंसा]** हिंसा है।

असत्य का स्वरूप –

असदभिधानमनृतम्।। १४।।

अर्थ – प्रमाद के योग से **[असदभिधानं]** जीवों को दु:खदायक अथवा मिथ्या वचन बोलना **[अनृतम्]** असत्य है।

प्रमाद के सम्बंध से झूठ बोलना असत्य है। जो शब्द निकलता है वह तो पुद्गल द्रव्य की अवस्था है, उसे जीव नहीं परिणमाता, इसी से मात्र शब्दों के उच्चारण का पाप नहीं किन्तु जीव का असत्य बोलने का जो प्रमाद भाव है वही पाप है।

स्तेय (चोरी) का स्वरूप –

अदत्तादानं स्तेयम्।। १५।।

अर्थ – प्रमाद के योग से **[अदत्तादानं]** बिना दी हुई किसी भी वस्तु को ग्रहण करना **[स्तेयम्]** चोरी है।

कुशील (अब्रह्मचर्य) का स्वरूप –

मैथुनमब्रह्म।। १६।।

अर्थ – [मैथुनमब्रह्म] जो मैथुन है सो अब्रह्म अर्थात् कुशील है।

१. मैथुन – चारित्र मोहनीय के उदय में युक्त होने से राग–परिणाम सहित स्त्री–पुरुषों की जो परस्पर में स्पर्श करने की इच्छा है सो मैथुन है। (यह व्याख्या व्यवहार मैथुन की है)

मैथुन दो प्रकार का है–निश्चय और व्यवहार। आत्मा स्वयं ब्रह्म स्वरूप है, आत्मा की अपने ब्रह्म स्वरूप में जो लीनता है वह ब्रह्मचर्य है और पर निमित्त से–राग से लाभ मानने रूप संयोग बुद्धि या कषाय के साथ एकत्व की बुद्धि होना अब्रह्मचर्य है, यही निश्चय मैथुन है। व्यवहार–मैथुन की व्याख्या ऊपर दी गई है।

२. जिसके पालन से अहिंसादि गुण वृद्धि को प्राप्त हों वह ब्रह्म है और जो ब्रह्म से विरुद्ध है वह अब्रह्म है। अब्रह्म (मैथुन) में हिंसादिक दोष पुष्ट होते हैं, पुनश्च उसमें त्रस–स्थावर जीव भी नष्ट होते हैं, मिथ्यावचन बोले जाते हैं, बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण किया जाता है और चेतन तथा अचेतन परिग्रह का भी ग्रहण होता है इसलिये यह अब्रह्म छोड़ने लायक है।

परिग्रह का स्वरूप –

मूर्च्छा परिग्रहः।। १७।।

अर्थ – [मूर्च्छा परिग्रहः] जो मूर्च्छा है सो परिग्रह है।

१. अंतरंग परिग्रह चौदह प्रकार का है – एक मिथ्यात्व, चार कषाय और नौ नो कषाय। बाह्य परिग्रह दस प्रकार का है – क्षेत्र, मकान, चाँदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र और बर्तन।

२. परद्रव्य में ममत्व बुद्धि का नाम मूर्च्छा है। जो जीव बाह्य-संयोग विद्यमान न होने पर भी ऐसा संकल्प करता है कि 'यह मेरा है' वह परिग्रह सहित है, बाह्य-द्रव्य तो निमित्त मात्र है।

व्रती की विशेषता -

निःशल्यो व्रती।। १८।।

अर्थ - [व्रती] व्रती जीव **[निःशल्यः]** शल्य रहित होता है।

१. शल्य - शरीर में भोंका गया बाण, कांटा इत्यादि शस्त्र की तरह जो मन में बाधा करे वह शल्य है, अथवा जो आत्मा को कांटे की तरह दुःख दे वह शल्य है। शल्य के तीन भेद हैं-मिथ्या शल्य, माया शल्य और निदान शल्य।

मिथ्या शल्य - आत्मा के स्वरूप की श्रद्धा का जो अभाव है वह मिथ्या शल्य है।

माया शल्य - छल, कपट, ठगाई का नाम माया शल्य है।

निदान शल्य - आगामी विषय-भोगों की वांछा का नाम निदान शल्य है।

२. मिथ्यादृष्टि जीव शल्य सहित ही है, इसीलिये उसके सच्चे व्रत नहीं होते, बाह्य-व्रत होते हैं। द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि है इसीलिये वह भी यथार्थ व्रती नहीं। मायावी-कपटी के सभी व्रत झूठे हैं। इन्द्रियजनित विषय भोगों की जो वांछा है वह तो आत्मज्ञान रहित राग है, उस राग सहित जो व्रत हैं वे भी अज्ञानी के व्रत हैं, वह धर्म के लिये निष्फल हैं, संसार के लिए सफल हैं, इसलिये परमार्थ से व्रती शल्य रहित होता है।

प्रश्न - द्रव्यलिंगी मुनि जिन प्रणीत तत्त्वों को मानता है, तथापि उसे मिथ्यादृष्टि क्यों कहते हो ?

उत्तर - उसके विपरीत अभिनिवेश (अभिप्राय) है, अतः शरीराश्रित क्रियाकांड को वह अपना मानता है (यह अजीव तत्त्व में जीव तत्त्व की श्रद्धा हुई) आस्रव-बंधरूप शील-संयमादि परिणामों को वह संवर-निर्जरा रूप मानता है। यद्यपि वह पाप से विरक्त होता है परन्तु पुण्य में उपादेय बुद्धि रखता है, इसलिये उसे तत्त्वार्थ की यथार्थ श्रद्धा नहीं, अतः वह मिथ्यादृष्टि है।

व्रती के भेद -

अगार्यनगारश्च।। १९।।

अर्थ - [अगारी] अगारी अर्थात् सागार (गृहस्थ) **[अनगारः च]** और अनगार (गृहत्यागी भावमुनि) इस प्रकार व्रती के दो भेद हैं।

नोट - निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक महाव्रतों को पालन करने वाले मुनि अनगारी कहलाते हैं और देशव्रत को पालन करने वाले श्रावक सागारी कहलाते हैं।

सागार का लक्षण -

अणुव्रतोऽगारी।। २०।।

अर्थ - [अणुव्रतः] अणुव्रत अर्थात् एकदेश व्रत पालन करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव **[अगारी]** सागार कहे जाते हैं

यहाँ से अणुव्रतधारी श्रावकों का विशेष वर्णन प्रारम्भ होता है और इस अध्याय के समाप्त होने तक यही वर्णन है। अणुव्रत के पाँच भेद हैं-१. अहिंसाणुव्रत २. सत्याणुव्रत ३. अचौर्याणुव्रत ४. ब्रह्मचर्याणुव्रत और ५. परिग्रह परिमाण अणुव्रत।

अणुव्रत के सहायक सात शीलव्रत –

दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोग – परिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च।। २१।।

अर्थ – **[च]** और फिर वे व्रत **[दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोग परिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नः]** दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थदंड त्याग व्रत ये तीन गुणव्रत और सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग–परिभोग परिमाण (मर्यादा) तथा अतिथि संविभाग व्रत ये चार शिक्षाव्रत सहित होते हैं अर्थात् व्रतधारी श्रावक पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतों सहित होता है।

१. पहले १३ से १७ तक के सूत्रों में हिंसादि पाँच पापों का जो वर्णन किया है उनका एकदेश त्याग करना पाँच अणुव्रत हैं। जो अणुव्रतों को पुष्ट करे उन्हें गुणव्रत कहते हैं और जिससे मुनिव्रत पालन करने की शिक्षा प्राप्त हो उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं।

२. तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का स्वरूप निम्न प्रकार है –

दिग्व्रत – सूक्ष्म पापों की भी निवृत्ति के लिए मरण पर्यन्त दशों दिशाओं में आने–जाने की मर्यादा बनाना दिग्व्रत है।

देशव्रत – जीवन पर्यन्त को ली गई दिग्व्रत की मर्यादा में भी घड़ी, घण्टा, मास, वर्ष आदि समय तक अमुक गली, अमुक ग्राम, अमुक स्थान आदि तक जाने–आने की मर्यादा बनाना देशव्रत है।

अनर्थदंड त्याग व्रत – प्रयोजनरहित, पाप को बढ़ाने वाली क्रियाओं का परित्याग करना अनर्थदंड त्याग व्रत है। अनर्थदंड के पाँच भेद हैं – १. पापोपदेश (हिंसादि पापारम्भ का उपदेश करना), २. हिंसादान (तलवार आदि हिंसा के उपकरण देना), ३. अपध्यान (दूसरे का बुरा विचारना), ४. दुःश्रुति श्रवण (राग–द्वेष बढ़ाने वाले खोटे शास्त्रों को सुनना) और ५. प्रमादचर्या (बिना प्रयोजन के जहाँ–तहाँ जाना, वृक्षादिक को छेदना, पृथ्वी खोदना, जल बिखेरना, अग्नि जलाना आदि पाप कार्य करना।)

सामायिक – मन, वचन, काय के द्वारा कृत, कारित, अनुमोदना से हिंसादि पाँच पापों का त्याग करना सामायिक है। यह सामायिक शुभ भाव रूप है।

प्रोषधोपवास – अष्टमी और चतुर्दशी के पहले और पीछे के दिनों में एकाशनपूर्वक अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास करके, एकान्तवास में रहकर, संपूर्ण सावद्ययोग को छोड़, सर्व इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर धर्म–ध्यान में रहना प्रोषधोपवास है।

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत – श्रावकों को भोग के निमित्त से हिंसा होती है। भोग और उपभोग की वस्तुओं का परिमाण करके (मर्यादा बांधकर) अपनी शक्ति के अनुसार भोग–उपभोग को छोड़ना उपभोग परिभोग परिमाणव्रत है।

अतिथिसंविभागव्रत – अतिथि अर्थात् मुनि आदि के लिये आहार, कमंडलु, पीछी, वसतिका आदि का दान देना अतिथिसंविभागव्रत है।

व्रती को सल्लेखना धारण करने का उपदेश –

मारणांतिकीं सल्लेखनां जोषिता।। २२।।

अर्थ – व्रतधारी श्रावक **[मारणांतिकीं]** मरण के समय होने वाली **[सल्लेखनां]** सल्लेखना को **[जोषिता]**

प्रीतिपूर्वक सेवन करे।

इस लोक या परलोक सम्बंधी किसी भी प्रयोजन की अपेक्षा किये बिना शरीर और कषाय को सम्यक् प्रकार से कृश करने को सल्लेखना कहते हैं।

प्रश्न – समाधिपूर्वक देह का त्याग होने में आत्मघात है या नहीं ?

उत्तर – राग-द्वेष मोह से लिप्त हुए जीव यदि जहर शस्त्र आदि से घात करें तो आत्मघात है किन्तु यदि समाधिपूर्वक सल्लेखना-मरण करे तो उसमें रागादिक नहीं बल्कि आराधना है, इसलिये उसके आत्मघात नहीं है। प्रमत्तयोग रहित और आत्मज्ञान सहित जो जीव यह जानकर कि शरीर अवश्य विनाशीक है, उसके प्रति राग कम करता है उसे हिंसा नहीं।

सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार –

शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः।। २३।।

अर्थ – [शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः] शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि की प्रशंसा और अन्य दृष्टि का संस्तव यह पाँच **[सम्यग्दृष्टेः अतिचाराः]** सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं।

१. जिस जीव का सम्यग्दर्शन निर्दोष हो वह बराबर व्रत पालन कर सकता है, इसलिये यहाँ पहले सम्यग्दर्शन के अतिचार बतलाये गये हैं, जिससे वे अतिचार दूर किये जा सकते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व तो निर्मल होते हैं, इनमें अतिचार नहीं होते। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चल, मल और अगाढ़ दोष सहित होता है अर्थात् इसमें अतिचार लगता है।

२. सम्यग्दृष्टि के आठ अंग होते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं-निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

३. सम्यग्दर्शन के जो पाँच अतिचार कहे हैं उनमें से पहले तीन तो निःशंकितादि पहले तीन गुणों में आने वाले दोष हैं और बाकी के दो अतिचारों का समावेश अंतिम पाँच गुणों के दोष में होता है। चौथे से सातवें गुणस्थान वाले क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के यह अतिचार होते हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन वाले मुनि, श्रावक या सम्यग्दृष्टि इन तीनों के यह अतिचार हो सकते हैं। जो अंश रूप से भंग हो (अर्थात् दोष लगे) उसे अतिचार कहते हैं और उसमें सम्यग्दर्शन निर्मूल नहीं होता, मात्र मलिन होता है।

४. धर्म रूपी कमल के मध्य में सम्यग्दर्शन रूपी नाल शोभायमान है, निश्चयव्रत, शील इत्यादि उसकी पंखुड़ियाँ हैं। इसलिये गृहस्थों और मुनियों को इस सम्यग्दर्शन रूपी नाल में अतिचार नहीं आने देना चाहिये।

पाँच अतिचार के स्वरूप –

शंका – निज आत्मा को ज्ञाता-दृष्टा, अखंड, अविनाशी और पुद्गल से भिन्न जानकर भी इस लोक, परलोक, मरण, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति और अकस्मात् इन सात भयों को प्राप्त होना अथवा अर्हन्त सर्वज्ञ वीतराग देव के कहे हुए तत्त्व के स्वरूप में संदेह होना शंका नामक अतिचार है।

कांक्षा – इस लोक या परलोक सम्बंधी भोगों में तथा मिथ्यादृष्टि जीवों के ज्ञान या आचरण आदि में वांछा होना कांक्षा अतिचार है। (यह राग है।)

विचिकित्सा – रत्नत्रय के द्वारा पवित्र किन्तु बाह्य में मलिन शरीर वाले मुनियों को देखकर उनके प्रति अथवा

धर्मात्मा के गुणों के प्रति या दु:खी दरिद्री जीवों को देखकर उनके प्रति ग्लानि होना विचिकित्सा अतिचार है। (यह द्वेष है।)

अन्यदृष्टि प्रशंसा – आत्म स्वरूप के अजानकार जीवों के ज्ञान, तप, शील, चारित्र दान आदि को अपने में प्रगट करने का मन में विचार होना अथवा उसे भला जानना अन्यदृष्टि प्रशंसा अतिचार है। (अन्यदृष्टि का अर्थ मिथ्यादृष्टि है)

अन्यदृष्टि संस्तव – आत्म स्वरूप से अनजान जीवों के ज्ञान, तप, शील, चारित्र दानादि के फल को भला जानकर वचन द्वारा उसकी स्तुति करना अन्यदृष्टि संस्तव अतिचार है।

५. यह समस्त दोष होने पर सम्यग्दृष्टि जीव उन्हें दोष रूप जानता है और इन दोषों का उसे खेद होता है, इसलिये यह अतिचार हैं। किन्तु जो जीव इन दोषों को दोष रूप न माने और उपादेय माने उसके लिये तो यह अनाचार हैं अर्थात् वह मिथ्यादृष्टि ही है।

६. आत्मा का स्वरूप समझने के लिये शंका करके जो प्रश्न किया जावे वह शंका नहीं किन्तु आशंका है, अतिचारों में जो शंका-दोष कहा है उसमें इसका समावेश नहीं होता। प्रशंसा और संस्तव में इतना भेद है कि प्रशंसा मन के द्वारा होती है और संस्तव वचन द्वारा होता है।

पाँच व्रत और सात शीलों के अतिचार –

व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम्।। २४।।

अर्थ – **[व्रतशीलेषु]** व्रत और शीलों में भी **[यथाक्रमं]** अनुक्रम से प्रत्येक में **[पंच पंच]** पाँच-पाँच अतिचार हैं।

नोट – व्रत कहने से अहिंसादि पाँच अणुव्रत समझना और शील कहने से तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये सात शील समझना। इनके प्रत्येक पाँच-पाँच अतिचारों का वर्णन अब आगे के सूत्रों में कहते हैं।

अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार –

बंधवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः।। २५।।

अर्थ – **[बंधवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः]** बंध, वध, छेद, अधिक भार लादना और अन्नपान का निरोध करना-यह पाँच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं।

बंध – प्राणियों को इच्छित स्थान में जाने से रोकने के लिये रस्सी इत्यादि से बांधना।

वध – प्राणियों को लकड़ी इत्यादि से मारना। **छेद** – प्राणियों के नाक, कान आदि अंग छेदना।

अतिभारारोपण – प्राणी की शक्ति से अधिक भार लादना।

अन्नपाननिरोध – प्राणियों को ठीक समय पर भोजन-पानी न देना।

सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार –

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः।। २६।।

अर्थ – **[मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः]** मिथ्या उपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्र भेद-यह पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

मिथ्या उपदेश – किसी जीव के अभ्युदय या मोक्ष के साथ सम्बंध रखने वाली क्रिया में संदेह उत्पन्न हुआ और उसने आकर पूछा कि इस विषय में मुझे क्या करना ? इसका उत्तर देते हुए सम्यग्दृष्टि व्रतधारी ने अपनी

भूल से विपरीत मार्ग का उपदेश दिया तो वह मिथ्या-उपदेश कहा जाता है और यह सत्याणुव्रत का अतिचार है और यदि जानते हुए भी मिथ्या-उपदेश करे तो वह अनाचार है। विवाद उपस्थित होने पर सम्बंध को छोड़कर असम्बंध रूप उपदेश देना सो भी अतिचार रूप मिथ्या-उपदेश है।

रहोभ्याख्यान - किसी की गुप्त बात को प्रगट करना रहोभ्याख्यान है।

कूटलेखक्रिया - पर के प्रयोग के वश से (अनजानपन से) कोई खोटा लेख लिखना।

न्यासापहार - कोई मनुष्य कुछ वस्तु दे गया और फिर वापस मांगते समय उसने कम माँगी तब ऐसा कहकर कि 'तुम्हारा जितना हो उतना ले जाओ' तथा बाद में कम देना न्यासापहार है।

साकार मन्त्रभेद - हाथ आदि की चेष्टा से दूसरे के अभिप्राय को जानकर उसे प्रगट कर देना साकार मन्त्र भेद है।

व्रतधारी को इन दोषों के प्रति खेद होता है इसलिये यह अतिचार हैं, किन्तु यदि जीव को उनके प्रति खेद न हो तो वह अनाचार है अर्थात् वहाँ व्रत का अभाव ही है ऐसा समझना चाहिये।

अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार -

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः।। २७।।

अर्थ - [**स्तेनप्रयोग**] चोरी के लिये चोर को प्रेरित करना या उसका उपाय बताना [**तदाहृतादान**] चोर से चुराई हुई वस्तु को खरीदना [**विरुद्धराज्यातिक्रम**] राज्य की आज्ञा के विरुद्ध चलना [**हीनाधिकमानोन्मान**] देने-लेने के बाँट तराजू आदि कम-ज्यादा रखना और [**प्रतिरूपकव्यवहाराः**] कीमती वस्तु में कम कीमत की वस्तु मिलाकर असली भाव से बेचना यह अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार -

पर विवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंगक्रीड़ाकामतीव्राभिनिवेशाः।। २८।।

अर्थ - [**पर विवाहकरण**] दूसरे के पुत्र-पुत्रियों का विवाह करना-कराना [**इत्वरिका परिगृहीतागमन**] पति सहित व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास आना-जाना, लेन-देन रखना, रागभाव पूर्वक बातचीत करना, [**इत्वरिका अपरिगृहीतागमन**] पतिरहित व्यभिचारिणी स्त्री (वेश्यादि) के यहाँ जाना-आना, लेन-देन आदि का व्यवहार रखना [**अनंगक्रीड़ा**] अनंगक्रीड़ा अर्थात् कामसेवन के लिये निश्चित अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से कामसेवन करना और [**कामतीव्राभिनिवेशाः**] कामसेवन की तीव्र अभिलाषा-यह ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

परिग्रह परिमाण अणुव्रत के पाँच अतिचार -

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः।। २९।।

अर्थ - [**क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमाः**] क्षेत्र और रहने के स्थान के परिमाण का उल्लंघन करना [**हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रमाः**] चाँदी और सोने के परिमाण का उल्लंघन करना [**धनधान्यप्रमाणातिक्रमाः**] धन (पशु आदि) तथा धान्य के परिमाण का उल्लंघन करना [**दासीदासप्रमाणातिक्रमाः**] दासी और दास के परिमाण का उल्लंघन करना तथा [**कुप्यप्रमाणातिक्रमाः**] वस्त्र, बर्तन आदि के परिमाण का उल्लंघन करना-यह परिग्रह प्रमाण अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

इस तरह पाँच अणुव्रतों के अतिचारों का वर्णन किया, अब तीन गुणव्रतों के अतिचारों का वर्णन करते हैं।

दिग्व्रत के पाँच अतिचार –

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि।। ३०।।

अर्थ – [ऊर्ध्वव्यतिक्रमः] माप से अधिक ऊंचाई वाले स्थलों में जाना **[अधःव्यतिक्रमः]** माप से नीचे (कुआं, खान आदि) स्थानों में उतरना **[तिर्यक्व्यतिक्रमः]** तिर्यक् दिशा में समान स्थान के माप से बहुत दूर जाना **[क्षेत्रवृद्धिः]** की हुई मर्यादा के क्षेत्र को बढ़ा लेना और **[स्मृत्यंतराधानं]** क्षेत्र की, की हुई मर्यादा को भूल जाना–यह दिग्व्रत के पाँच अतिचार हैं।

देशव्रत के पाँच अतिचार –

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः।। ३१।।

अर्थ – [आनयनं] मर्यादा से बाहर की चीज को मंगाना **[प्रेष्यप्रयोगः]** मर्यादा से बाहर नौकर आदि को भेजना **[शब्दानुपात]** खांसी आदि शब्द से मर्यादा के बाहर जीवों को अपना अभिप्राय समझा देना **[रूपानुपातः]** अपना रूप आदि दिखाकर मर्यादा के बाहर के जीवों को इशारा करना और **[पुद्गलक्षेपाः]** मर्यादा के बाहर कंकर, पत्थर आदि फेंककर अपने कार्य का निर्वाह कर लेना–यह देशव्रत के पाँच अतिचार हैं।

अनर्थदंड व्रत के पाँच अतिचार –

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि।। ३२।।

अर्थ – [कन्दर्प] राग से हास्य सहित अशिष्ट वचन बोलना **[कौत्कुच्य]** शरीर की कुचेष्टा करके अशिष्ट वचन बोलना **[मौखर्य]** धृष्टतापूर्वक जरूरत से ज्यादा बोलना **[असमीक्ष्याधिकरण]** बिना प्रयोजन मन, वचन, काय की प्रवृत्ति करना और **[उपभोगपरिभोगानर्थक्यं]** भोग–उपभोग के पदार्थों का जरूरत से ज्यादा संग्रह करना–यह अनर्थदंड त्याग व्रत के पाँच अतिचार हैं।

इस तरह तीन गुणव्रत के अतिचारों का वर्णन किया, अब चार शिक्षाव्रत के अतिचारों का वर्णन करते हैं।

सामायिक शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार –

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि।। ३३।।

अर्थ – [योगदुष्प्रणिधानं] मन सम्बंधी परिणामों की अन्यथा प्रवृत्ति करना, वचन सम्बंधी परिणामों की अन्यथा प्रवृत्ति करना, काय सम्बंधी परिणामों की अन्यथा प्रवृत्ति करना **[अनादरं]** सामायिक के प्रति उत्साह रहित होना और **[स्मृत्यनुपस्थानं]** एकाग्रता के अभाव को लेकर सामायिक के पाठ आदि भूल जाना–यह सामायिक शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार हैं।

नोट – सूत्र में 'योगदुष्प्रणिधानं' शब्द है उसे मन, वचन और काय इन तीनों में लागू करके ये तीन प्रकार के तीन अतिचार गिने गये हैं।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार –

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि।। ३४।।

अर्थ – [अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि] बिना देखी, बिना शोधी जमीन में मल–मूत्रादि क्षेपण करना, बिना देखे बिना शोधे पूजा पाठ के उपकरण ग्रहण करना, बिना देखे, बिना शोधे, जमीन पर चटाई, वस्त्र आदि बिछाना, भूख आदि से व्याकुल होकर आवश्यक धर्म–कार्य

उत्साह रहित होकर करना और आवश्यक धर्म-कार्यों को भूल जाना, यह प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार हैं।

उपभोग-परिभोगपरिमाण शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार -

सचित्तसंबंधसंमिश्राभिषवदु:पक्वाहारा:।। ३५।।

अर्थ - १. सचित्त-जीव वाले (कच्चे फल आदि) पदार्थ, २. सचित्त पदार्थ के साथ सम्बंध वाले पदार्थ, ३. सचित्त पदार्थ से मिले हुए पदार्थ, ४. अभिषव-गरिष्ठ पदार्थ और ५. दु:पक्व अर्थात् आधे पके या अधिक पके हुए या बुरी तरह पके पदार्थ-इनका आहार करना यह उपभोग-परिभोग परिमाण शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार हैं।

भोग-जिस वस्तु का एक ही बार उपयोग हो उसे भोग कहते हैं। जैसे-अन्न, इसे परिभोग भी कहा जाता है।

उपभोग - जो वस्तु बार-बार भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं, जैसे-वस्त्र आदि।

अतिथिसंविभाग व्रत के पाँच अतिचार -

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमा:।। ३६।।

अर्थ - [**सचित्तनिक्षेप:**] सचित्त पत्र आदि में रखकर भोजन देना [**सचित्तापिधानं**] सचित्त पत्र आदि से ढका हुआ भोजन देना [**परव्यपदेश:**] दूसरे दातार की वस्तु देना [**मात्सर्य**] अनादर पूर्वक दान देना अथवा दूसरे दातार के प्रति ईर्ष्या पूर्वक दान देना और [**कालातिक्रम:**] योग्य काल का उल्लंघन करके देना-यह अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार हैं। इस तरह चार शिक्षाव्रत के अतिचार कहे।

सल्लेखना के अतिचार -

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि।। ३७।।

अर्थ - [**जीविताशंसा**] सल्लेखना धारण करने के बाद जीने की इच्छा करना [**मरणाशंसा**] वेदना से व्याकुल होकर शीघ्र मरने की इच्छा करना [**मित्रानुराग:**] अनुराग के द्वारा मित्रों का स्मरण करना [**सुखानुबंध**] पहले भोगे हुए सुखों का स्मरण करना और [**निदान**] निदान करना अर्थात् आगामी विषय-भोगों की वांछा करना, यह पाँच सल्लेखना व्रत के अतिचार हैं।

इस तरह श्रावक के अतिचारों का वर्णन पूर्ण हुआ। ऊपर कहे अनुसार सम्यग्दर्शन के ५, बारह व्रत के ६० और सल्लेखना के ५ इस तरह कुल ७० अतिचारों का जो त्याग करता है वही निर्दोष व्रती है।

दान का स्वरूप -

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्।। ३८।।

अर्थ - [**अनुग्रहार्थं**] अनुग्रह-उपकार के हेतु से [**स्वस्यातिसर्ग:**] आहार आदि अपनी वस्तु का त्याग करना [**दानं**] दान है।

अनुग्रह का अर्थ है अपनी आत्मा के अनुसार होने वाला उपकार का लाभ। अपनी आत्मा को लाभ हो इस भाव से किया गया कोई कार्य यदि दूसरे के लाभ में निमित्त हो तब यह कहा जाता है कि पर का उपकार हुआ। वास्तव में अनुग्रह स्व का है, पर तो निमित्त मात्र है।

दान में विशेषता –

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः।। ३९।।

अर्थ – [विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्] विधि, द्रव्य, दातृ और पात्र की विशेषता से **[तद्विशेषः]** दान में विशेषता होती है।

विधि विशेष – नवधाभक्ति के क्रम को विधि–विशेष कहते हैं।

द्रव्य विशेष – तप, स्वाध्याय आदि की वृद्धि में कारण ऐसे आहारादिक को द्रव्य विशेष कहते हैं।

दातृ विशेष – जो दातार श्रद्धा आदि सात गुणों सहित हो उसे दातृ विशेष कहते हैं।

पात्र विशेष – जो सम्यक्‌चारित्र आदि गुणों सहित हो ऐसे मुनि आदि को पात्र विशेष कहते हैं।

द्रव्य विशेष –

पात्रदान की अपेक्षा से देने योग्य पदार्थ चार तरह के हैं–१. आहार, २. औषधि, ३. उपकरण (पीछी, कमण्डल, शास्त्र आदि) और ४. आवास। ये पदार्थ ऐसे होने चाहिये कि तप, स्वाध्याय आदि धर्म कार्य में वृद्धि के कारण हों।

दातृविशेष –

दातार में निम्नलिखित सात गुण होना चाहिये –

१. ऐहिक फल अनपेक्षा – सांसारिक लाभ की इच्छा न होना।

२. क्षांति – दान देते समय क्रोध रहित शांत–परिणाम होना।

३. मुदित मन – दान देते समय प्रसन्नता होना।

४. निष्कपटता – मायाचार छल–कपट से रहित होना।

५. अनुसूयत्व – ईर्ष्यारहित होना।

६. अविषादित्व – विषाद (खेद) रहित होना।

७. निरहंकारित्व – अभिमान रहित होना।

दातार में इन गुणों की हीनाधिकता के अनुसार उसके दान का फल होता है।

पात्रविशेष –

सत्पात्र तीन तरह के हैं –

उत्तम पात्र – सम्यक्‌चारित्रवान मुनि।

मध्यम पात्र – व्रतधारी सम्यक्‌दृष्टि।

जघन्य पात्र – अविरत सम्यग्दृष्टि।

यह तीनों सम्यग्दृष्टि होने से **सुपात्र** हैं। जो जीव बिना सम्यग्दर्शन के बाह्य व्रत सहित हो वह **कुपात्र** है और जो सम्यग्दर्शन से रहित तथा बाह्य व्रत चारित्र से भी रहित हों वे जीव **अपात्र** हैं।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न ०१ - व्रत किसे कहते हैं, व्रत के कितने भेद हैं ?

उत्तर - हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँच पापों का बुद्धिपूर्वक त्याग करने को व्रत कहते हैं। व्रत के दो भेद हैं -

१. अणुव्रत - हिंसादि पापों का एकदेश (निष्प्रयोजनीय या आंशिक) त्याग करना अणुव्रत है।

२. महाव्रत - पाँच पापों का सर्वदेश (पूर्णत:) त्याग करना महाव्रत है।

प्रश्न ०२ - भावना किसे कहते हैं, अहिंसा और सत्यव्रत की भावना बताइये ?

उत्तर - किसी वस्तु का बार-बार चिंतन करना भावना है।

वचनगुप्ति, मनगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान निक्षेपण समिति, आलोकित पान भोजन ये अहिंसा व्रत की पाँच भावनाएँ हैं। क्रोध प्रत्याख्यान, लोभ प्रत्याख्यान, भीरुत्व प्रत्याख्यान, हास्य प्रत्याख्यान, अनुवीचिभाषण प्रत्याख्यान ये सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं। प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है।

प्रश्न ०३ - निरंतर चिंतन करने योग्य भावना कौन-सी हैं, वैराग्य हेतु किसका चिंतन करना चाहिये ?

उत्तर - मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ भावना निरंतर चिंतन करने योग्य हैं। वैराग्य हेतु संसार और शरीर के स्वभाव का चिंतन करना चाहिये।

प्रश्न ०४ - व्रती की क्या विशेषता है, व्रती के भेद परिभाषा सहित बताइये ?

उत्तर - व्रती शल्य से रहित होता है। इसके दो भेद हैं -

आगारी - अणुव्रत अर्थात् एकदेश व्रत पालन करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव (आगारी) आगार कहलाते हैं।

अनगारी - निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक महाव्रतों का पालन करने वाले मुनि अनगारी कहलाते हैं।

प्रश्न ०५ - दिग्व्रत व देशव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर - दिग्व्रत - सूक्ष्म पापों की निवृत्ति के लिये दशों दिशाओं में जीवन पर्यंत के लिए आने-जाने का परिमाण कर लेने को दिग्व्रत कहते हैं।

देशव्रत - जीवन पर्यंत को ली गई दिग्व्रत की मर्यादा में भी घड़ी, घंटा, मास, वर्ष आदि समय तक अमुक गली, अमुक ग्राम, अमुक स्थान आदि तक जाने-आने की मर्यादा बनाना देशव्रत है।

प्रश्न ०६ - प्रमोद भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर - अधिक गुणधारी जीवों को देखकर अंतरंग में खुशी, उल्लास आदि होना प्रमोद भावना है।

प्रश्न ०७ - माध्यस्थ भावना किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो जीव विपरीत श्रद्धान वाले हैं, सत्य बात को सुनने से चिढ़ते हैं, उनसे राग-द्वेष नहीं करना माध्यस्थ भावना है।

प्रश्न ०८ - सामायिक शिक्षाव्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर - समभाव में रहने के उद्देश्य पूर्वक सम्पूर्ण रूप से पाँच पापों का किसी निश्चित समय तक त्याग करने को सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं।

प्रश्न ०९ - अतिथि संविभाग व्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर - अतिथि अर्थात् मुनि त्यागियों के लिये आहारादि का दान देना, अतिथि संविभाग व्रत है।

प्रश्न १० - अनर्थदण्ड त्याग व्रत किसे कहते हैं ?

उत्तर - प्रयोजनरहित पापवर्धक क्रियाओं का त्याग करने को अनर्थदण्ड त्याग व्रत कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं - पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दु:श्रुति, प्रमादचर्या।

प्रश्न ११ - सल्लेखना के अतिचार कितने और कौन से हैं ?

उत्तर - जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबंध और निदान ये पाँच सल्लेखना के अतिचार हैं।

प्रश्न १२ - दान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - अपने और पर के उपकार के लिये आहार आदि का त्याग करना दान है।

प्रश्न १३ - दान में विशेषता किन कारणों से आती है ?

उत्तर - विधि विशेष - यथायोग्य विनयपूर्वक देना।

द्रव्य विशेष - तप आदि की वृद्धि में कारण आहार आदि द्रव्य विशेष है।

दातृ विशेष - श्रद्धादि सप्त गुण सहित दातार को दातृ विशेष कहते हैं।

पात्र विशेष - सम्यक्चारित्र आदि गुण सहित मुनि त्यागी आदि को पात्र विशेष कहते हैं।

प्रश्न १४ - सम्यग्दर्शन के अतिचार बताइये ?

उत्तर - शंका - जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे हुए सूक्ष्म पदार्थों आदि में संदेह करना।

कांक्षा - संसारी सुख की इच्छा रखना।

विचिकित्सा - दुखी दरिद्री जीवों को अथवा रत्नत्रय से पवित्र बाह्य में मुनियों के मलिन शरीर को देखकर ग्लानि करना।

अन्यदृष्टि प्रशंसा - मन में मिथ्यादृष्टि के ज्ञानादि को अच्छा समझना।

अन्य दृष्टिसंस्तव - वचन से मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा करना, ये पाँच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं।

प्रश्न १५ - स्मृत्यनुपस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर - करने योग्य आवश्यक कार्यों को भूल जाने को स्मृत्यनुपस्थान कहते हैं।

....

(स) बंध तत्त्व, कर्म बंध विवेचन

अष्टम अध्याय

बंध के कारण -

मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ।। १ ।।

अर्थ - [मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगाः] मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग यह पाँच **[बंधहेतवः]** बंध के कारण हैं।

मिथ्यादर्शन का स्वरूप -

अनादि से जीव मिथ्यादर्शन सहित है। समस्त दु:खों का मूल मिथ्यादर्शन है। तत्त्वार्थ के विपरीत श्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते हैं। जीव स्व को और शरीर को एक मानता है। किसी समय शरीर दुबला हो, मोटा हो, किसी समय नष्ट हो जाय और किसी समय नवीन पैदा हो, यह सब क्रियायें शरीराधीन होती हैं तथापि जीव उसे अपने आधीन मानकर खेद-खिन्न होता है।

दृष्टांत - जैसे किसी जगह एक पागल बैठा था। वहाँ अन्य स्थान से आकर मनुष्य, घोड़ा और धनादिक उतरे, उन सबको वह पागल अपना मानने लगा, किन्तु वे सभी अपने-अपने आधीन हैं तथापि पागल उसे अपने आधीन मानकर खेद खिन्न होता है।

सिद्धांत - उसी प्रकार यह जीव जहाँ शरीर धारण करता है वहाँ किसी अन्य स्थान से आकर पुत्र, घोड़ा, धनादिक स्वयं प्राप्त होते हैं, यह जीव उन सबको अपना जानता है, परन्तु ये सभी अपने-अपने आधीन होने से कोई आते कोई जाते और अनेक अवस्था रूप से परिणमते हैं क्या यह उसके आधीन है ? ये जीव के आधीन नहीं हैं, तो भी यह जीव उसे अपने आधीन मानकर खेद खिन्न होता है।

मिथ्यादर्शन की कुछ मान्यतायें -

१. स्वपर एकत्वदर्शन, २. पर की कर्तृत्वबुद्धि, ३. पर्यायबुद्धि, ४. व्यवहार-विमूढ़, ५. अतत्त्व श्रद्धान, ६. स्व-स्वरूप की भ्रांति, ७. राग से शुभभाव से आत्मलाभ हो ऐसी बुद्धि, ८. बहिर्दृष्टि, ९. विपरीत रुचि, १०. जैसा वस्तु स्वरूप हो वैसा न मानना और जैसा न हो वैसा मानना, ११. अविद्या, १२. पर से लाभ-हानि होती है ऐसी मान्यता, १३. अनादि अनन्त चैतन्य मात्र त्रिकाली आत्मा को न मानना किन्तु विकार जितना ही आत्मा मानना, १४. विपरीत अभिप्राय, १५. परसमय, १६. पर्यायमूढ़, १७. ऐसी मान्यता कि जीव शरीर की क्रिया कर सकता है, १८. जीव को पर द्रव्यों की व्यवस्था करने वाला तथा उसका कर्ता, भोक्ता, दाता, हर्ता मानना, १९. जीव को ही न मानना, २०. निमित्ताधीन दृष्टि, २१. ऐसी मान्यता कि पराश्रय से लाभ होता है, २२. शरीराश्रित क्रिया से लाभ होता है ऐसा मानना, २३. सर्वज्ञ की वाणी में जैसा आत्मा का पूर्ण स्वरूप कहा है वैसे स्वरूप की अश्रद्धा, २४. व्यवहारनय वास्तव में आदरणीय होने की मान्यता, २५. शुभाशुभ का स्वामित्व, २६. शुभ विकल्प से आत्मा को लाभ होता है ऐसी मान्यता, २७. ऐसी मान्यता कि व्यवहार-रत्नत्रय करते-करते निश्चय-रत्नत्रय प्रगट होता है, २८. शुभ-अशुभ में सदृश्यता न मानना अर्थात् ऐसा मानना कि शुभ अच्छा है और अशुभ खराब है, २९. ममत्व बुद्धि से मनुष्य और तिर्यञ्च के प्रति करुणा होना।

मिथ्यादर्शन के दो भेद -

मिथ्यात्व के दो भेद हैं - अगृहीत मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व। अगृहीत मिथ्यात्व अनादिकाल से है, जो ऐसी मान्यता है कि जीव परद्रव्य का कुछ कर सकता है या शुभ विकल्प से आत्मा को लाभ होता है यह अनादि का अगृहीत मिथ्यात्व है। संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याय में जन्म होने के बाद परोपदेश के निमित्त से जो अतत्त्व श्रद्धान करता है यह गृहीत मिथ्यात्व है। अगृहीत मिथ्यात्व को निसर्गज मिथ्यात्व और गृहीत मिथ्यात्व को बाह्य प्राप्त मिथ्यात्व भी कहते हैं। जिसके गृहीत मिथ्यात्व हो उसके अगृहीत मिथ्यात्व तो होता ही है।

मिथ्यात्व - तत्त्वार्थ के विपरीत श्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते हैं।

अविरति - षट्काय के जीवों की दया न करना तथा पंचेन्द्रिय व मन को वश में न करना।

प्रमाद - धर्मानुष्ठान को करते समय आदर न होना अथवा स्वभाव में लीन न होना।

कषाय - जो आत्मा को कसे अर्थात् दु:ख दे।

योग - आत्मप्रदेशों में परिस्पंदन होना।

बंध का स्वरूप -

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बंधः।। २।।

अर्थ - **[जीवः सकषायत्वात्]** जीव कषाय सहित होने से **[कर्मणः योग्यान्पुद्गलान्]** कर्म के योग्य पुद्गल परमाणुओं को **[आदत्ते]** ग्रहण करता है **[स बंधः]** वह बंध है। जैसे - पानी में फेंका हुआ तप्तायमान लोहे का गोला चारों तरफ से पानी को खींचता है, वैसे ही कषायों से संतप्त हुआ आत्मा त्रिविधयोगों के द्वारा कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता है।

समस्त लोक में कार्माणवर्गणा रूप पुद्गल भरे हैं। जब जीव कषाय करता है तब उस कषाय का निमित्त पाकर कार्माणवर्गणा स्वयं कर्म रूप से परिणमती हैं और जीव के साथ सम्बंध प्राप्त करती है, इसे बंध कहा जाता है। यहाँ जीव और पुद्गल के एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बंध को बंध कहा है। बंध होने से जीव और कर्म एक पदार्थ नहीं हो जाते तथा वे दोनों एकत्रित होकर कोई कार्य नहीं करते अर्थात् जीव और कर्म ये दोनों मिलकर पुद्गल कर्म में विकार नहीं करते। कर्मों का उदय जीव में विकार नहीं करता, जीव कर्मों में विकार नहीं करता, किन्तु दोनों स्वतंत्र रूप से अपनी-अपनी पर्याय के कर्ता हैं। जब जीव अपनी विकारी अवस्था करता है तब पुराने कर्मों के विपाक को 'उदय' कहा जाता है और यदि जीव विकारी अवस्था न करे तो उसके मोहकर्म की निर्जरा हुई-ऐसा कहा जाता है। पर का आश्रय किये बिना जीव में विकारी भाव उत्पन्न नहीं होता, जीव जब पराश्रय द्वारा अपनी अवस्था में विकार भाव करता है तब उस भाव के अनुसार नवीन कर्म बंधते हैं-ऐसा जीव और पुद्गल का निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध है।

प्रश्न - आत्मा तो अमूर्तिक है, हाथ-पैर से रहित है और कर्म मूर्तिक है, तब वह कर्मों को किस तरह ग्रहण करता है ?

उत्तर - वास्तव में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को ग्रहण नहीं कर सकता, इसलिये यहाँ ऐसा समझना कि जो 'ग्रहण' करना बतलाया है वह मात्र उपचार से कहा है। जीव का अनादि से कर्म पुद्गल के साथ सम्बंध है और जीव के विकार का निमित्त पाकर प्रति समय पुराने कर्मों के साथ नवीन कर्म स्कन्ध रूप होता है-इतना सम्बंध बताने के लिये यह उपचार किया है, वास्तव में जीव के साथ कर्म पुद्गल नहीं बंधते किन्तु पुराने कर्म पुद्गलों के

साथ नवीन कर्म पुद्‌गलों का बंध होता है, परन्तु जीव में विकार योग्यता है और उस विकार का निमित्त पाकर नवीन कर्मपुद्‌गल स्वयं-स्वतः बंधते हैं इसलिये उपचार से जीव के कर्म पुद्‌गलों का ग्रहण कहा है।

बंध के भेद -

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः।। ३।।

अर्थ - [तत्] उस बंध के **[प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाः]** प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेश बंध **[विधयः]** ये चार भेद हैं।

प्रकृतिबंध - कर्मों के स्वभाव को प्रकृतिबंध कहते हैं। जैसे - नीम का स्वभाव कड़वापन, गुड़ का स्वभाव मीठा। उसी प्रकार कर्मों के अपने-अपने स्वभाव को प्रकृतिबंध कहते हैं।

स्थितिबंध - ज्ञानावरणादि कर्म अपने स्वभाव रूप से जितने समय तक आत्मा के साथ रहते हैं उसे स्थितिबंध कहते हैं।

अनुभागबंध - ज्ञानावरणादि कर्मों के रस विशेष (फल प्रदान करने की शक्ति) को अनुभागबंध कहते हैं।

प्रदेशबंध - ज्ञानावरणादि कर्म रूप से होने वाले पुद्‌गल स्कन्धों के परमाणुओं की जो संख्या है उसे प्रदेशबंध कहते हैं। बंध के उपरोक्त चार प्रकार में से **प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध में योग निमित्त है** और **स्थितिबंध तथा अनुभागबंध में कषाय निमित्त है।**

यहाँ जो बंध के भेद वर्णन किये हैं वे पुद्‌गल कर्म बंध के है, अब उन प्रत्येक प्रकार के भेद-उपभेद अनुक्रम से कहते हैं।

प्रकृतिबंध के मूल भेद -

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः।। ४।।

अर्थ - [आद्यो] पहला अर्थात् प्रकृतिबंध **[ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः]** ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठ प्रकार का है।

ज्ञानावरण - जब आत्मा स्वयं अपने ज्ञान भाव का घात करता है अर्थात् ज्ञान शक्ति को व्यक्त नहीं करता तब आत्मा के ज्ञान गुण के घात में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे ज्ञानावरण कहते हैं।

दर्शनावरण - जब आत्मा स्वयं अपने दर्शन भाव का घात करता है तब आत्मा के दर्शन गुण के घात में जिस कर्म के उदय का निमित्त हो उसे दर्शनावरण कहते हैं।

वेदनीय - जब आत्मा स्वयं मोह भाव के द्वारा आकुलता करता है तब अनुकूलता-प्रतिकूलता रूप संयोग प्राप्त होने में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे वेदनीय कहते हैं।

मोहनीय - जीव अपने स्वरूप को भूलकर अन्य को अपना समझे अथवा स्वरूपाचरण में असावधानी करता है तब जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे मोहनीय कहते हैं।

आयु - जीव अपनी योग्यता से जब नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य या देव के शरीर में रुका रहे तब जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे आयुकर्म कहते हैं।

नाम - जिस शरीर में जीव हो उस शरीरादिक की रचना में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे नामकर्म कहते हैं।

गोत्र – जीव को उच्च या नीच आचरण वाले कुल में पैदा होने में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे गोत्रकर्म कहते हैं।

अंतराय – जीव के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य के विघ्न में जिस कर्म का उदय निमित्त हो उसे अंतरायकर्म कहते हैं।

१. प्रकृति बंध में इन आठ भेदों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार घातिया कर्म कहलाते हैं, क्योंकि वे जीव के अनुजीवी गुणों की पर्याय के घात में निमित्त हैं और बाकी के वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार को अघातिया कर्म कहते हैं, क्योंकि ये जीव के प्रतिजीवी गुणों की पर्याय के घात में निमित्त हैं। वस्तु में भाव स्वरूप गुण **अनुजीवी** गुण और अभाव स्वरूप गुण **प्रतिजीवी** गुण कहे जाते हैं।

२. जैसे एक समय में खाया हुआ आहार उदराग्नि के संयोग से रस, रक्त आदि भिन्न-भिन्न प्रकार से परिणत हो जाता है, उसी प्रकार एक ही समय में ग्रहण किये हुए कर्म जीव के परिणामानुसार ज्ञानावरण इत्यादि अनेक भेद रूप हो जाते हैं। यहाँ उदाहरण से इतना समझना कि आहार तो रस, रुधिर आदि रूप से क्रम-क्रम से होता है परन्तु कर्म ज्ञानावरणादि रूप एक साथ हो जाते हैं।

प्रकृतिबंध के उत्तर भेद –

पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशत्द्विपंचभेदा यथाक्रमम्।। ५।।

अर्थ – [**यथाक्रमम्**] उपरोक्त ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के अनुक्रम से [**पंचनवद्व्यष्टाविंशति चतुर्द्वि चत्वारिंशत्द्विपंचभेदाः**] पाँच, नव, दो, अट्ठाईस, चार, व्यालीस, दो और पाँच भेद हैं।

नोट – उन भेदों के नाम अब आगे के सूत्रों में अनुक्रम से बतलाते हैं।

ज्ञानावरण कर्म के पाँच भेद –

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ।। ६।।

अर्थ – [**मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम्**] मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये ज्ञानावरण कर्म के पाँच भेद हैं।

दर्शनावरण कर्म के नौ भेद –

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च।। ७।।

अर्थ – [**चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां**] चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण [**निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च**] निद्रा, निद्रा निद्रा, प्रचला, प्रचला प्रचला और स्त्यानगृद्धि ये नव भेद दर्शनावरण कर्म के हैं।

१. छद्मस्थ जीवों के दर्शन और ज्ञान क्रम से होते हैं अर्थात् पहले दर्शन और पीछे ज्ञान होता है, परन्तु केवली भगवान के दर्शन और ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं, क्योंकि दर्शन और ज्ञान दोनों के बाधक कर्मों का क्षय एक साथ होता है।

२. मनःपर्ययदर्शन नहीं होता, क्योंकि मनःपर्ययज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है, इसलिये मनःपर्ययदर्शनावरण कर्म नहीं है।

वेदनीय कर्म के दो भेद –

सदसद्वेद्ये।। ८।।

अर्थ – [सदसद्वेद्ये] सातावेदनीय और असातावेदनीय ये दो वेदनीय कर्म के भेद हैं।

वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं – सातावेदनीय और असातावेदनीय।

साता नाम सुख का है। इस सुख का जो वेदन अर्थात् अनुभव कराये वह साता वेदनीय है। असाता नाम दुःख का है, इसका जो वेदन अर्थात् अनुभव कराये वह असाता वेदनीय है।

मोहनीय कर्म के अट्ठाईस भेद –

दर्शन चारित्र मोहनीयाकषायकषाय वेदनीयाख्यास्त्रि द्वि नव षोडश भेदाः सम्यक्त्व मिथ्यात्व तदुभयान्य कषायकषायौ हास्यरत्यरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीपुंनपुंसक वेदा अनन्तानुबंध्य प्रत्याख्यान प्रत्याख्यान संज्वलन विकल्पाश्चैकशः क्रोध मान माया लोभाः।। ९।।

अर्थ – [दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्याः] दर्शनमोहनीय, चारित्र मोहनीय, अकषाय वेदनीय और कषायवेदनीय इन चार भेद रूप मोहनीय कर्म है और इसके भी अनुक्रम से **[त्रि द्वि नव षोडश भेदाः]** तीन, दो, नव और सोलह भेद हैं। वे इस प्रकार से हैं – **[सम्यक्त्व मिथ्यात्व तदुभयानि]** सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और सम्यक् मिथ्यात्व मोहनीय ये दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं **[अकषायकषायौ]** अकषाय वेदनीय और कषायवेदनीय ये दो भेद चारित्र मोहनीय के हैं **[हास्यरत्यरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीपुंनपुंसकवेदाः]** हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद ये अकषाय वेदनीय के नव भेद हैं और **[अनन्तानुबंध्य प्रत्याख्यान प्रत्याख्यान संज्वलन विकल्पाः च]** अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन के भेद से तथा **[एकशः क्रोध मान माया लोभाः]** इन प्रत्येक के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रकार – ये सोलह भेद कषाय वेदनीय के हैं। इस तरह मोहनीय के कुल अट्ठाईस भेद हैं।

कषायों के उत्कृष्ट-जघन्य स्थान के दृष्टांत

	उत्कृष्ट	**अनुत्कृष्ट**	**अजघन्य**	**जघन्य**
क्रोध	शिला भेद	पृथ्वी भेद	धूलि रेखा	जल रेखा
मान	शैल	अस्थि	काष्ठ	बेंत
माया	बाँस की जड़	मेढ़े का सींग	गोमूत्र	खुरपा
लोभ	किरमिची रंग	चक्रमल	शरीर का मैल	हल्दी का रंग

आयु कर्म के चार भेद –

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि।। १०।।

अर्थ – [नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि] नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु ये चार भेद आयुकर्म के हैं।

नामकर्म के ४२ भेद –

गति जाति शरीरांगोपांग निर्माण बंधन संघात संस्थान संहनन स्पर्श रस गंध वर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघात परघातातपोद्योतोच्छ्वास विहायोगतयः प्रत्येकशरीर त्रस सुभग सुस्वर शुभ सूक्ष्म पर्याप्ति स्थिरादेय यशःकीर्ति सेतराणि तीर्थंकरत्वं च।। ११।।

अर्थ – [गति जाति शरीरांगोपांग निर्माण बंधन संघात संस्थान संहनन स्पर्श रस गंध वर्णानु पूर्व्यागुरुलघूपघात – परघातातपोद्योतोच्छ्वास विहायोगतयः] गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बंधन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति ये इक्कीस तथा **[प्रत्येकशरीर त्रस सुभग सुस्वर शुभ सूक्ष्म पर्याप्ति स्थिरादेय यशःकीर्ति सेतराणि]** प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय और यशःकीर्ति ये दस तथा इनसे उल्टे दस अर्थात् साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुस्वर, अशुभ, बादर (स्थूल) अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय और अयशःकीर्ति ये दस **[तीर्थंकरत्वं च]** और तीर्थंकरत्व, इस तरह नाम कर्म के कुल व्यालीस भेद हैं। गति आदि को उपभेद सहित गिना जाय तो नाम के कर्म के कुल ९३ भेद होते हैं।

प्रशस्त अप्रशस्त प्रकृतियों के १० जोड़े

प्रशस्त		**अप्रशस्त**	
प्रत्येक शरीर	एक शरीर, एक स्वामी	साधारण शरीर	एक शरीर, अनेक स्वामी (इनका उदय निगोदिया जीव को ही होता है)
त्रस सुभग	द्वीन्द्रियादि में जन्म हो	स्थावर	एकेन्द्रियों में उत्पत्ति हो
सुभग	दूसरे जीव अपने से प्रीति करें	दुर्भग	दूसरे जीव अपने से प्रीति न करें
सुस्वर	अच्छा स्वर हो	दुःस्वर	अच्छा स्वर न हो
शुभ	शरीर के अवयव सुन्दर हों	अशुभ	शरीर के अवयव सुंदर न हों
बादर	दूसरों को रोके व दूसरों के द्वारा रुके, ऐसा शरीर हो	सूक्ष्म	न किसी को रोके, न रुके ऐसा शरीर हो
पर्याप्त	अपने–अपने योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण हों	अपर्याप्त	एक भी पर्याप्ति पूर्ण न हो
स्थिर	शरीर की धातु–उपधातु अपने ठिकाने रहे	अस्थिर	शरीर की धातु–उपधातु अपने ठिकाने न रहे
आदेय	प्रभा सहित शरीर उपजे	अनादेय	प्रभा रहित शरीर उपजे
यशः कीर्ति	संसार में यश हो रहा है ऐसा जीव के द्वारा माना जाना	अयशः कीर्ति	अपयश हो रहा है, ऐसा जीव के द्वारा माना जाना

गोत्रकर्म के दो भेद –

उच्चैर्नीचैश्च।। १२।।

अर्थ – [उच्चैर्नीचैश्च] उच्च गोत्र और नीच गोत्र ये दो भेद गोत्रकर्म के हैं।

अंतरायकर्म के पाँच भेद –

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम्।। १३।।

अर्थ – [दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम्] दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय और वीर्यान्तराय ये पाँचभेद अंतरायकर्म के हैं। प्रकृति बंध के उपभेदों का वर्णन यहाँ पूर्ण हुआ।

स्थिति बंध के भेदों में ज्ञानावरण, वेदनीय और अंतराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति –

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम कोटीकोट्यः परा स्थितिः।। १४।।

अर्थ – [आदितस्तिसृणाम्] आदि से तीन अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा वेदनीय **[अंतरायस्य च]** और अंतराय, इन चार कर्मों की **[परा स्थितिः]** उत्कृष्ट स्थिति **[त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः]** तीस कोड़ाकोड़ी सागर की है।

नोट – १. इस उत्कृष्ट स्थिति का बंध मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के ही होता है। २. एक करोड़ को करोड़ से गुणने से जो गुणनफल हो वह कोड़ाकोड़ी कहलाता है।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति –

सप्ततिर्मोहनीयस्य।। १५।।

अर्थ – [मोहनीयस्य] मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति **[सप्ततिः]** सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की है।

नोट – यह स्थिति भी मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के ही बंधती है।

नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति –

विंशतिर्नामगोत्रयोः।। १६।।

अर्थ – [नामगोत्रयोः] नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति **[विंशतिः]** बीस कोड़ाकोड़ी सागर की है।

आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन –

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः।। १७।।

अर्थ – [आयुषः] आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति **[त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि]** तैंतीस सागर की है।

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति –

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य।। १८।।

अर्थ – [वेदनीयस्य अपरा] वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति **[द्वादशमुहूर्ताः]** बारह मुहूर्त की है।

नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति –

नामगोत्रयोरष्टौ।। १९।।

अर्थ – [नामगोत्रयोः] नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति **[अष्टौ]** आठ मुहूर्त की है।

शेष ज्ञानावरणादि पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति –

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता।। २०।।

अर्थ – [शेषाणां] बाकी के अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय और आयु–इन पाँच कर्मों की जघन्य स्थिति **[अंतर्मुहूर्ता]** अन्तर्मुहूर्त की है।

यहाँ स्थिति बंध के उपभेदों का वर्णन पूर्ण हुआ।

अब अनुभाग बंध का वर्णन करते हैं (अनुभाग बंध को अनुभव बंध भी कहते हैं।)

अनुभाग या अनुभव बंध का लक्षण –

विपाकोऽनुभवः।। २१।।

अर्थ – [विपाकः] विविध प्रकार का जो पाक है **[अनुभवः]** सो अनुभव है।

१. मोहकर्म का विपाक होने पर जीव जिस प्रकार का विकार करे उसी रूप से जीव ने फल भोगा कहा जाता है। इसका इतना ही अर्थ है कि जीव को विकार करने में मोहकर्म का विपाक निमित्त है। कर्म का विपाक कर्म में होता है, जीव में नहीं होता। जीव को अपने विभाव भाव का जो अनुभव होता है सो जीव का विपाक अर्थात् अनुभव है।

२. यह सूत्र पुद्गल कर्म के विपाक–अनुभव को बताने वाला है। बंध होते समय जीव का जैसा विकारी भाव हो उसके अनुसार पुद्गल कर्म में अनुभाग बंध होता है और जब यह उदय में आये तब यह कहा जाता है कि कर्म का विपाक, अनुभाग या अनुभव हुआ।

अनुभाग बंध कर्म के नामानुसार होता है –

स यथानाम।। २२।।

अर्थ – [सः] यह अनुभाग बंध **[यथानाम]** कर्मों के नाम के अनुसार ही होता है।

जिस कर्म का जो नाम है उस कर्म में वैसा ही अनुभाग बंध पड़ता है। जैसे कि ज्ञानावरण कर्म में ऐसा अनुभाग होता है कि जब ज्ञान रुके तब निमित्त हो, दर्शनावरण कर्म में जब दर्शन रुके तब निमित्त हो, ऐसा अनुभाग होता है।

फल देने के बाद कर्मों का क्या होता है ?

ततश्च निर्जरा।। २३।।

अर्थ – [ततः च] तीव्र, मध्यम या मन्द फल देने के बाद **[निर्जरा]** उन कर्मों की निर्जरा हो जाती है अर्थात् उदय में आने के बाद कर्म आत्मा से पृथक् हो जाते हैं।

१. आठों कर्म उदय होने के बाद झड़ जाते हैं। इनमें कर्म की निर्जरा के दो भेद हैं – सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा।

१. सविपाक निर्जरा – आत्मा के साथ एक क्षेत्र में रहे हुए कर्म अपनी स्थिति पूरी होने पर अलग हो जाते हैं यह सविपाक निर्जरा है।

२. अविपाक निर्जरा – उदयकाल प्राप्त होने से पहले जो कर्म आत्मा के पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा से पृथक् हो जाते हैं यह अविपाक निर्जरा है।

२. निर्जरा के दूसरी तरह से भी दो भेद होते हैं, उनका वर्णन –

१. अकाम निर्जरा – इसमें बाह्यनिमित्त यह है कि इच्छा रहित भूख-प्यास सहन करना और वहाँ यदि मन्दकषाय रूप भाव हो तो व्यवहार से पाप की निर्जरा और देवादि पुण्य का बंध हो इसे अकाम निर्जरा कहते हैं।

२. सकाम निर्जरा – इसकी व्याख्या ऊपर अविपाक निर्जरा के अनुसार समझना। यहाँ विशेष बात यह है कि जीव के उपादान की अस्ति प्रथम दिखाकर निर्जरा में भी पुरुषार्थ का कारणपना दिखाया।

प्रदेशबंध का वर्णन –

प्रदेशबंध का स्वरूप –

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैक क्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः।। २४।।

अर्थ – [नामप्रत्ययाः] ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों का कारण **[सर्वतः]** सब तरफ से अर्थात् समस्त भावों में **[योगविशेषात्]** योग विशेष से **[सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः]** सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाह रूप स्थित **[सर्वात्मप्रदेशेषु]** और सर्व आत्म प्रदेशों में **[अनन्तानन्तप्रदेशः]** जो कर्म पुद्गल के अनन्तानन्त प्रदेश हैं वह प्रदेशबंध है।

निम्नलिखित छह बातें इस सूत्र में बतलाई हैं –

१. सर्व कर्म के ज्ञानावरणादि मूल प्रकृति रूप, उत्तर प्रकृति रूप और उत्तरोत्तर प्रकृति रूप होने का कारण कार्माणवर्गणा है।

२. त्रिकालवर्ती समस्त भवों में (जन्मों में) मन-वचन-काय के योग के निमित्त से यह कर्म आते हैं।

३. ये कर्म सूक्ष्म हैं-इन्द्रियगोचर नहीं हैं।

४. आत्मा के सर्व प्रदेशों के साथ दूध-पानी की तरह एक क्षेत्र में यह कर्म व्याप्त हैं।

५. आत्मा के सर्व प्रदेशों में अनन्तानन्त पुद्गल स्थित होते हैं।

६. एक-एक आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं, इस प्रत्येक प्रदेश में संसारी जीवों के अनन्तानन्त पुद्गल स्कन्ध विद्यमान हैं।

इस प्रकार प्रदेश बंध का वर्णन पूर्ण हुआ।

इस तरह चार प्रकार के बंध का वर्णन किया। अब कर्म प्रकृतियों में से पुण्य प्रकृतियाँ कितनी हैं और पाप प्रकृतियाँ कितनी हैं यह बताकर इस अध्याय को पूर्ण करते हैं।

पुण्य प्रकृतियाँ –

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्।। २५।।

अर्थ – [सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि] सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और उच्चगोत्र **[पुण्यम्]** ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

१. घातिया कर्मों की ४७ प्रकृतियाँ हैं, ये सब पाप रूप हैं। अघातिया कर्मों की १०१ प्रकृतियाँ हैं, उनमें पुण्य और पाप दोनों प्रकार हैं। उनमें से निम्नोक्त ६८ प्रकृतियाँ पुण्य रूप हैं –

१. सातावेदनीय, २. तिर्यञ्चायु, ३. मनुष्यायु, ४. देवायु, ५. उच्चगोत्र, ६. मनुष्यगति, ७. मनुष्यगत्यानुपूर्वी, ८. देवगति, ९. देवगत्यानुपूर्वी, १०. पंचेन्द्रिय जाति, ११-१५. पाँच प्रकार का शरीर, १६-२०. शरीर के पाँच

प्रकार के बंधन, २१-२५. पाँच प्रकार का संघात, २६-२८. तीन प्रकार का अंगोपांग, २९-४८. स्पर्श, वर्णादिक बीस प्रकृतियाँ, ४९. समचतुरस्रसंस्थान, ५०. वज्रर्षभनाराचसंहनन, ५१. अगुरुलघु, ५२. परघात, ५३. उच्छ्वास, ५४. आतप, ५५. उद्योत, ५६. प्रशस्त विहायोगति, ५७. त्रस, ५८. बादर, ५९. पर्याप्ति, ६०. प्रत्येक शरीर, ६१. स्थिर, ६२. शुभ, ६३. सुभग, ६४. सुस्वर, ६५. आदेय, ६६. यशकीर्ति, ६७. निर्माण और ६८. तीर्थकरत्व। भेद-विवक्षा से ये ६८ पुण्य प्रकृतियाँ है और अभेद-विवक्षा से ४२ पुण्य प्रकृतियाँ हैं, क्योंकि वर्णादिक के १६ भेद, शरीर के अन्तर्गत ५ बंधन और ५ संघात-इस प्रकार कुल २६ प्रकृतियाँ घटाने से ४२ प्रकृतियाँ रहती हैं।

२. पहले ११ वें सूत्र में नामकर्म की ४२ प्रकृतियाँ बतलाई हैं, उनमें गति, जाति, शरीरादिक उपभेद नहीं बतलाये, परन्तु पुण्य प्रकृति और पाप प्रकृति ऐसे भेद करने से उनके उपभेद आये बिना नहीं रहते।

पाप प्रकृतियाँ -

अतोऽन्यत्पापम्।। २६।।

अर्थ - [अतः अन्यत्] इन पुण्य प्रकृतियों में से अन्य अर्थात् असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और नीच गोत्र **[पापम्]** ये पाप-प्रकृतियाँ हैं।

१. पाप प्रकृतियाँ १०० हैं, जो निम्न प्रकार हैं -

४७-घातिया कर्मों की सर्व प्रकृतियाँ, ४८-नीच गोत्र, ४९-असातावेदनीय, ५०-नरकायु, [नामकर्म की ५०] १-नरकगति, २-नरकगत्यानुपूर्वी, ३-तिर्यञ्चगति, ४-तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी, ५ से ८-एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक चार जाति, ९ से १३-पाँच संस्थान, १४ से १८-पाँच संहनन, १९ से ३८-वर्णादिक २० प्रकार, ३९-उपघात, ४०-अप्रशस्त विहायोगति, ४१-स्थावर, ४२-सूक्ष्म, ४३-अपर्याप्ति, ४४-साधारण, ४५-अस्थिर, ४६-अशुभ, ४७-दुर्भग, ४८-दुःस्वर, ४९-अनादेय और ५०- अयशःकीर्ति। भेद-विवक्षा से ये सब १०० पाप प्रकृतियाँ हैं और अभेद-विवक्षा से ८४ हैं, क्योंकि वर्णादिक के १६ उपभेद घटाने से ८४ रहते हैं। इनमें से भी सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति तथा सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति इन दो प्रकृतियों का बंध नहीं होता, अतः इन दो को कम करने से भेद-विवक्षा से ९८ और अभेद-विवक्षा से ८२ पाप प्रकृतियों का बंध होता है, परन्तु इन दोनों प्रकृतियों की सत्ता तथा उदय होता है इसलिये सत्ता और उदय तो भेद-विवक्षा से १०० तथा अभेद-विवक्षा से ८४ प्रकृतियों का होता है।

२. वर्णादिक चार अथवा उनके भेद गिने जायें तो २० प्रकृतियाँ हैं, ये पुण्य रूप भी हैं और पाप रूप भी हैं, इसलिये ये पुण्य और पाप दोनों में गिनी जाती हैं।

जीव के एक समय के विकारी भाव में सात कर्म के बंध में और किसी समय आठों प्रकार के कर्म के बंध में निमित्त होने की योग्यता किस तरह होती है-

१. जीव अपने स्वरूप की असावधानी रखता है, यह मोहकर्म के बंध का निमित्त होता है।

२. स्वरूप की असावधानी होने से जीव उस समय अपना ज्ञान अपनी ओर न मोड़कर पर की तरफ मोड़ता है, यह भाव ज्ञानावरण कर्म के बंध का निमित्त होता है।

३. उसी समय स्वरूप की असावधानी को लेकर अपना (निज का) दर्शन अपनी तरफ न मोड़कर पर की तरफ मोड़ता है, यह भाव दर्शनावरण कर्म के बंध का निमित्त होता है।

४. उसी समय में स्वरूप की असावधानी के होने से अपना वीर्य अपनी तरफ नहीं मोड़कर पर की तरफ मोड़ता है, यह भाव अन्तराय कर्म के बंध का निमित्त होता है।

५. पर की ओर झुकाव से पर का संयोग होता है, इसलिये इस समय का (स्वरूप की असावधानी के समय का) भाव शरीर इत्यादि नामकर्म के बंध का निमित्त होता है।

६. जहाँ शरीर हो वहाँ ऊँच-नीच आचार वाले कुल में उत्पत्ति होती है, इसलिये इस समय का राग भाव गोत्रकर्म के बंध का निमित्त होता है।

७. जहाँ शरीर होता है वहाँ बाहर की अनुकूलता-प्रतिकूलता, रोग-निरोग आदि होते हैं, इसलिये इस समय का रागभाव वेदनीय कर्म के बंध का निमित्त होता है।

अज्ञान दशा में ये सात कर्म तो प्रति समय बंधते ही रहते हैं। सम्यग्दर्शन होने के बाद क्रम-क्रम से जिस-जिस प्रकार स्वसन्मुखता के बल से चारित्र की असावधानी दूर होती है उसी-उसी प्रकार जीव में शुद्ध दशा-अविकारी दशा बढ़ती जाती है और यह अविकारी (निर्मल) भाव पुद्गल कर्म के बंध में निमित्त नहीं होता, इसलिये उतने अंश में बंधन दूर होता है।

८. शरीर संयोगी वस्तु है, इसलिये जहाँ यह संयोग हो वहाँ वियोग भी होता ही है, अर्थात् शरीर की स्थिति अमुक काल तक की होती है। वर्तमान भव में जिस भव के योग्य भाव जीव ने किये हों वैसी आयु का बंध नवीन शरीर के लिये होता है।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न ०१ - बंध के कारण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बंध के कारण हैं।

प्रश्न ०२ - अविरति किसे कहते हैं तथा इसके कितने भेद हैं ?

उत्तर - छह काय के जीवों की रक्षा न करना तथा पाँच इन्द्रियों और छटवें मन को वश में नहीं रखना अविरति है। इसके बारह भेद हैं। इसका दूसरा नाम असंयम भी है।

प्रश्न ०३ - मिथ्यादर्शन आदि पाँच कर्म बंध के कारण में से किस गुणस्थान में कितने बंध के कारण हैं ?

उत्तर - पहले गुणस्थान में पाँचों बंध के कारण हैं। दूसरे से चौथे गुणस्थान तक के जीवों को मिथ्यात्व को छोड़कर चार बंध के कारण हैं। पंचम गुणस्थान में ग्यारह अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। छठे गुणस्थान में मिथ्यात्व और अविरति को छोड़कर तीन। सप्तम गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक कषाय और योग, ग्यारहवें गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक मात्र योग बंध का कारण है। चौदहवें गुणस्थान में बंध नहीं होता।

प्रश्न ०४ - ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के कितने भेद हैं ?

उत्तर - ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के भेद इस प्रकार हैं -
ज्ञानावरण - पाँच, दर्शनावरण - नौ, वेदनीय - दो, मोहनीय - अट्ठाईस, आयु - दो, नामकर्म - बयालीस, गोत्रकर्म - दो, अन्तराय - पाँच। (इनके भेदों के नाम सूत्र ६ से १३ तक देखें।)

प्रश्न ०५- स्त्यानगृद्धि किसे कहते हैं तथा यह किस कर्म का भेद है ?

उत्तर - जिस कर्म के उदय से प्राणी सोते समय नाना प्रकार के भयंकर कार्य कर डालता है और जागने पर कुछ मालूम ही नहीं होता कि मैंने क्या किया है ? उसे स्त्यानगृद्धि कहते हैं। यह दर्शनावरणीय कर्म का भेद है।

प्रश्न ०६ - वेदनीय कर्म किसे कहते हैं ? इसे दृष्टांत द्वारा समझाइये ?

उत्तर - जिस कर्म के उदय से जीव को सुख-दु:ख दोनों होते हैं और जो अव्याबाध (बाधा के अभाव रूप) गुण का घात करता है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं। जैसे - जिस प्रकार शहद लपेटी तलवार की धार चाटने से सुख और दु:ख दोनों होते हैं अर्थात् शहद मीठा लगने से सुख होता है और तलवार द्वारा जिह्वा कट जाने से दु:ख होता है, वैसे ही वेदनीय कर्म सुख-दु:ख दोनों देता है।

प्रश्न ०७ - वेदनीय कर्म का बंध किन गुणस्थानों तक होता है ?

उत्तर - असातावेदनीय कर्म का बंध प्रथम गुणस्थान से लेकर छठवे गुणस्थान तक तथा सातावेदनीय कर्म का बंध प्रथम गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक होता है।

प्रश्न ०८ - सम्यक्‌मिथ्यात्व और सम्यक्‌प्रकृति का उदय किन गुणस्थानों से होता है ?

उत्तर - सम्यक्‌मिथ्यात्व का उदय तीसरे गुणस्थान में और सम्यक्‌प्रकृति का उदय क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि को चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक होता है।

प्रश्न ०९ - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है ?

उत्तर - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर की है।

प्रश्न १० - मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कितनी है ?

उत्तर - मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की है।

प्रश्न ११ - नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति कितनी है ?

उत्तर - नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोड़ाकोड़ी सागर और जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है।

प्रश्न १२ - आयु कर्म की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति कितनी है ?

उत्तर - आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

प्रश्न १३ - वेदनीय और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय कर्म की जघन्य स्थिति कितनी है ?

उत्तर - वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

प्रश्न १४ - किस कर्म का बंध किस गुणस्थान में होता है ?

उत्तर - मोहनीय कर्म का बंध प्रथम से नौवें गुणस्थान तक, आयु कर्म का बंध तीसरे गुणस्थान को

छोड़कर प्रथम गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक, नीच गोत्र कर्म का बंध प्रथम गुणस्थान और द्वितीय गुणस्थान में होता है तथा उच्च गोत्र कर्म का बंध प्रथम गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक होता है।

प्रश्न १५ - आठवें अध्याय में किन विषयों का वर्णन है ?

उत्तर - आठवें अध्याय में बंध के हेतु, बंध के भेद, आठ कर्मों के उत्तर भेद, आठ कर्मों की उत्कृष्ट जघन्य स्थिति, अनुभाग, प्रदेश बंध, पुण्य-पाप कर्म का वर्णन है।

....

(द) संवर, निर्जरा तत्त्व का वर्णन

नवम अध्याय

संवर का लक्षण –

आस्रवनिरोधः संवरः।। १।।

अर्थ – [आस्रवनिरोधः] आस्रव का रोकना **[संवरः]** संवर है अर्थात् आत्मा में जिन कारणों से कर्मों का आस्रव होता है उन कारणों को दूर करने से कर्मों का आना रुक जाता है उसे संवर कहते हैं।

१. संवर धर्म है। जीव जब सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब संवर का प्रारम्भ होता है, सम्यग्दर्शन के बिना कभी भी यथार्थ संवर नहीं होता। सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का स्वरूप यथार्थ रूप से विपरीत अभिप्राय रहित जानना चाहिये।

२. सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद जीव के आंशिक वीतराग भाव और आंशिक सराग भाव होता है। वहाँ ऐसा समझना कि वीतराग भाव के द्वारा संवर होता है और सराग भाव के द्वारा बंध होता है।

संवर के कारण –

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः।। २।।

अर्थ – [गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः] तीन गुप्ति, पाँच समिति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषहजय और पाँच चारित्र, इन छह कारणों से **[सः]** संवर होता है।

जिस जीव के सम्यग्दर्शन होता है उसके ही संवर के छह कारण होते हैं, मिथ्यादृष्टि के इन छह कारणों में से एक भी यथार्थ नहीं होता। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के तथा साधु के ये छहों कारण यथा संभव होते हैं।

संवर के कारण

निश्चय से | **व्यवहार से**

	गुप्ति	**समिति**	**धर्म**	**अनुप्रेक्षा**	**परीषहजय**	**चारित्र**
स्वरूप	निवृत्ति (संसार के कारणों से आत्मा की रक्षा करना)	यत्नाचार रूप प्रवृत्ति	उत्तम स्थान में धरे	शरीरादिक के स्वभाव का बार–बार चिंतन	क्षुधादि वेदना को संक्लेशता रहित सहना	संसारपरिभ्रमण की कारण रूप क्रिया का अभाव
भेद	**तीन**	**पाँच**	**दस**	**बारह**	**बाईस**	**पाँच**

निर्जरा और संवर का कारण –

तपसा निर्जरा च।। ३।।

अर्थ – [तपसा] तप से **[निर्जरा च]** निर्जरा होती है और संवर भी होता है।

१. दस प्रकार के धर्म में तप का समावेश हो जाता है तो भी उसे यहाँ पृथक कहने का कारण यह है कि यह संवर और निर्जरा दोनों का कारण है और उसमें संवर का यह प्रधान कारण है।

२. यहाँ जो तप कहा है वह सम्यक् तप है, क्योंकि यह तप ही संवर-निर्जरा का कारण है। सम्यग्दृष्टि जीव के ही सम्यक् तप होता है, मिथ्यादृष्टि के तप को बालतप कहते हैं और यह आस्रव है।

तप का अर्थ –

श्री प्रवचनसार जी ग्रंथ की गाथा १४ में तप का अर्थ इस तरह दिया है-'स्वरूपविश्रांतनिस्तरंग चैतन्य प्रतपनाच्च तप:' अर्थात् स्वरूप में विश्रांत, तरंगों से रहित जो चैतन्य का प्रतपन है वह तप है।

गुप्ति का लक्षण और भेद –

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः।। ४।।

अर्थ – [सम्यग्योगनिग्रहो] भले प्रकार योग का निग्रह करना **[गुप्तिः]** गुप्ति है।

गुप्ति की व्याख्या –

जीव के उपयोग का मन के साथ युक्त होना मनोयोग है, वचन के साथ युक्त होना वचन योग है और काय के साथ युक्त होना काययोग है तथा उसका अभाव होना अनुक्रम से मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति है। इस तरह निमित्त के अभाव की अपेक्षा से गुप्ति के तीन भेद हैं।

समिति के ५ भेद –

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः।। ५।।

अर्थ – [ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः] सम्यक् ईर्या, सम्यक् भाषा, सम्यक् एषणा, सम्यक् आदान निक्षेप और सम्यक् उत्सर्ग-ये पाँच **[समितयः]** समिति हैं।

गुप्ति निवृत्ति स्वरूप है और समिति प्रवृत्ति स्वरूप है। सम्यग्दृष्टि को समिति में जितने अंश में वीतराग भाव है उतने अंश में संवर है और जितने अंश में राग है उतने अंश में बंध है।

समिति के पाँच भेद –

जब साधु गुप्ति रूप प्रवर्तन में स्थिर नहीं रह सकते तब वे ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण और उत्सर्ग इन पाँच समितियों में प्रवर्तते हैं, उस समय असंयम के निमित्त से बंधने वाला कर्म नहीं बंधता अत: उतना संवर होता है। यह समिति मुनि और श्रावक दोनों यथायोग्य पालते हैं।

पाँच समितियों की व्याख्या निम्न प्रकार है –

ईर्या समिति – चार हाथ आगे भूमि देखकर शुद्धमार्ग में चलना।

भाषा समिति – हित, मित और प्रिय वचन बोलना।

एषणा समिति – श्रावक के घर विधि पूर्वक दिन में एक बार निर्दोष आहार लेना एषणा समिति है।

आदान निक्षेपण समिति – सावधानी पूर्वक निर्जन्तु स्थान को देखकर वस्तु को रखना, देना तथा उठाना।

उत्सर्ग समिति – जीव रहित स्थान में मल-मूत्रादि का क्षेपण करना।

दस धर्म –

उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ।। ६ ।।

अर्थ – [उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि] उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दस **[धर्मः]** धर्म हैं।

प्रश्न – ये दस प्रकार के धर्म किसलिये कहे गये हैं ?

उत्तर – प्रवृत्ति को रोकने के लिये प्रथम गुप्ति बतलाई, उस गुप्ति में प्रवृत्ति करने में जब जीव असमर्थ होता है तब प्रवृत्ति का उपाय करने के लिये समिति कही है। इस समिति में प्रवर्तने वाले मुनि को प्रमाद दूर करने के लिये ये दस प्रकार के धर्म बतलाये हैं।

इस सूत्र में बतलाया गया 'उत्तम' शब्द क्षमा आदि दसों धर्मों में लागू होता है, यह गुणवाचक शब्द है। उत्तम क्षमादि कहने से यहाँ राग रूप क्षमा न लेना किन्तु स्वरूप की प्रतीति सहित क्रोधादि कषाय के अभाव रूप क्षमा समझना। उत्तम क्षमादि गुण प्रगट होने पर क्रोधादि कषाय का अभाव होता है, उसी से आस्रव की निवृत्ति होती है अर्थात् संवर होता है।

प्रश्न – तो क्रोधादि का त्याग किस तरह होता है ?

उत्तर – पदार्थ के इष्ट-अनिष्ट मालूम होने पर क्रोधादिक होते हैं। तत्त्व ज्ञान के अभ्यास से जब कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट मालूम न हो तब क्रोधादिक स्वयं उत्पन्न नहीं होते और तभी यथार्थ धर्म होता है।

क्षमादिक की व्याख्या निम्न प्रकार है-

१. क्षमा – निंदा, गाली, हास्य, अनादर, मारना, शरीर का घात करना आदि होने पर अथवा ऐसे प्रसंगों को निकट आते देखकर भावों में मलिनता न होना क्षमा है।

२. मार्दव – जाति आदि आठ प्रकार के मद के आवेश से होने वाले अभिमान का अभाव मार्दव है अथवा मैं पर द्रव्य का कुछ भी कर सकता हूँ ऐसी मान्यता रूप अहंकार भाव को जड़मूल से उखाड़ देना उसे मार्दव कहते हैं।

३. आर्जव – माया-कपट से रहित सरलता सहजता होने को आर्जव कहते हैं।

४. सत्य – सत् जीवों में प्रशंसनीय जीवों में साधु-वचन (सरल वचन) बोलने का जो भाव है वह सत्य है।

प्रश्न – उत्तम सत्य और भाषा-समिति में क्या अंतर है ?

उत्तर – समिति रूप में प्रवर्तन करने वाले मुनि का साधु और असाधु पुरुषों के प्रति वचन-व्यवहार होता है और वह हित, परिमित वचन है। उन मुनि को शिष्यों तथा उनके भक्तों (श्रावकों) में उत्तम सत्य ज्ञान, चारित्र के लक्षणादिक सीखने-सिखाने में अधिक भाषा व्यवहार करना पड़ता है, उसे उत्तम सत्य धर्म कहा जाता है।

५. शौच – लोभ से उत्कृष्ट रूप से निवृत्त होने को उत्तम शौच कहते हैं।

६. संयम – समिति में प्रवर्तने वाले मुनि के द्वारा प्राणियों को पीड़ा न पहुँचाने का जो भाव है वह संयम है।

७. तप – भाव कर्म का नाश करने के लिये स्व की शुद्धता के प्रतपन को तप कहते हैं।

८. त्याग – संयमी जीवों को योग्य आहार, ज्ञान आदि देने को त्याग कहते हैं।

९. आकिंचन्य – विद्यमान शरीरादिक में संस्कार के त्याग के लिये 'यह मेरा है' ऐसे अनुराग की निर्वृत्ति को आकिंचन्य कहते हैं। आत्मा के स्वरूप से भिन्न ऐसे शरीरादिक में या रागादिक में ममत्व रूप परिणामों के अभाव को आकिंचन्य कहते हैं।

१०. ब्रह्मचर्य – स्त्री मात्र का त्याग कर अपने आत्म स्वरूप में लीन रहना सो ब्रह्मचर्य है। पूर्व में भोगे हुए स्त्रियों के भोग का स्मरण तथा उनकी कथा सुनने के त्याग से तथा स्त्रियों के पास बैठना छोड़ने से और स्वच्छन्द प्रवृत्ति रोकने के लिये गुरुकुल में रहने से पूर्ण रूपेण ब्रह्मचर्य पलता है। इन दसों शब्दों में 'उत्तम' शब्द जोड़ने से 'उत्तम क्षमा' आदि दस धर्म होते हैं। उत्तम क्षमा आदि कहने से उसे शुभराग रूप न समझना किन्तु कषाय रहित शुद्ध भाव रूप समझना।

बारह अनुप्रेक्षा –

अनित्याशरण संसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रव संवर निर्जरा लोक बोधिदुर्लभ धर्म स्वाख्या तत्त्वानुचिंतनमनुप्रेक्षाः।। ७।।

अर्थ – [**अनित्याशरण संसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रव संवर निर्जरा लोक बोधिदुर्लभ धर्म स्वाख्या तत्त्वानुचिंतनं**] अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारह के स्वरूप का बारम्बार चिंतवन करना [**अनुप्रेक्षाः**] अनुप्रेक्षा है।

बारह भावनाओं का स्वरूप –

१. अनित्य अनुप्रेक्षा – दृश्यमान, संयोगी ऐसे शरीरादि समस्त पदार्थ इन्द्रधनुष, बिजली अथवा पानी के बुदबुदे के समान शीघ्र नाश हो जाते हैं, ऐसा विचार करना अनित्य अनुप्रेक्षा है।

शुद्ध निश्चय से आत्मा का स्वरूप देव, असुर और मनुष्य के वैभवादि से रहित है। आत्मा ज्ञानस्वरूपी सदा शाश्वत है और संयोगी भाव अनित्य हैं–ऐसा चिंतवन करना अनित्य भावना है।

२. अशरण अनुप्रेक्षा – जैसे निर्जन वन में भूखे सिंह के द्वारा पकड़े हुए हिरण के बच्चे को कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार संसार में जीव को कोई शरणभूत नहीं है। यदि जीव स्वयं (स्व) के शरण रूप स्वभाव को पहचान कर शुद्ध भाव से धर्म का सेवन करे तो वह सभी प्रकार के दुःख से बच सकता है, अन्यथा वह प्रतिसमय भाव–मरण से दुःखी है–ऐसा चिंतवन करना अशरण अनुप्रेक्षा है।

आत्मा में ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप रहते हैं, इससे आत्मा ही शरणभूत है और इनसे पर सब अशरण हैं–ऐसा चिंतवन करना अशरण भावना है।

३. संसार अनुप्रेक्षा – इस चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करता हुआ जीव, जिसका पिता था उसी का पुत्र, जिसका पुत्र था उसी का पिता, जिसका स्वामी था उसी का दास, जिसका दास था उसी का स्वामी हो जाता है, अथवा यह स्वयं (स्व) का ही पुत्र हो जाता है। स्त्री, धन, देहादि को अपना संसार मानना भूल है। जड़ कर्म जीव को संसार में रुलाने वाला नहीं है। इत्यादि प्रकार से संसार के स्वरूप का और उसके कारण रूप विकारी भावों के स्वरूप का विचार करना संसार अनुप्रेक्षा है।

यद्यपि आत्मा अपनी भूल से अपने में राग–द्वेष अज्ञान रूप मलिन भावों को उत्पन्न करके संसार रूप घोर वन में भटक रहा है– तथापि निश्चय नय से आत्मा विकारी भावों से और कर्मों से रहित है – ऐसा चिंतवन करना संसार भावना है।

४. एकत्व अनुप्रेक्षा – जीवन-मरण, संसार और मोक्ष आदि दशाओं में जीव स्वयं अकेला ही है। स्वयं ही विकार करता है, स्वयं ही कर्म करता है, स्वयं ही धर्म करता है, स्वयं ही सुखी-दु:खी होता है। जीव में पर द्रव्यों का अभाव है, इसलिये कर्म या परद्रव्य, परक्षेत्र, पर कालादि जीव को कुछ भी लाभ या हानि नहीं कर सकते- ऐसा चिंतवन करना एकत्व अनुप्रेक्षा है।

मैं एक हूँ, ममता रहित हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञान दर्शन लक्षण वाला हूँ, कोई अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, शुद्ध एकत्व ही उपादेय है-ऐसा चिंतवन करना एकत्व भावना है।

५. अन्यत्व अनुप्रेक्षा – प्रत्येक आत्मा और सर्व पदार्थ सदा भिन्न-भिन्न हैं, वे सभी अपना-अपना कार्य करते हैं। जीव पर पदार्थों का कुछ कर नहीं सकते और पर पदार्थ जीव का कुछ कर नहीं सकते। जीव के विकारी भाव भी जीव के त्रैकालिक स्वभाव से भिन्न हैं, क्योंकि वे जीव से अलग हो जाते हैं। विकारी भाव चाहे तीव्र हो या मन्द तथापि उससे आत्मा को लाभ नहीं होता। आत्मा परद्रव्यों से और विकार से पृथक है – ऐसे तत्त्व ज्ञान की भावनापूर्वक वैराग्य की वृद्धि होने से अन्त में मोक्ष होता है-इस प्रकार चिंतवन करना अन्यत्व अनुप्रेक्षा है।

आत्मा ज्ञान-दर्शन स्वरूप है और जो शरीरादि बाह्य-द्रव्य हैं वे सब आत्मा से भिन्न हैं। परद्रव्य छेदा जाय या भेदा जाय या कोई ले जाय अथवा नष्ट हो जाय अथवा चाहे वैसा ही रहे, किन्तु परद्रव्य का परिग्रह मेरा नहीं है, ऐसा चिंतवन करना अन्यत्व भावना है।

६. अशुचि अनुप्रेक्षा – शरीर स्वभाव से ही अशुचिमय है और जीव (आत्मा) स्वभाव से ही शुचिमय (शुद्ध स्वरूप) है। शरीर रुधिर, मांस, मल आदि से भरा हुआ है, वह कभी पवित्र नहीं हो सकता, इत्यादि प्रकार से आत्मा की शुद्धता का और शरीर की अशुद्धता का ज्ञान करके शरीर का ममत्व तथा राग छोड़ना और निज आत्मा के लक्ष्य से शुद्धि को बढ़ाना अशुचि अनुप्रेक्षा है। शरीर के प्रति द्वेष करना अनुप्रेक्षा नहीं है किन्तु शरीर के प्रति इष्ट-अनिष्टपने की मान्यता और राग-द्वेष दूर करना और आत्मा के पवित्र स्वभाव का लक्ष्य करने से तथा सम्यग्दर्शनादि की भावना के द्वारा आत्मा अत्यन्त पवित्र होता है-ऐसा बारम्बार चिंतवन करना अशुचि अनुप्रेक्षा है।

आत्मा देह से भिन्न, कर्मरहित, अनन्त सुख स्वरूप है। इसकी नित्य भावना करना और विकारी भाव, अनित्य, दु:ख रूप, अशुचिमय हैं, ऐसा जानकर उनसे विमुख हो जाने की भावना करना अशुचिभावना है।

७. आस्रव अनुप्रेक्षा – मिथ्यात्व और राग-द्वेष रूप अपने अपराध से प्रति समय नवीन विकारी भाव उत्पन्न होते हैं। मिथ्यात्व मुख्य आस्रव है क्योंकि यह संसार की जड़ है, इसलिये इसका स्वरूप जानकर उसे छोड़ने का चिंतवन करना आस्रव भावना है।

मिथ्यात्व, अविरत आदि आस्रव के भेद कहे हैं, वे आस्रव निश्चय से जीव के नहीं हैं। द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के आस्रव से रहित शुद्ध आत्मा का चिंतवन करना आस्रव भावना है।

८. संवर अनुप्रेक्षा – मिथ्यात्व और राग-द्वेष रूप भावों का रुक जाना भाव संवर है, उससे नवीन कर्म का आना रुक जाना द्रव्य संवर है। प्रथम तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप के लक्ष्य से मिथ्यात्व और उसके सहचारी अनन्तानुबंधी कषाय का संवर होता है। सम्यग्दर्शनादि शुद्ध भाव संवर है और उससे आत्मा का कल्याण होता

है, ऐसा चिंतवन करना संवर अनुप्रेक्षा है।

परमार्थ से आत्मा में संवर ही नहीं है, इसलिये संवर भाव-विमुक्त शुद्ध आत्मा का नित्य चिंतवन करना संवर भावना है।

९. निर्जरा अनुप्रेक्षा - अज्ञानी जीव की सविपाक निर्जरा से आत्मा का कुछ भी भला नहीं होता, किन्तु आत्मा का स्वरूप जानकर उसके त्रिकाली स्वभाव के आलम्बन के द्वारा शुद्धता प्रगट करने से जो निर्जरा होती है उससे आत्मा का कल्याण होता है, इत्यादि प्रकार से निर्जरा के स्वरूप का विचार करना निर्जरा अनुप्रेक्षा है।

स्वकाल पक्व निर्जरा (सविपाक निर्जरा) चारों गति वालों के होती है, किन्तु तपकृत निर्जरा (अविपाक निर्जरा) सम्यग्दर्शन पूर्वक व्रतधारियों को ही होती है, ऐसा चिंतवन करना निर्जरा भावना है।

१०. लोक अनुप्रेक्षा - लोकालोक रूप अनन्त आकाश के मध्य में चौदह राजू प्रमाण लोक है। इसके आकार तथा उसके साथ जीव का निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध विचारना और परमार्थ की अपेक्षा से आत्मा स्वयं ही स्व का लोक है इसलिये स्व को ही देखना लाभदायक है, आत्मा की अपेक्षा से परवस्तु उसका अलोक है, इसलिये आत्मा को पर वस्तु की तरफ लक्ष्य करने की आवश्यकता नहीं है। स्व के आत्म स्वरूप लोक में (देखने-जानने रूप स्वभाव में) स्थिर होने से पर वस्तुएँ ज्ञान में सहज रूप से जानी जाती हैं, ऐसा चिंतवन करना लोकानुप्रेक्षा है, इससे तत्त्वज्ञान की शुद्धि होती है।

आत्मा निज के अशुभ भाव से नरक तथा तिर्यञ्च गति प्राप्त करता है, शुभ भाव से देव तथा मनुष्य गति पाता है और शुद्धभाव से मोक्ष प्राप्त करता है, ऐसा चिंतवन करना लोक भावना है।

११. बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा - रत्नत्रय रूप बोधि प्राप्त करने में महान पुरुषार्थ की जरूरत है, इसलिये इसका पुरुषार्थ बढ़ाना और उसका चिंतवन करना बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा है।

निश्चयनय से ज्ञान में हेय और उपादेय का भी विकल्प नहीं है, इसलिये संसार से विरक्त होने के लिये ऐसा चिंतवन करना बोधि दुर्लभ भावना है।

१२. धर्म अनुप्रेक्षा - सम्यक् धर्म के यथार्थ तत्त्वों का बारम्बार चिंतवन करना। धर्म वस्तु का स्वभाव है, आत्मा का शुद्ध स्वभाव ही आत्मा का धर्म है तथा आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप धर्म अथवा दस लक्षण रूप धर्म अथवा स्वरूप की हिंसा नहीं करने रूप अहिंसा धर्म, वही धर्म आत्मा को इष्ट स्थान में (संपूर्ण पवित्र दशा में) पहुँचाता है। धर्म ही परम रसायन है, धर्म ही चिंतामणि रत्न, धर्म ही कल्पवृक्ष-कामधेनु है और धर्म ही मित्र है, धर्म ही स्वामी है, धर्म ही बंधु, हितु, रक्षक और साथ रहने वाला है, धर्म ही शरण है, धर्म ही धन है, धर्म ही अविनाशी है, धर्म ही सहायक है और इसी धर्म का जिनेश्वर भगवान ने उपदेश किया है, इस प्रकार चिंतवन करना धर्म अनुप्रेक्षा है।

निश्चयनय से आत्मा श्रावक धर्म या मुनिधर्म से भिन्न है, इसलिये मध्यस्थभाव अर्थात् राग-द्वेष रहित निर्मल भाव द्वारा शुद्धात्मा का चिंतवन करना धर्म भावना है।

ये बारह भावनायें ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधि हैं, इसलिये निरन्तर अनुप्रेक्षा का चिंतवन करना चाहिये। (भावना और अनुप्रेक्षा ये दोनों एकार्थवाचक हैं।)

इन अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन करने वाले जीव उत्तम क्षमादि धर्म पालते हैं और परीषहों को जीतते हैं, इसलिये इनका कथन दोनों के बीच में किया गया है।

दूसरे सूत्र में कहे हुए संवर के छह कारणों में से पहले चार कारणों का वर्णन पूर्ण हुआ। अब पाँचवें कारण परीषहजय का वर्णन करते हैं।

परीषह सहन करने का उपदेश –

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।। ८।।

अर्थ – [मार्गाच्यवननिर्जरार्थं] संवर के मार्ग से च्युत न होने और कर्मों की निर्जरा के लिये **[परीषहाः परिषोढव्याः]** बाईस परीषह सहन करने योग्य हैं (यह संवर का प्रकरण चल रहा है, अतः इस सूत्र में कहे गये 'मार्ग' शब्द का अर्थ 'संवर का मार्ग' समझना।)

परीषह के बाईस भेद –

क्षुत्पिपासा शीतोष्ण दंशमशक नाग्न्यारति स्त्रीचर्यानिषद्या शय्याक्रोशवध याचनाऽलाभ रोग तृणस्पर्श मल सत्कारपुरस्कार प्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि।। ९।।

अर्थ – [क्षुत्पिपासा शीतोष्ण दंशमशक नाग्न्यारति स्त्रीचर्यानिषद्या शय्याक्रोशवध याचनाऽलाभ रोग तृणस्पर्श मल सत्कारपुरस्कार प्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि] क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह हैं।

दसवें से बारहवें गुणस्थान तक की परीषह –

सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ।। १०।।

अर्थ – [सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयो] सूक्ष्मसाम्पराय वाले जीवों के और छद्मस्थ वीतराग जीवों के **[चतुर्दश]** १४ परीषह होती हैं।

मोह और योग के निमित्त से होने वाले आत्म परिणामों की तारतम्यता को गुणस्थान कहते हैं, वे चौदह हैं। सूक्ष्मसाम्पराय यह दसवाँ गुणस्थान है और छद्मस्थ वीतरागता ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान में होती है। इन तीन गुणस्थानों अर्थात् दसवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में चौदह परीषह होती हैं, वे इस प्रकार हैं– १. क्षुधा, २. तृषा, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंशमशक, ६. चर्या, ७. शय्या, ८. वध, ९. अलाभ, १०. रोग, ११. तृण स्पर्श, १२. मल, १३. प्रज्ञा १४. अज्ञान। इनके अतिरिक्त १. नग्नता, २. संयम अप्रीति (अरति) ३. स्त्री अवलोकन, स्पर्श, ४. आसन, (निषद्या) ५. दुर्वचन (आक्रोश),६. याचना, ७. सत्कार–पुरस्कार और ८. अदर्शन, मोहनीय कर्मजनित ये आठ परिषहें वहाँ नहीं होतीं।

तेरहवें गुणस्थान में परीषह –

एकादश जिने।। ११।।

अर्थ – [जिने] तेरहवें गुणस्थान में जिनेन्द्र देव को **[एकादश]** ऊपर बतलाई गई चौदह में से अलाभ, प्रज्ञा और अज्ञान इन तीन को छोड़कर बाकी की ग्यारह परीषह होती हैं।

यद्यपि मोहनीय कर्म का उदय न होने से भगवान के क्षुधादिक की वेदना नहीं होती, इसलिये उनके परीषह भी नहीं होती, तथापि उन परीषहों के निमित्त कारण रूप वेदनीय कर्म का उदय विद्यमान है। अतः वहाँ

भी उपचार से ग्यारह परीषह कही हैं। वास्तव में उनके एक भी परीषह नहीं है।

छटवें से नववें गुणस्थान तक की परीषह –

बादरसाम्पराये सर्वे।। १२।।

अर्थ – [बादरसाम्पराये] बादरसाम्पराय अर्थात् स्थूल कषाय वाले जीवों के **[सर्वे]** सर्व परीषह होती हैं।

१. छटवें से नववें गुणस्थान को बादर साम्पराय कहते हैं। इन गुणस्थानों में परीषह के कारणभूत सभी कर्मों का उदय है, किन्तु जीव जितने अंश में उनमें युक्त नहीं होता उतने अंश में (आठवें सूत्र के अनुसार) परीषह जय करता है।

२. सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहार विशुद्धि इन तीन संयमों में से किसी एक में समस्त परीषह संभव हैं। इस तरह यह वर्णन किया कि किस गुणस्थान में कितनी परीषह जय होती हैं। अब किस-किस कर्म के उदय से कौन-कौन सी परीषह होती हैं यह बतलाते हैं –

ज्ञानावरण कर्म के उदय से होने वाली परीषह –

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने।। १३।।

अर्थ – [ज्ञानावरणे] ज्ञानावरण कर्म के उदय से **[प्रज्ञाऽज्ञाने]** प्रज्ञा और अज्ञान ये दो परीषह होती हैं।

दर्शनमोहनीय तथा अन्तराय कर्म के उदय से होने वाली परीषह –

दर्शनमोहांतराययोरदर्शनाऽलाभौ।। १४।।

अर्थ – [दर्शनमोहांतराययोः] दर्शनमोह और अन्तराय कर्म के उदय से **[अदर्शनाऽलाभौ]** क्रम से अदर्शन और अलाभ परीषह होती हैं।

चारित्र मोहनीय के उदय से होने वाली परीषह –

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः।। १५।।

अर्थ – [चारित्रमोहे] चारित्र मोहनीय के उदय से **[नाग्न्यारति स्त्रीनिषद्याक्रोश याचना सत्कार पुरस्काराः]** नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार ये सात परीषह होती हैं।

वेदनीय कर्म के उदय से होने वाली परीषह –

वेदनीय शेषाः।। १६।।

अर्थ – [वेदनीये] वेदनीय कर्म के उदय से **[शेषाः]** बाकी की ग्यारह परीषह अर्थात् क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृण स्पर्श और मल ये परीषह होती हैं।

एक जीव के एक साथ होने वाली परीषहों की संख्या –

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः।। १७।।

अर्थ – [एकस्मिन् युगपत्] एक जीव के एक साथ **[एकादयो]** एक से लेकर **[आ एकोनविंशतेः]** उन्नीस परीषह तक **[भाज्याः]** जानना चाहिये।

एक जीव के एक समय में अधिक से अधिक १९ परीषह हो सकती हैं, क्योंकि शीत और उष्ण इन दो में से एक ही होती है और शय्या, चर्या तथा निषद्या (सोना, चलना तथा आसन में रहना) इन तीन में से एक समय में एक ही होती है। इस तरह इन तीन परीषहों के कम करने से बाकी उन्नीस परीषह हो सकती हैं।

चारित्र के पाँच भेद -

सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायययथाख्यातमिति चारित्रम्।। १८।।

अर्थ - [सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायययथाख्यातं] सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात **[इति चारित्रम्]** इस प्रकार चारित्र के ५ भेद हैं।

सूत्र में कहे गये शब्दों की व्याख्या -

१. सामायिक - निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान की एकाग्रता द्वारा समस्त सावद्य योग का त्याग करके शुद्धात्म स्वरूप में अभेद होने पर शुभाशुभ भावों का त्याग होना सामायिक चारित्र है। यह चारित्र छटवें से नववें गुणस्थान तक होता है।

२. छेदोपस्थापना - कोई जीव सामायिक चारित्र रूप हुआ हो उससे हटकर सावद्य व्यापार रूप हो जाय, पश्चात् प्रायश्चित द्वारा उस सावद्य व्यापार से उन्नत हुए दोषों को छेदकर आत्मा को संयम में स्थिर करे उसे छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं। यह चारित्र छटवें से नववें गुणस्थान तक होता है।

३. परिहारविशुद्धि - जो जीव जन्म से ३० वर्ष तक सुखी रहकर फिर दीक्षा ग्रहण करे और श्री तीर्थंकर भगवान के पादमूल में आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नववें पूर्व का अध्ययन करे, उसको यह संयम होता है। जो जीवों की उत्पत्ति-मरण के स्थान, काल की मर्यादा, जन्म-योनि के भेद, द्रव्य-क्षेत्र का स्वभाव, विधान तथा विधि इन सभी का जानने वाला हो और प्रमाद रहित महावीर्यवान हो, उसके शुद्धता के बल से कर्म की बहुत (प्रचुर) निर्जरा होती है। अत्यन्त कठिन आचरण करने वाले मुनियों के यह संयम होता है। जिनके यह संयम होता है उनके शरीर से जीवों की विराधना नहीं होती। यह चारित्र ऊपर बतलाये गये साधु के छटवें और सातवें गुणस्थान में होता है।

४. सूक्ष्मसाम्पराय - जब अति सूक्ष्म लोभ कषाय का उदय हो तब जो चारित्र होता है वह सूक्ष्म साम्पराय है। यह चारित्र दसवें गुणस्थान में होता है।

५. यथाख्यात - सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के क्षय अथवा उपशम से आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थिर होना यथाख्यात चारित्र है। यह चारित्र ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

प्रश्न - जो वीतराग भाव है वह चारित्र है और वीतराग भाव तो एक ही तरह का है, तो फिर चारित्र के भेद क्यों बतलाये ?

उत्तर - वीतराग भाव एक तरह का है परन्तु वह एक साथ पूर्ण प्रगट नहीं होता, किन्तु क्रम-क्रम से प्रगट होता है इसलिये उसमें भेद होते हैं। जितने अंश में वीतराग भाव प्रगट होता है उतने अंश में चारित्र प्रगट होता है, इसलिये चारित्र के भेद बतलाये गये हैं।

तप निर्जरा का कारण है, इसलिये उसका वर्णन करते हैं, सर्वप्रथम तप के भेद कहते हैं-

बाह्य-तप के ६ भेद -

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः
बाह्यं तपः।। १९।।

अर्थ - [अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः] सम्यक् प्रकार से

अनशन, सम्यक् अवमौदर्य, सम्यक् वृत्तिपरिसंख्यान, सम्यक् रसपरित्याग, सम्यक् विविक्तशय्यासन और सम्यक् कायक्लेश ये **[बाह्यं तपः]** छह प्रकार के बाह्य तप हैं।

आभ्यंतर तप के ६ भेद -

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।। २०।।

अर्थ - [प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानानि] सम्यक् रूप से प्रायश्चित, सम्यक्विनय, सम्यक् वैयावृत्य, सम्यक् स्वाध्याय, सम्यक् व्युत्सर्ग और सम्यक् ध्यान **[उत्तरम्]** ये छह प्रकार का आभ्यंतर तप है।

आभ्यंतर तप के उपभेद -

नवचतुर्दशपंचद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात्।। २१।।

अर्थ - [प्राक् ध्यानात्] ध्यान से पहले के पाँच तप के **[यथाक्रमं]** अनुक्रम से **[नवचतुर्दश पंचद्विभेदाः]** नव, चार, दस, पाँच और दो भेद हैं अर्थात् सम्यक् प्रायश्चित के नव, सम्यक् विनय के चार, वैयावृत्य के दस, सम्यक् स्वाध्याय के पाँच और सम्यक् व्युत्सर्ग के दो भेद हैं।

सम्यक् प्रायश्चित के नव भेद -

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः।। २२।।

अर्थ - [आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः] आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापना, ये प्रायश्चित तप के नव भेद हैं।

प्रायश्चित्त - प्रायः=अपराध, चित्त=शुद्धि अर्थात्- अपराध की शुद्धि करना प्रायश्चित्त है।

आलोचना - प्रमाद से लगे हुए दोषों को गुरु के पास जाकर निष्कपट रीति से कहना आलोचना है।

प्रतिक्रमण - अपने किये हुए अपराध मिथ्या होवें-ऐसी भावना करना प्रतिक्रमण है।

तदुभय - वे दोनों अर्थात् आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना तदुभय है।

विवेक - आहार-पानी का नियमित समय तक त्याग करना विवेक है।

व्युत्सर्ग - कायोत्सर्ग करने को व्युत्सर्ग कहते हैं।

तप - उपवासादि करना तप है।

छेद - एक दिन, पन्द्रह दिन, एक मास आदि समय पर्यन्त दीक्षा का छेद करना छेद कहलाता है।

परिहार - एक दिन, एक पक्ष, एक मास आदि नियमित समय तक संघ से अलग करना परिहार है।

उपस्थापन - पुरानी दीक्षा का सम्पूर्ण छेद करके फिर से नई दीक्षा देना उपस्थापन है।

सम्यक् विनय तप के चार भेद -

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः।। २३।।

अर्थ - [ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः] ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय, ये विनय तप के चार भेद हैं।

ज्ञानविनय - आदरपूर्वक योग्यकाल में सत्शास्त्र का अभ्यास करना, मोक्ष के लिए ज्ञान का ग्रहण, अभ्यास, संस्मरण आदि करना ज्ञानविनय है।

दर्शनविनय – शंका, कांक्षा आदि दोष रहित सम्यग्दर्शन को धारण करना दर्शनविनय है।
चारित्रविनय – निर्दोष रीति से चारित्र पालन करना चारित्रविनय है।
उपचारविनय – आचार्य आदि पूज्य पुरुषों को देखकर खड़े होना, नमस्कार करना, इत्यादि उपचार विनय है।

सम्यक् वैयावृत्य तप के १० भेद –

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्।। २४।।

अर्थ – [आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्] आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ – इन दस प्रकार के मुनियों की सेवा करना वैयावृत्य तप है। वैयावृत्य तप के दस भेद हैं।

आचार्य – जो मुनि स्वयं पाँच प्रकार के आचारों का आचरण करें और दूसरों को आचरण करावें उन्हें आचार्य कहते हैं।

उपाध्याय – जो साधु स्वयं अध्ययन करते हैं और दूसरे साधुओं को अध्ययन कराते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

तपस्वी – महान उपवास करने वाले साधुओं को तपस्वी कहते हैं।
शैक्ष्य – शास्त्र के अध्ययन में तत्पर मुनि को शैक्ष्य कहते हैं।
ग्लान – रोग से पीड़ित मुनि को ग्लान कहते हैं।
गण – वृद्ध मुनियों के अनुसार चलने वाले मुनियों के समुदाय को गण कहते हैं।
कुल – दीक्षा देने वाले आचार्य के शिष्य कुल कहलाते हैं।
संघ – ऋषि, यति, मुनि और अनगार – इन चार प्रकार के मुनियों का समूह संघ कहलाता है। (संघ के दूसरी तरह से मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका ये भी चार भेद हैं।)
साधु – जिनने बहुत समय से दीक्षा ली हो उन्हें साधु कहते हैं अथवा जो रत्नत्रय की भावना से अपने आत्मा को साधते हैं उन्हें साधु कहते हैं।
मनोज्ञ – मोक्षमार्ग, प्रभावक, वक्तादि गुणों से शोभायमान जिनकी लोक में अधिक ख्याति हो रही हो ऐसे विद्वान मुनि को मनोज्ञ कहते हैं।

इन प्रत्येक की सेवा–सुश्रूषा करना वैयावृत्त है। यह वैयावृत्य शुभभाव रूप है, इसलिये व्यवहार है। वैयावृत्य का अर्थ सेवा है। स्व के अकषाय भाव की जो सेवा है वह वैयावृत्य है।

संघ के चार भेद बतलाये, अब उनका अर्थ लिखते हैं –
ऋषि – ऋद्धिधारी साधु को ऋषि कहते हैं।
यति – इन्द्रियों को वश में करने वाले साधु अथवा उपशम या क्षपकश्रेणी मांडने वाले साधु यति कहलाते हैं।
मुनि – अवधिज्ञानी या मन:पर्ययज्ञानी साधु मुनि कहलाते हैं।
अनगार – सामान्य साधु अथवा नवीन दीक्षित साधुओं को अनगार कहते हैं।

पुनश्च ऋषि के भी चार भेद हैं – १. राजर्षि = विक्रिया, अक्षीण ऋद्धि प्राप्त मुनि राजर्षि कहलाते हैं। २. ब्रह्मर्षि = बुद्धि, सर्वोषधि आदि ऋद्धि प्राप्त साधु ब्रह्मर्षि कहलाते हैं। ३. देवर्षि = आकाशगमन, ऋद्धि प्राप्त साधु देवर्षि कहे जाते हैं। ४. परमर्षि = केवलज्ञानी को परमर्षि कहते हैं।

सम्यक् स्वाध्याय तप के पाँच भेद –

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाऽम्नायधर्मोपदेशाः।। २५।।

अर्थ – [वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाऽम्नायधर्मोपदेशाः] वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश यह स्वाध्याय के पाँच भेद हैं।

वाचना – निर्दोष ग्रन्थ, उसका अर्थ तथा दोनों का भव्य जीवों को श्रवण कराना वाचना है।

पृच्छना – संशय को दूर करने के लिये अथवा निश्चय को दृढ़ करने के लिये प्रश्न पूछना पृच्छना है। अपना उच्चपना प्रगट करने के लिये, किसी को ठगने के लिये, किसी को हराने के लिये, दूसरे का हास्य करने के लिये खोटे परिणामों से प्रश्न करना वह पृच्छना स्वाध्याय तप नहीं है।

अनुप्रेक्षा – जाने हुए पदार्थों का बारम्बार चिंतवन करना अनुप्रेक्षा है।

आम्नाय – निर्दोष उच्चारण करके पाठ को घोंटना आम्नाय है।

धर्मोपदेश – धर्म का उपदेश करना धर्मोपदेश है।

प्रश्न – यह पाँच प्रकार के स्वाध्याय किसलिये कहे हैं ?

उत्तर – प्रज्ञा की अधिकता, प्रशंसनीय अभिप्राय, उत्कृष्ट उदासीनता, तप की वृद्धि, अतिचार की विशुद्धि इत्यादि के कारण पाँच प्रकार के स्वाध्याय कहे गये हैं।

सम्यक् व्युत्सर्गतप के दो भेद –

बाह्याभ्यंतरोपध्योः।। २६।।

अर्थ – [बाह्याभ्यंतरोपध्योः] बाह्य उपधिव्युत्सर्ग और अभ्यंतर उपधिव्युत्सर्ग यह दो व्युत्सर्ग तप के भेद हैं।

बाह्य–उपधि का अर्थ है बाह्य–परिग्रह और अभ्यन्तर–उपधि का अर्थ अभ्यन्तर परिग्रह है। दस प्रकार के बाह्य और चौदह प्रकार के अंतरंग–परिग्रह का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। जो आत्मा का विकारी परिणाम है वह अंतरंग–परिग्रह है। उसका बाह्य–परिग्रह के साथ निमित्त–नैमित्तिक सम्बंध है।

सम्यक् ध्यान तप के लक्षण –

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ।। २७।।

अर्थ – [उत्तमसंहननस्य] उत्तम संहनन वाले के **[आ अन्तर्मुहूर्तात्]** अन्तर्मुहूर्त तक **[एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानम्]** एकाग्रतापूर्वक चिंता का निरोध करना ध्यान है।

उत्तम संहनन – वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच और नाराच यह तीन उत्तम संहनन हैं। इनमें मोक्ष प्राप्त करने वाले जीव के पहला वज्रर्षभनाराच संहनन होता है।

एकाग्र – एकाग्र का अर्थ मुख्य, सहारा, अवलम्बन, आश्रय, प्रधान अथवा सन्मुख होता है। वृत्ति को अन्य क्रिया से हटाकर एक ही विषय में रोकना एकाग्रचिंतानिरोध है और वही ध्यान है। जहाँ एकाग्रता नहीं वहाँ भावना है।

इस सूत्र में ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यान का समय ये चार बातें निम्न रूप से आ जाती हैं –

१. जो उत्तमसंहननधारी पुरुष है वह ध्याता है। २. एकाग्रचिंता का निरोध ध्यान है।

३. जिस एक विषय को प्रधान किया वह ध्येय है। ४. अन्तर्मुहूर्त ध्यान का उत्कृष्ट काल है।

मुहूर्त का अर्थ है ४८ मिनिट और अन्तर्मुहूर्त का अर्थ है ४८ मिनिट के भीतर का समय। ४८ मिनिट में एक समय कम उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

ध्यान के भेद –

आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि।। २८।।

अर्थ – [आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि] आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये ध्यान के चार भेद हैं।

मोक्ष के कारण रूप ध्यान –

परे मोक्षहेतू।। २९।।

अर्थ – [परे] जो चार प्रकार के ध्यान कहे उनमें से अन्त के दो अर्थात् धर्म और शुक्ल ध्यान **[मोक्षहेतू]** मोक्ष के कारण हैं।

पहले दो ध्यान अर्थात् आर्तध्यान और रौद्र ध्यान संसार के कारण हैं और निश्चय धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान मोक्ष के कारण हैं।

आर्तध्यान के चार भेद, उनका अनुक्रम से वर्णन –

आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः।। ३०।।

अर्थ – [अमनोज्ञस्य संप्रयोगे] अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर **[तद्विप्रयोगाय]** उसे दूर करने के लिये **[स्मृतिसमन्वाहारः]** बारम्बार विचार करना **[आर्तम्]** अनिष्ट संयोगज नाम का आर्तध्यान है।

विपरीतं मनोज्ञस्य।। ३१।।

अर्थ – [मनोज्ञस्य] मनोज्ञ पदार्थ सम्बंधी **[विपरीतं]** उपरोक्त सूत्र में कहे हुए से विपरीत अर्थात् इष्ट-पदार्थ का वियोग होने पर उसके संयोग के लिये बारम्बार विचार करना 'इष्ट वियोगज' नाम का आर्तध्यान है।

वेदनायाश्च।। ३२।।

अर्थ – [वेदनायाः च] रोगजनित पीड़ा होने पर उसे दूर करने के लिये बारम्बार चिंतवन करना वेदनाजन्य आर्तध्यान है।

निदानं च।। ३३।।

अर्थ – [निदानं च] भविष्यकाल सम्बंधी विषयों की प्राप्ति में चित्त को तल्लीन कर देना निदानज आर्तध्यान है।

गुणस्थान की अपेक्षा से आर्तध्यान के स्वामी –

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्।। ३४।।

अर्थ – [तत्] वह आर्त्तध्यान **[अविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्]** अविरत पहले चार गुणस्थान, देशविरत पाँचवां गुणस्थान और प्रमत्त संयत-छटवें गुणस्थान में होता है।

नोट – निदान नाम का आर्तध्यान छटवें गुणस्थान में नहीं होता।

रौद्रध्यान के भेद और स्वामी –

हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः।। ३५।।

अर्थ – [हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यः] हिंसा, असत्य, चोरी और विषय संरक्षण के भाव से उत्पन्न

हुआ ध्यान **[रौद्रम्]** रौद्रध्यान है, यह ध्यान **[अविरतदेशविरतयोः]** अविरत और देशविरत (पहले से पाँच) गुणस्थान में होता है।

जो ध्यान क्रूर परिणामों से होता है वह रौद्रध्यान है। निमित्त के भेद की अपेक्षा से रौद्रध्यान के ४ भेद होते हैं, वे निम्नप्रकार हैं –

हिंसानन्दी – हिंसा में आनंद मानकर उसके साधन मिलाने में तल्लीन रहना हिंसानन्दी है।

मृषानन्दी – झूठ बोलने में आनन्द मानकर उसका चिंतवन करना।

चौर्यानन्दी – चोरी में आनन्द मानकर उसका विचार करना।

परिग्रहानन्दी – परिग्रह की रक्षा की चिंता में तल्लीन रहना।

धर्म ध्यान के भेद –

आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्।। ३६।।

अर्थ – **[आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय]** आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय का चिंतवन करना **[धर्म्यम्]** धर्मध्यान है।

धर्म ध्यान के चार भेद निम्न प्रकार हैं –

१. आज्ञा विचय – आगम की प्रामाणिकता से अर्थ का विचार करना आज्ञा विचय है।

२. अपाय विचय – संसारी जीवों के दुःख का और उससे छूटने के उपाय का विचार करना अपाय विचय है।

३. विपाक विचय – कर्म के फल का (उदय का) विचार करना विपाक विचय है।

३. संस्थान विचय – लोक के आकार का विचार करना। इत्यादि विचारों के समय स्वसन्मुखता के बल से जितनी आत्मपरिणामों की शुद्धता हो उसे धर्मध्यान कहते हैं।

शुक्लध्यान के स्वामी –

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः।। ३७।।

अर्थ – **[शुक्ले चाद्ये]** पहले दो प्रकार के शुक्ल ध्यान अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ये दो ध्यान भी **[पूर्वविदः]** पूर्वज्ञानधारी श्रुतकेवली के होते हैं।

शुक्ल ध्यान के ४ भेद ३९ वें सूत्र में कहेंगे। शुक्ल ध्यान का प्रथम भेद आठवें गुणस्थान में प्रारम्भ होकर क्षपक में दसमें और उपशम में ११ वें गुणस्थान तक रहता है। उसके निमित्त से मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम होता है। दूसरा भेद बारहवें गुणस्थान में होता है, उसके निमित्त से बाकी के घातियाकर्म अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतरायकर्म का क्षय होता है। ग्यारहवें गुणस्थान में पहला भेद होता है।

बाकी के दो भेद किसको होते हैं –

परे केवलिनः।। ३८।।

अर्थ – **[परे]** शुक्ल ध्यान के अन्तिम दो भेद अर्थात् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये दो ध्यान **[केवलिनः]** केवली भगवान के होते हैं।

तेरहवें गुणस्थान के अंतिम भाग में शुक्ल ध्यान का तीसरा भेद होता है, उसके बाद चौथा चौदहवें गुणस्थान में प्रगट होता है।

शुक्ल ध्यान के चार भेद –

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि।। ३९।।

अर्थ – [पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि] पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति ये शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं।

योग की अपेक्षा से शुक्ल ध्यान के स्वामी –

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम्।। ४०।।

अर्थ – [त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम्] ऊपर कहे गये चार प्रकार के शुक्लध्यान अनुक्रम से तीन योग वाले, एक योग वाले, मात्र काय योग वाले और अयोगी जीवों के होते हैं।

१. पहला पृथक्त्ववितर्क ध्यान मन, वचन और काय इन तीन योगों के धारण करने वाले जीवों के होता है। (गुणस्थान ८ से ११) २. दूसरा एकत्ववितर्क ध्यान तीन में से किसी एक योग के धारक के होता है। (१२ वें गुणस्थान में होता है।) ३. तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान मात्र काययोग के धारण करने वाले के होता है। (१३ वें गुणस्थान के अंतिम भाग में।) ४. चौथा व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान योग रहित–अयोगी जीवों के होता है। (चौदहवें गुणस्थान में होता है।)

शुक्लध्यान के पहले दो भेदों की विशेषता –

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे।। ४१।।

अर्थ – [एकाश्रये] एक (परिपूर्ण) श्रुतज्ञानी के आश्रय से रहने वाले **[पूर्वे]** शुक्लध्यान के पहले दो भेद **[सवितर्कवीचारे]** वितर्क और वीचार सहित होते हैं।

अवीचारं द्वितीयम्।। ४२।।

अर्थ – [द्वितीयम्] ऊपर कहे गये शुक्लध्यानों में से दूसरा शुक्लध्यान **[अवीचारं]** वीचार से रहित है, किन्तु सवितर्क होता है।

४२ वाँ सूत्र ४१ वें सूत्र का अपवाद रूप है, अर्थात् शुक्लध्यान का दूसरा भेद वीचार रहित है। जिसमें वितर्क और वीचार दोनों हों वह पहला पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान है और जो वीचार रहित तथा वितर्क सहित मणि के दीपक की तरह अचल है वह दूसरा एकत्ववितर्क शुक्लध्यान है। इसमें अर्थ, वचन और योग का पलटना दूर हो जाता है अर्थात् वह संक्रांति रहित है।

जो ध्यान सूक्ष्म काययोग के अवलंबन से होता है उसे सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति (तृतीय) शुक्लध्यान कहते हैं और जिसमें आत्म प्रदेशों में परिस्पंद और श्वासोच्छ्वासादि समस्त क्रियायें निवृत्त हो जाती हैं उसे व्युपरतक्रियानिवर्ति (चौथा) शुक्लध्यान कहते हैं।

वितर्क का लक्षण –

वितर्कः श्रुतम्।। ४३।।

अर्थ – [श्रुतम्] श्रुतज्ञान को **[वितर्कः]** वितर्क कहते हैं।

वीचार का लक्षण –

वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः।। ४४।।

अर्थ – [अर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः] अर्थ, व्यंजन और योग का बदलना **[वीचारः]** वीचार है।

अर्थसंक्रान्ति – अर्थ का तात्पर्य है ध्यान करने योग्य पदार्थ और संक्रान्ति का अर्थ बदलना है। ध्यान करने योग्य पदार्थ में द्रव्य को छोड़कर उसकी पर्याय का ध्यान करना अथवा पर्याय को छोड़कर द्रव्य का ध्यान करना अर्थसंक्रान्ति है।

व्यंजनसंक्रान्ति – व्यंजन का अर्थ वचन और संक्रान्ति का अर्थ बदलना है। श्रुत के किसी एक वचन को छोड़कर अन्य का अवलम्बन करना तथा उसे छोड़कर किसी अन्य का अवलम्बन करना तथा उसे छोड़कर किसी अन्य का अवलम्बन करना व्यंजनसंक्रान्ति है।

योगसंक्रान्ति – काययोग को छोड़कर मनोयोग या वचनयोग को ग्रहण करना और उसे छोड़कर अन्य योग को ग्रहण करना योगसंक्रान्ति है।

यह ध्यान रहे कि जिस जीव के शुक्लध्यान होता है वह जीव निर्विकल्प दशा में ही है, इसलिये उसे इस संक्रान्ति की खबर नहीं है, किन्तु उस दशा में ऐसी पलटना होती है अर्थात् संक्रान्ति होती है वह केवलज्ञानी जानते हैं।

ऊपर कही गई संक्रान्ति–परिवर्तन को वीचार कहते हैं। जहाँ तक यह वीचार रहता है वहाँ तक इस ध्यान को सवीचार (अर्थात् पहला पृथक्त्ववितर्क) कहते हैं। पश्चात् ध्यान में दृढ़ता होती है तब वह परिवर्तन रुक जाता है, इस ध्यान को अवीचार (अर्थात् दूसरा एकत्ववितर्क कहते हैं।)

पात्र की अपेक्षा से निर्जरा में होने वाली न्यूनाधिकता –

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-
मोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः।। ४५।।

अर्थ – [**सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीण-मोहजिनाः**] सम्यग्दृष्टि, पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक, विरत–मुनि, अनंतानुबंधी का विसंयोजन करने वाला, दर्शनमोह का क्षय करने वाला, उपशम श्रेणी मांडने वाला, उपशांतमोह, क्षपकश्रेणी मांडने वाला, क्षीणमोह और जिन–इन सबके (अंतर्मुहूर्त पर्यन्त परिणामों की विशुद्धता की अधिकता से आयुकर्म को छोड़कर) प्रति समय [**क्रमशः असंख्येयगुणनिर्जराः**] क्रम से असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

१. यहाँ पहले सम्यग्दृष्टि की–चौथे गुणस्थान की दशा बतलाई है। जो असंख्यातगुणी निर्जरा कही है वह निर्जरा सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पहले की एकदम समीप की (अत्यन्त निकट की) आत्मा की दशा में होने वाली निर्जरा से असंख्यात गुणी जानना। प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के पहले तीन करण होते हैं, उनमें अनिवृत्तिकरण के समय में वर्तने वाली विशुद्धता से विशुद्ध, जो सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि है उसके आयु को छोड़कर सात कर्मों की जो निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान प्राप्त करने पर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त (निर्जरा) होती है अर्थात् सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि की निर्जरा से सम्यग्दृष्टि के गुणश्रेणी निर्जरा में असंख्यगुणा द्रव्य है। यह चौथे गुणस्थान वाले अविरत–सम्यग्दृष्टि की निर्जरा है।

२. जब यह जीव पाँचवां गुणस्थान–श्रावकदशा प्रगट करता है तब अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निर्जरा होने योग्य कर्म पुद्गल रूप गुणश्रेणी निर्जरा द्रव्य चौथे गुणस्थान से असंख्यात गुणा है।

३. पाँचवें से जब सकल संयम रूप अप्रमत्तसंयत (सातवाँ) गुणस्थान प्रगट करे तब पंचम गुणस्थान से असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। पाँचवें के बाद पहले सातवाँ गुणस्थान प्रगट होता है और फिर विकल्प उठने

पर छटवाँ प्रमत्त गुणस्थान होता है। सूत्र में 'विरत' शब्द कहा है, इसमें सातवें और छटवें दोनों गुणस्थान वाले जीवों का समावेश होता है।

४. तीन करण के प्रभाव से चार अनंतानुबंधी कषाय को, बारह कषाय तथा नव नोकषाय रूप परिणमा दे, उन जीवों के अंतर्मुहूर्त पर्यन्त प्रतिसमय असंख्यातगुणी द्रव्य-निर्जरा होती है। अनंतानुबंधी का यह विसंयोजन चौथे, पाँचवें, छटवें और सातवें, इन चार गुणस्थानों में होता है।

५. अनंतवियोजन से असंख्यातगुणी निर्जरा दर्शनमोह के क्षपक के (उसी जीव के) होती है। पहले अनंतानुबंधी का विसंयोजन करने के बाद दर्शनमोह के त्रिक का क्षय करे।

६. दर्शन मोह का क्षपण करने वाले से 'उपशमक' के असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

प्रश्न – उपशम की बात दर्शन मोह के क्षपण करने वाले के बाद क्यों कही है?

उत्तर – क्षपक का अर्थ क्षायिक होता है। यहाँ क्षायिक सम्यक्त्व की बात है और 'उपशमक' कहने से द्वितीयोपशम सम्यक्त्व से युक्त उपशम श्रेणी वाले जीव समझना। क्षायिक सम्यग्दृष्टि से उपशम श्रेणी वाले के असंख्यात गुणी निर्जरा होती है, इसलिये पहले क्षपक की बात की है और उसके बाद उपशमक की बात की है। क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे, पाँचवें, छटवें और सातवें गुणस्थान में प्रगट होता है और जो जीव चारित्रमोह का उपशम करने को उद्यमी हुए हैं उनके आठवाँ, नववाँ और दसवाँ गुणस्थान होता है।

७. उपशमक जीव की निर्जरा से ग्यारहवें उपशान्त मोह गुणस्थान में असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

८. उपशान्त मोह वाले जीव की अपेक्षा क्षपक श्रेणी वाले के असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। इस जीव के आठवाँ, नववाँ और दसवाँ गुणस्थान होता है।

९. क्षपक श्रेणी वाले जीव की अपेक्षा बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

१०. बारहवें गुणस्थान की अपेक्षा 'जिन' के (तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में) असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। 'जिन' के तीन भेद हैं १. स्वस्थान केवली, २. समुद्घात केवली और ३. अयोग केवली। इन तीनों में भी विशुद्धता के कारण उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा है। अत्यंत विशुद्धता के कारण समुद्घात केवली के नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति आयुकर्म के समान हो जाती है।

निर्ग्रन्थ साधु के भेद –

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकाः निर्ग्रन्थाः ।। ४६ ।।

अर्थ – **[पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकाः]** पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक, ये पाँच प्रकार के **[निर्ग्रन्थाः]** निर्ग्रन्थ हैं।

१. पुलाक – जो उत्तर गुणों की भावना से रहित हो और किसी क्षेत्र तथा काल में किसी मूलगुण में भी अतिचार लगावे तथा जिसके अल्प विशुद्धता हो उसे पुलाक कहते हैं। (विशेष कथन सूत्र ४७ प्रतिसेवना का अर्थ।)

२. बकुश – जो मूलगुणों का निर्दोष पालन करता है किन्तु धर्मानुराग के कारण शरीर तथा उपकरणों की शोभा बढ़ाने के लिये कुछ इच्छा रखता है उसे बकुश कहते हैं।

३. कुशील – इसके दो भेद हैं १. प्रतिसेवना कुशील और २. कषाय कुशील। जिसको शरीरादि तथा उपकरणादि से पूर्ण विरक्ति न हो और मूलगुण तथा उत्तरगुणों की परिपूर्णता हो परन्तु उत्तरगुण में क्वचित्

कदाचित् विराधना होती हो उसे प्रतिसेवना कुशील कहते हैं और जिसने संज्वलन के सिवाय अन्य कषायों को जीत लिया हो उसे कषाय कुशील कहते हैं।

४. निर्ग्रन्थ – जिनके मोहकर्म क्षीण हो गया है तथा जिनके मोहकर्म के उदय का अभाव है ऐसे ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि को निर्ग्रन्थ कहते हैं।

५. स्नातक – समस्त घातिया कर्मों के नाश करने वाले केवली भगवान को स्नातक कहते हैं। (इसमें तेरहवाँ तथा चौदहवाँ दोनों गुणस्थान समझना।)

पुलाकादि मुनियों में विशेषता –

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः।। ४७।।

अर्थ – उपरोक्त मुनि [**संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पतः**] संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ अनुयोगों द्वारा [**साध्याः**] भेदरूप से साध्य हैं, अर्थात् इन आठ प्रकार से इन पुलाकादि मुनियों में विशेष भेद होते हैं।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न ०१ - संवर किसे कहते हैं व किसके द्वारा होता है ?

उत्तर - आस्रव को रोकना संवर है। गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय चारित्र के द्वारा संवर होता है।

प्रश्न ०२ - गुप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर - भले प्रकार से अर्थात् विषयाभिलाषा को छोड़कर मन, वचन, काय की स्वच्छंद प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति है। गुप्ति के तीन भेद हैं – मनोगुप्ति – मन पर नियंत्रण, वचनगुप्ति – वचन पर नियंत्रण, कायगुप्ति – शरीर पर नियंत्रण।

प्रश्न ०३ - परीषह क्यों सहन करना चाहिये ?

उत्तर - संवर के मार्ग से च्युत न होने के लिये तथा कर्मों की निर्जरा के लिये परीषहों को सहन करना चाहिये।

प्रश्न ०४ - छटवें से नवमें गुणस्थान तक और दसवें, ग्यारहवें, बारहवें व तेरहवें गुणस्थान में कितने परीषह होते हैं ?

उत्तर - छटवें से नवमें गुणस्थान में परीषह के कारणभूत सब कर्मों का उदय होने से पूरे २२ परीषह होते हैं। दसवें, ग्यारहवें व बारहवें गुणस्थान में १४ परीषह होते हैं – क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृण स्पर्श, मल, अलाभ, प्रज्ञा, अज्ञान। तेरहवें गुणस्थान में – अलाभ, प्रज्ञा, अज्ञान इन तीन को छोड़कर ऊपर लिखे शेष ग्यारह परीषह होते हैं।

प्रश्न ०५ - चारित्र के कितने भेद हैं, छेदोपस्थापना चारित्र किसे कहते हैं ?

उत्तर - चारित्र के पाँच भेद हैं – सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात। प्रमादादि के द्वारा चारित्र में दोष लग जाने पर प्रायश्चित के द्वारा उसको दूर कर पुनः निर्दोष चारित्र स्वीकार करना छेदोपस्थापना चारित्र है।

प्रश्न ०६ - ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शन मोहनीय और अंतराय कर्म के उदय से कौन से परीषह होते हैं ?

उत्तर - ज्ञानावरणीय कर्म के उदय में प्रज्ञा और अज्ञान परीषह, दर्शन मोहनीय के उदय से अदर्शन और अंतराय के उदय से अलाभ परीषह होते हैं।

प्रश्न ०७ - चारित्र मोहनीय और वेदनीय कर्म के उदय से कौन-कौन से परीषह होते हैं ?

उत्तर - चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार पुरस्कार ये सात परीषह होते हैं और वेदनीय कर्म के उदय से क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, तृणस्पर्श, मल, रोग ये ग्यारह परीषह होते हैं।

प्रश्न ०८ - एक जीव में एक साथ कम से कम और अधिक से अधिक कितने परीषह हो सकते हैं ?

उत्तर - एक जीव में एक साथ कम से कम एक और अधिक से अधिक उन्नीस परीषह होते हैं।

प्रश्न ०९ - कौन से परीषह एक साथ नहीं होते ?

उत्तर - शय्या, निषद्या, चर्या इन तीन में से कोई एक और शीत और उष्ण में से कोई एक परीषह होता है।

प्रश्न १० - वैयावृत्य किसे कहते हैं, इसके कितने भेद हैं, स्पष्ट कीजिये ?

उत्तर - शरीर व अन्य वस्तुओं से मुनियों की सेवा करना वैयावृत्य तप है। इसके दस भेद हैं - आचार्य (जो मुनि पंचाचार का स्वयं पालन करते हैं और दूसरे साधुओं से कराते हैं), उपाध्याय (जिनके पास मुनिजन शास्त्राभ्यास करते हैं) तपस्वी (तपस्या में संलग्न साधु), शैक्ष्य (शास्त्र के अध्यनन में तत्पर साधु), ग्लान (रोग से पीड़ित मुनि), गण (वृद्ध मुनियों के अनुसार चलने वाले साधु), कुल (दीक्षा देने वाले आचार्य के शिष्य), संघ (चार प्रकार के मुनियों का समूह), साधु (जिनने बहुत समय से दीक्षा ली हो), मनोज्ञ (लोक में जिनकी प्रशंसा बढ़ रही हो अथवा दीक्षा अभिमुख त्यागी)।

प्रश्न ११ - आर्तध्यान, रौद्रध्यान किस गुणस्थान से किस गुणस्थान तक होता है ?

उत्तर - आर्तध्यान प्रथम गुणस्थान से छटवें (प्रथम संयत) गुणस्थान तक होता है। (छटवें गुणस्थान में निदान नाम का आर्तध्यान नहीं होता) और रौद्रध्यान पहले गुणस्थान से पाँचवे गुणस्थान तक होता है।

प्रश्न १२ - आदि के दो शुक्ल ध्यान और अंत के दो शुक्ल ध्यान किसको होते हैं ?

उत्तर - आदि के दो शुक्ल ध्यान पूर्वज्ञानधारी श्रुतकेवली के होते हैं और अंत के दो शुक्ल ध्यान सयोग केवली और अयोग केवली को क्रम से होते हैं।

प्रश्न १३- वीचार का लक्षण क्या है तथा अर्थ संक्रांति, व्यंजन संक्रांति और योग संक्रांति किसे कहते हैं ?

उत्तर - व्यंजन और योग की पलटना को वीचार कहते हैं।

व्यंजन = वचन। योग = मन वचन काय की क्रिया। संक्रांति = परिवर्तन

अर्थ संक्रांति – ध्यान करते समय द्रव्य को छोड़कर पर्याय का, पर्याय को छोड़कर द्रव्य का ध्यान करना अर्थात् ध्यान के विषय का कुछ बदलना अर्थ संक्रांति है।

व्यंजन संक्रांति – श्रुत के किसी एक वाक्य को छोड़कर दूसरे वाक्य का सहारा लेना। उसे भी छोड़कर तीसरे वाक्य का सहारा लेना। इसी प्रकार ध्यान करते समय वचन के बदलने को व्यंजन संक्रांति कहते हैं।

योग संक्रांति – काय योग को छोड़कर मनोयोग या वचनयोग को ग्रहण करना या उन्हें छोड़कर अन्य योग को ग्रहण करना योग संक्रांति है।

प्रश्न १४ – उत्तरोत्तर निर्जरा किन-किन पात्रों की अधिक होती है ?

उत्तर – सम्यग्दृष्टि, पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक, विरत (मुनि) अनंतानुबंधी का विसंयोजनकर्ता, दर्शन मोह का क्षय करने वाला, चारित्र मोह का क्षय करने वाला, उपशांत मोह वाला, क्षपक श्रेणी चढ़ता हुआ, क्षीण मोह (बारहवें गुणस्थान वाला) इनकी उत्तरोत्तर असंख्यात-असंख्यात गुणी निर्जरा होती है।

प्रश्न १५ – साधु (निर्ग्रन्थ) के कितने भेद हैं, स्नातक किसे कहते हैं ?

उत्तर – पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक ये पाँच साधु के भेद हैं।

समस्त घातिया कर्मों का नाश करने वाले केवली भगवान को स्नातक कहते हैं।

....

(इ) मोक्ष तत्त्व विवेचन

दसम अध्याय

केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण –

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।। १।।

अर्थ – [मोहक्षयात्] मोह का क्षय होने से (अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त क्षीणकषाय नामक गुणस्थान प्राप्त करने के बाद) **[ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयात् च]** और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अंतराय इन तीन कर्मों का एक साथ क्षय होने से **[केवलम्]** केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

मोक्ष का कारण और उसका लक्षण –

बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।। २।।

अर्थ – [बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां] बंध के कारणों (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग) का अभाव तथा निर्जरा के द्वारा **[कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः]** समस्त कर्मों का अत्यंत नाश हो जाना मोक्ष है।

कर्म तीन प्रकार के हैं-१. भावकर्म, २. द्रव्यकर्म ३. नोकर्म। भावकर्म जीव का विकार है और द्रव्यकर्म तथा नोकर्म जड़ हैं। भावकर्म का अभाव होने पर द्रव्यकर्म का अभाव होता है और द्रव्यकर्म का अभाव होने पर नोकर्म (शरीर) का अभाव होता है। यदि अस्ति की अपेक्षा से कहें तो जो जीव की सम्पूर्ण शुद्धता है वह मोक्ष है और यदि नास्ति की अपेक्षा से कहें तो जीव की सम्पूर्ण विकार से जो मुक्त दशा है वह

मोक्ष है। इस दशा में जीव कर्म तथा शरीर रहित होता है और इसका आकार अंतिम शरीर से कुछ न्यून पुरुषाकार होता है।

मुक्त जीव को कर्मों के अलावा और किसका अभाव होता है ?

औपशमिकादि भव्यत्वानां च।। ३।।

अर्थ - **[च]** और **[औपशमिकादि भव्यत्वानां]** औपशमिकादि भावों का तथा पारिणामिक भावों में से भव्यत्व भाव का मुक्त जीव को अभाव हो जाता है।

'औपशमिकादि' कहने से औपशमिक, औदयिक और क्षायोपशमिक ये तीन भाव समझना, क्षायिकभाव इसमें नहीं गिनना ।

जिन जीवों के सम्यग्दर्शनादि प्राप्त करने की योग्यता हो वे भव्य जीव कहलाते हैं। जब जीव के सम्यग्दर्शनादि पूर्ण रूप में प्रगट हो जाते हैं तब उस आत्मा में 'भव्यत्व' का व्यवहार मिट जाता है।

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः।। ४ ।।

अर्थ - **[केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः अन्यत्र]** केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व, इन भावों के अतिरिक्त अन्य भावों के अभाव से मोक्ष होता है।

मुक्त अवस्था में केवलज्ञानादि गुणों के साथ जिन गुणों का सहभावी सम्बंध है-ऐसे अनन्तवीर्य, अनन्तसुख, अनन्तदान, अनन्तलाभ, अनन्तभोग, अनन्त उपभोग इत्यादि गुण भी होते हैं।

मुक्त जीवों का स्थान -

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकांतात्।। ५ ।।

अर्थ - **[तदनन्तरम्]** तुरन्त ही **[ऊर्ध्वं आलोकांतात् गच्छते]** ऊर्ध्वगमन करके लोक के अग्रभाग तक जाता है।

मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन का कारण -

पूर्वप्रयोगादसंगत्त्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च।। ६।।

अर्थ - **[पूर्वप्रयोगात्]** १. पूर्वप्रयोग से **[असंगत्वात्]** २. संगरहित होने से **[बन्धच्छेदात्]** ३. बंध का नाश होने से **[तथा गतिपरिणामात् च]** और ४. तथा गतिपरिणाम अर्थात् ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन होता है।

नोट - पूर्व प्रयोग का अर्थ है पूर्व में किया हुआ पुरुषार्थ, प्रयत्न, उद्यम।

उपरोक्त सूत्र में कहे गये चारों कारणों के दृष्टांत -

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालांबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च।। ७ ।।

अर्थ - मुक्त जीव **[आविद्धकुलालचक्रवत्]** १. कुम्हार द्वारा घुमाये हुए चाक की तरह पूर्व प्रयोग से **[व्यपगतलेपालांबुवत्]** २. लेप दूर हो चुका है जिसका ऐसी तुम्बी की तरह संगरहित होने से, **[एरंडबीजवत्]** ३. एरंड के बीज की तरह बंधन रहित होने से **[च]** और **[अग्निशिखावत्]** ४. अग्नि की शिखा (लौ) की तरह ऊर्ध्वगमन स्वभाव से ऊर्ध्वगमन (ऊपर को गमन) करता है।

१. पूर्वप्रयोग का उदाहरण - जैसे कुम्हार चाक को घुमाकर हाथ रोक लेता है तथापि वह चाक पूर्व के वेग

से घूमता रहता है, उसी प्रकार जीव भी संसार–अवस्था में मोक्ष प्राप्ति के लिये बारम्बार अभ्यास (उद्यम, प्रयत्न, पुरुषार्थ) करता था, वह अभ्यास छूट जाता है तथापि पूर्व के अभ्यास के संस्कार से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

२. असंग का उदाहरण – जिस प्रकार तुम्बी को जब तक लेप का संयोग रहता है तब तक वह पानी में डूबी रहती है, किन्तु जब लेप (मिट्टी) गलकर दूर हो जाती है तब वह पानी के ऊपर आ जाती है, उसी प्रकार जब तक जीव संग सहित होता है तब तक संसार–समुद्र में डूबा रहता है और संगरहित होने पर ऊर्ध्वगमन कर लोक के अग्रभाग में चला जाता है।

३. बन्धछेद का उदाहरण – जैसे एरंड वृक्ष का सूखा फल–जब चटकता है तब वह बंधन से छूट जाने से उसका बीज ऊपर जाता है, उसी प्रकार जीव की पक्वदशा (मुक्त अवस्था) होने पर कर्मबंध के छेदपूर्वक वह मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

४. ऊर्ध्वगमन स्वभाव का उदाहरण – जिस प्रकार अग्नि की शिखा (लौ) का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है अर्थात् हवा के अभाव में जैसे अग्नि (दीपकादि) की लौ ऊपर को जाती है उसी प्रकार जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है, इसलिये मुक्त दशा होने पर जीव भी ऊर्ध्वगमन करता है।

लोकाग्र से आगे नहीं जाने पर व्यवहार कारण –

धर्मास्तिकायाभावात्।। ८ ।।

अर्थ – [धर्मास्तिकायाभावात्] आगे (अलोक में) धर्मास्तिकाय का अभाव है अतः मुक्त जीव लोक के अंत तक ही जाता है।

मुक्त जीवों में व्यवहारनय की अपेक्षा से भेद –

क्षेत्र काल गति लिंग तीर्थ चारित्र प्रत्येकबुद्धबोधित ज्ञानावगाहनान्तर संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः।। ९ ।।

अर्थ – [क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः] क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अंतर, संख्या और अल्पबहुत्व–इन बारह अनुयोगों से **[साध्याः]** मुक्त जीवों (सिद्धों) में भी भेद सिद्ध किये जा सकते हैं। (अर्थात् इन बारह भेदों के द्वारा सिद्धों की महिमा विशेषता को समझा जा सकता है।)

प्रश्नोत्तर

प्रश्न ०१ – चार घातिया कर्मों में सबसे पहले किस कर्म का क्षय होता है ?

उत्तर – चार घातिया कर्मों में सबसे पहले मोहनीय कर्म का क्षय होता है।

प्रश्न ०२ – किस कर्म के क्षय होने पर केवलज्ञान प्रगट होता है ?

उत्तर – मोहनीय कर्म के क्षय होने के बाद बारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरण, दर्शनावरण अंतराय कर्म का क्षय होने पर केवलज्ञान होता है।

प्रश्न ०३ – मुक्त जीव को किन–किन भावों का अभाव हो जाता है ?

उत्तर – सम्पूर्ण औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक भावों का तथा पारिणामिक भावों में से भव्यत्व

भाव का मुक्त जीव के अभाव हो जाता है।

प्रश्न ०४ - मुक्त अवस्था में जीव को कितने भावों का सद्भाव रहता है ?

उत्तर - मुक्त अवस्था में जीव के जीवत्व नामक पारिणामिक भाव और कर्मों के क्षय से प्रगट होने वाले आत्मिक भाव रहते हैं। शेष का अभाव हो जाता है। जिन गुणों का अनंत ज्ञानादि के साथ सम्बंध है ऐसे अनंत वीर्य, अनंत सुखादि गुण भी पाए जाते हैं।

प्रश्न ०५ - मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन क्यों करता है ?

उत्तर - पूर्व संस्कार से, संगरहित होने से, कर्म बंधन नष्ट होने से और तथागति परिणाम (ऊर्ध्वगमन का स्वभाव) होने से मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

प्रश्न ०६ - मुक्त जीव के ऊर्ध्वगमन करने के कारण को कुम्भकार के चाक की तरह क्यों कहा गया है दृष्टांत द्वारा समझाइये ?

उत्तर - मुक्त जीव, कुम्भकार के द्वारा घुमाए हुए चाक की तरह पूर्व प्रयोग से ऊर्ध्वगमन करता है। जैसे - कुम्भकार अपने चाक को घुमाकर छोड़ देता है, तब भी चाक पहले के भरे हुए वेग के वश से घूमता रहता है, उसी प्रकार जीव भी संसार अवस्था में मोक्ष प्राप्ति के लिये बार-बार अभ्यास करता रहता है। मुक्त होने पर यद्यपि उसका अभ्यास छूट जाता है फिर भी वह पहले के अभ्यास से ऊपर को गमन करता है।

प्रश्न ०७ - मुक्त जीव में संग का अभाव किस प्रकार होता है, उदाहरण द्वारा समझाइये ?

उत्तर - मुक्त जीव दूर हो गया है लेप जिसका ऐसी तुम्बी की तरह ऊपर को जाता है। जैसे - तुम्बी पर मिट्टी का लेप रहता है तब तक वह भारी होने से पानी में डूबी रहती है ज्यों ही उसका लेप हटता है वह पानी के ऊपर आ जाती है इसी प्रकार यह जीव जब तक कर्म लेप सहित होता है तब तक संसार में डूबा रहता है पर ज्यों ही उसका कर्म लेप दूर होता है वह ऊपर उठकर लोक के अग्रभाग में पहुँच जाता है।

प्रश्न ०८ - सिद्धशिला कहाँ स्थित है ?

उत्तर - सवार्थसिद्धि विमान के ध्वजदण्ड से बारह योजन ऊँची ईषत्प्राग्भार नाम की आठवीं पृथ्वी है। उसके बीच में पैंतालीस लाख योजन के विस्तार में सिद्ध शिला है जिस पर अनन्त सिद्ध भगवान विराजमान हैं।

प्रश्न ०९ - मुक्त जीवों में परस्पर भेद का कारण काल और गति क्यों लिया है ?

उत्तर - कोई उत्सर्पिणी काल में सिद्ध हुए, कोई अवसर्पिणी काल में, कोई मनुष्य गति से सिद्ध हुए, कोई देव या नरकगति से मनुष्य होकर सिद्ध हुए इसलिए काल और गति को लिया गया है।

प्रश्न १० - मुक्त जीव में किन कारणों से भेद कर सकते हैं ?

उत्तर - क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अंतर, संख्या और अल्प बहुत्व इन बारह अनुयोगों की अपेक्षा सिद्ध जीव (मुक्त जीव) में भेद कर सकते हैं।

प्रश्न ११ - सिद्ध जीवों का अवगाहन कितना होता है ?

उत्तर - उत्कृष्ट अवगाहन सवा पाँच सौ धनुष और जघन्य अवगाहन तीन हाथ ऊँचा होता है।

अध्याय ४

श्री जैन सिद्धांत प्रवेशिका :
पं. श्री गोपालदास जी वरैया

अ. जीव की खोज
(पाँच भाव, लेश्या आदि विवेचन)

ब. मुक्ति के सोपान
(चौदह गुणस्थान वर्णन)

स. अधिगम के उपाय
(लक्षण, प्रमाण, नय, निक्षेप)
चिंतन का विषय – निक्षेप

(अ) जीव की खोज - पाँच भाव, लेश्या आदि विवेचन

तृतीय अध्याय

जीव की खोज

मार्गणा हो जीव की, जो खोजें निज जीव ।
लोकत्रय त्रयकाल में, अनुभव करो सदीव ।।

३.१ जीव के असाधारण पाँच भाव

प्रश्न ३४२ - जीव के असाधारण भाव कितने हैं ?

उत्तर - जीव के असाधारण भाव पाँच हैं - औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भाव।

प्रश्न ३४३ - औपशमिक भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो भाव किसी कर्म के उपशम के निमित्त से उत्पन्न होता है, उसे औपशमिक भाव कहते हैं।

प्रश्न ३४४ - क्षायिक भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो भाव किसी कर्म के क्षय के निमित्त से उत्पन्न होता है, उसे क्षायिक भाव कहते हैं।

प्रश्न ३४५ - क्षायोपशमिक भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो भाव कर्मों के क्षयोपशम के निमित्त से उत्पन्न होता है, उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

प्रश्न ३४६ - औदयिक भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो भाव कर्मों के उदय के निमित्त से उत्पन्न होता है, उसे औदयिकभाव कहते हैं।

प्रश्न ३४७ - पारिणामिक भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो भाव कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय की अपेक्षा नहीं रखता है और जो जीव का स्वभाव मात्र होता है, उसे पारिणामिक भाव कहते हैं।

प्रश्न ३४८ - औपशमिक भाव के कितने भेद हैं ?

उत्तर - औपशमिक भाव के दो भेद हैं- सम्यक्त्व और चारित्र।

प्रश्न ३४९ - क्षायिक भाव के कितने भेद हैं ?

उत्तर - क्षायिक भाव के नौ भेद हैं - क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र, क्षायिकदर्शन, क्षायिकज्ञान, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग और क्षायिकवीर्य।

प्रश्न ३५० - क्षायोपशमिक भाव के कितने भेद हैं ?

उत्तर - क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद हैं - क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र (सकल संयम), देशसंयम (संयमासंयम), चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान, क्षायोपशमिक दान, क्षायोपशमिक लाभ, क्षायोपशमिक भोग, क्षायोपशमिक उपभोग और क्षायोपशमिक वीर्य।

प्रश्न ३५१ - औदयिक भाव के कितने भेद हैं ?

उत्तर - औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं - चार गति, चार कषाय, तीन लिङ्ग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान,

असंयम, असिद्धत्व और छह लेश्या – कृष्ण, नील, कापोत, पीत पद्म और शुक्ल।

प्रश्न ३५२ – पारिणामिक भाव के कितने भेद हैं ?

उत्तर – पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं – जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व।

३.२ लेश्या और उसके भेद

प्रश्न ३५३ – लेश्या किसे कहते हैं ?

उत्तर – कषाय से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति को भाव लेश्या कहते हैं और शरीर के कृष्ण, नील, कापोत तथा पीत, पद्म, शुक्ल वर्णों को द्रव्यलेश्या कहते हैं।

३.३ उपयोग और उसके भेद

प्रश्न ३५४ – उपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर – जीव के लक्षणरूप चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं।

प्रश्न ३५५ – उपयोग के कितने भेद हैं ?

उत्तर – उपयोग के दो भेद हैं – दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग।

प्रश्न ३५६ – दर्शनोपयोग के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दर्शनोपयोग के चार भेद हैं – चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

प्रश्न ३५७ – ज्ञानोपयोग के कितने भेद हैं ?

उत्तर – ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, केवलज्ञान, कुमति ज्ञान, कुश्रुत ज्ञान और कुअवधि ज्ञान।

३.४ संज्ञा और उसके भेद

प्रश्न ३५८ – संज्ञा किसे कहते हैं ?

उत्तर – अभिलाषा या वाञ्छा को संज्ञा कहते हैं।

प्रश्न ३५९ – संज्ञा के कितने भेद हैं ?

उत्तर – संज्ञा के चार भेद हैं–आहार, भय, मैथुन और परिग्रह।

३.५ मार्गणा और उसके भेद

प्रश्न ३६० – मार्गणा किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिन–जिन धर्म–विशेषों से जीवों का अन्वेषण (खोज) किया जाए, उन–उन धर्म–विशेषों को मार्गणा कहते हैं।

प्रश्न ३६१ – मार्गणा के कितने भेद हैं ?

उत्तर – मार्गणा के चौदह भेद हैं – गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारकमार्गणा।

३.६ गतिमार्गणा और उसके भेद

प्रश्न ३६२ – गति किसे कहते हैं ?

उत्तर – गति नामकर्म के उदय से जीव की पर्याय विशेष को गति कहते हैं।

प्रश्न ३६३ – गति के कितने भेद हैं ?

उत्तर – गति के चार भेद हैं– नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति।

३.७ इन्द्रियमार्गणा और उसके भेद-प्रभेद

प्रश्न ३६४ – इन्द्रिय किसे कहते हैं ?

उत्तर – आत्मा के लिङ्ग (चिह्न) को इन्द्रिय कहते हैं।

प्रश्न ३६५ – इन्द्रिय के कितने भेद हैं ?

उत्तर – इन्द्रिय के दो भेद हैं – द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय।

प्रश्न ३६६ – द्रव्येन्द्रिय किसे कहते हैं ?

उत्तर – निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

प्रश्न ३६७ – निर्वृत्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर – प्रदेशों की विशेष रचना को निर्वृत्ति कहते हैं।

प्रश्न ३६८ – निर्वृत्ति के कितने भेद हैं ?

उत्तर – निर्वृत्ति के दो भेद हैं–बाह्य निर्वृत्ति और आभ्यंतर निर्वृत्ति।

प्रश्न ३६९ – बाह्य निर्वृत्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर – इन्द्रियों के आकार रूप पुद्गल की विशेष रचना को बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं।

प्रश्न ३७० – आभ्यंतर निर्वृत्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर – आत्मा के प्रदेशों की इन्द्रियाकार विशेष रचना को आभ्यंतर निर्वृत्ति कहते हैं।

प्रश्न ३७१ – उपकरण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो निर्वृत्ति का उपकार (रक्षा) करता है, उसे उपकरण कहते हैं।

प्रश्न ३७२ – उपकरण के कितने भेद हैं ?

उत्तर – उपकरण के भेद हैं – आभ्यंतर उपकरण और बाह्य उपकरण।

प्रश्न ३७३ – आभ्यंतर उपकरण किसे कहते हैं ?

उत्तर – नेत्र–इन्द्रिय में कृष्ण–शुक्ल मण्डल की तरह, सभी इन्द्रियों में जो निर्वृत्ति का उपकार करता है, उसे आभ्यंतर उपकरण कहते हैं।

प्रश्न ३७४ – बाह्य उपकरण किसे कहते हैं ?

उत्तर – नेत्र–इन्द्रिय में पलक वगैरह की तरह, जो निर्वृत्ति का उपकार करता है, उसे बाह्य उपकरण कहते हैं।

प्रश्न ३७५ – भावेन्द्रिय किसे कहते हैं ?

उत्तर – लब्धि और उपयोग को भावेन्द्रिय कहते हैं।

प्रश्न ३७६ – लब्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर – ज्ञानावरणकर्म के विशेष क्षयोपशम को लब्धि कहते हैं।

प्रश्न ३७७ – उपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर – ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम होने पर द्रव्येन्द्रिय के निमित्त से उद्यमशील आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं।

प्रश्न ३७८ – द्रव्येन्द्रिय के कितने भेद हैं ?

उत्तर – द्रव्येन्द्रिय के पाँच भेद हैं – स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय।

प्रश्न ३७९ – स्पर्शनेन्द्रिय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस इन्द्रिय के द्वारा आठ प्रकार के स्पर्श का ज्ञान होता है, उसे स्पर्शनेन्द्रिय कहते हैं।

प्रश्न ३८० – रसनेन्द्रिय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस इन्द्रिय के द्वारा पाँच प्रकार के रस (स्वाद) का ज्ञान होता है, उसे रसनेन्द्रिय कहते हैं।

प्रश्न ३८१ – घ्राणेन्द्रिय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस इन्द्रिय के द्वारा दो प्रकार के गन्ध का ज्ञान होता है, उसे घ्राणेन्द्रिय कहते हैं।

प्रश्न ३८२ – चक्षुरिन्द्रिय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस इन्द्रिय के द्वारा पाँच प्रकार के वर्ण (रंग) का ज्ञान होता है, उसे चक्षुरिन्द्रिय कहते हैं।

प्रश्न ३८३ – कर्णेन्द्रिय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस इन्द्रिय के द्वारा सात प्रकार के स्वरों का तथा भाषा का ज्ञान होता है, उसे कर्णेन्द्रिय कहते हैं।

प्रश्न ३८४ – किन-किन जीवों की कौन-कौन सी इन्द्रियाँ होती हैं ?

उत्तर – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति–इन पाँच स्थावरकाय जीवों की एक स्पर्शन–इन्द्रिय ही होती है। कृमि आदि त्रसकाय जीवों की स्पर्शन और रसना–ये दो इन्द्रियाँ होती हैं। पिपीलिका (चींटी) आदि त्रसकाय जीवों की स्पर्शन, रसना और घ्राण–ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। भ्रमर, मक्षिका आदि त्रसकाय, जीवों को श्रोत्र (कर्ण) के बिना शेष चार इन्द्रियाँ होती हैं। घोड़े आदि पशु, मनुष्य, देव और नारकी त्रसकाय जीवों की पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं।

३.८ कायमार्गणा और उसके भेद-प्रभेद

प्रश्न ३८५ – काय किसे कहते हैं ?

उत्तर – त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से पुद्‌गलों के प्रदेश-प्रचय को काय कहते हैं।

प्रश्न ३८६ – त्रस किसे कहते हैं ?

उत्तर – त्रस नामकर्म के उदय से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियों में जन्म लेने वाले जीवों को त्रस कहते हैं।

प्रश्न ३८७ – स्थावर किसे कहते हैं ?

उत्तर – स्थावर नामकर्म के उदय से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में जन्म लेने वाले जीवों को स्थावर कहते हैं।

प्रश्न ३८८ – बादर किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो स्वयं अन्य स्थूल पदार्थों से रुकता है और अन्य स्थूल पदार्थों को रोकता है, उसे बादर कहते हैं।

प्रश्न ३८९ – सूक्ष्म किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो स्वयं अन्य पदार्थों से नहीं रुकता है और अन्य पदार्थों को नहीं रोकता है, उसे सूक्ष्म कहते हैं।

प्रश्न ३९० – वनस्पति के कितने भेद हैं ?

उत्तर – वनस्पति के दो भेद हैं – प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति।

प्रश्न ३९१ – प्रत्येक वनस्पति किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस वनस्पति का स्वामी एक ही जीव होता है, उसे प्रत्येक वनस्पति कहते हैं।

प्रश्न ३९२ – साधारण वनस्पति किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिन जीवों के आहार, आयु, श्वासोच्छ्वास और काय – ये साधारण (समान अथवा एक) होते हैं, उन्हें साधारण वनस्पति कहते हैं। जैसे – कन्दमूल आदि।

प्रश्न ३९३ – प्रत्येक वनस्पति के कितने भेद हैं ?

उत्तर – प्रत्येक वनस्पति के दो भेद हैं – सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक।

प्रश्न ३९४ – सप्रतिष्ठित प्रत्येक किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस प्रत्येक वनस्पति के आश्रय से अनेक साधारण वनस्पति शरीर होते हैं, उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

प्रश्न ३९५ – अप्रतिष्ठित प्रत्येक किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस प्रत्येक वनस्पति के आश्रय से कोई भी साधारण वनस्पति नहीं होती, उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

प्रश्न ३९६ – साधारण वनस्पति, सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति के आश्रय में ही होती है या और कहीं भी होती है ?

उत्तर – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, केवली भगवान, आहारक शरीर, देव और नारकी – इन आठ के अतिरिक्त सब संसारी जीवों के शरीर, साधारण वनस्पति अर्थात् निगोद के आश्रयभूत होते हैं।

प्रश्न ३९७ – साधारण वनस्पति (निगोद) के कितने भेद हैं ?

उत्तर – साधारण वनस्पति (निगोद) के दो भेद हैं – नित्य निगोद और इतर निगोद।

प्रश्न ३९८ – नित्य निगोद किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस जीव ने कभी भी निगोद के अलावा दूसरी पर्याय नहीं पायी है अर्थात् जो अनादि से अब तक निगोद पर्याय में ही रहा है, उसे नित्य निगोद कहते हैं।

प्रश्न ३९९ – इतर निगोद किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो जीव निगोद से निकलकर दूसरी पर्याय पाकर फिर निगोद में उत्पन्न होते हैं, उसे इतर निगोद कहते हैं।

प्रश्न ४०० - कौन-कौन से जीव बादर और सूक्ष्म हैं ?

उत्तर - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद और इतरनिगोद ये छह बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकार के होते हैं। शेष सभी जीव बादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं होते।

३.९ योगमार्गणा और उसके भेद

प्रश्न ४०१ - योग किसे कहते हैं ?

उत्तर - पुद्गल-विपाकी शरीर नामकर्म और अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा, वचनवर्गणा तथा कायवर्गणा के अवलम्बन से कर्म-नोकर्म को ग्रहण करने हेतु जीव की विशेष शक्ति को भावयोग कहते हैं तथा इस भावयोग के निमित्त से आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन (चञ्चल होने) को द्रव्ययोग कहते हैं।

प्रश्न ४०२ - योग के कितने भेद हैं ?

उत्तर - योग के पन्द्रह भेद हैं-चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग।

३.१० वेदमार्गणा और उसके भेद

प्रश्न ४०३ - वेद किसे कहते हैं ?

उत्तर - नोकषाय के उदय से उत्पन्न हुई जीव की मैथुन करने की अभिलाषा को भाववेद कहते हैं और जीव के नामकर्म के उदय से आविर्भूत शरीर के विशेष चिह्न को द्रव्यवेद कहते हैं।

प्रश्न ४०४ - वेद के कितने भेद हैं ?

उत्तर - वेद के तीन भेद हैं - स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

३.११ कषायमार्गणा और उसके भेद

प्रश्न ४०५ - कषाय किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो आत्मा के सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र और यथाख्यातचारित्ररूप परिणामों को घातती हैं, उन्हें कषाय कहते हैं।

सामान्यत: जो आत्मा को कषती है अर्थात् दु:ख देती है, हिंसा करती है, उसे कषाय कहते हैं। यहाँ विशेष रूप से कषाय के अनंतानुबंधी आदि चार भेदों की अपेक्षा यह लक्षण बताया गया है।

(- तत्वार्थवार्तिक २/६)

प्रश्न ४०६ - कषाय के कितने भेद हैं ?

उत्तर - कषाय के सोलह भेद हैं - चार अनंतानुबंधी, चार अप्रत्याख्यानावरणीय, चार प्रत्याख्यानावरणीय और चार संज्वलन।

३.१२ ज्ञानमार्गणा और उसके भेद

प्रश्न ४०७ - ज्ञानमार्गणा के कितने भेद हैं ?

उत्तर - ज्ञानमार्गणा के आठ भेद हैं - मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधिज्ञान।

३.१३ संयममार्गणा और उसके भेद

प्रश्न ४०८ – संयम किसे कहते हैं ?

उत्तर – अहिंसा आदि पाँचों व्रतों के धारण करने, ईर्या आदि पाँच समितियों के पालन करने, क्रोध आदि कषायों के निग्रह करने, मनोयोग आदि तीन योगों के रोकने, स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने को संयम कहते हैं।

प्रश्न ४०९ – संयममार्गणा के कितने भेद हैं ?

उत्तर – संयममार्गणा के सात भेद हैं – सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात, संयमासंयम और असंयम।

३.१४ दर्शनमार्गणा और उसके भेद

प्रश्न ४१० – दर्शनमार्गणा के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दर्शनमार्गणा के चार भेद हैं – चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

(प्रश्न – ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिससे स्व-पर पदार्थों का विशेष प्रतिभास होता है, उसे ज्ञान कहते हैं। (प्रश्न क्र. ८२ भी देखें)

प्रश्न – दर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिससे स्व-पर पदार्थों का सामान्य प्रतिभास होता है, उसे दर्शन कहते हैं।) (प्रश्न क्र. ८३ देखें)

३.१५ लेश्यामार्गणा और उसके भेद

प्रश्न ४११ – लेश्यामार्गणा के कितने भेद हैं ?

उत्तर – लेश्यामार्गणा के छह भेद हैं – कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल।

३.१६ भव्यमार्गणा और उसके भेद

प्रश्न ४१२ – भव्यमार्गणा के कितने भेद हैं ?

उत्तर – भव्यमार्गणा के दो भेद हैं – भव्य और अभव्य।

३.१७ सम्यक्त्वमार्गणा और उसके भेद

प्रश्न ४१३ – सम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर – तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं।

प्रश्न ४१४ – सम्यक्त्वमार्गणा के कितने भेद हैं ?

उत्तर – सम्यक्त्वमार्गणा के छह भेद हैं – उपशमसम्यक्त्व, क्षयोपशमसम्यक्त्व, क्षायिकसम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सासादन और मिथ्यात्व।

३.१८ संज्ञीमार्गणा और उसके भेद

प्रश्न ४१५ – संज्ञी किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस जीव में संज्ञा होती है, उसे संज्ञी कहते हैं।

प्रश्न ४१६ – संज्ञा किसे कहते हैं ?

उत्तर – द्रव्यमन के निमित्त से शिक्षा आदि ग्रहण करने की बुद्धि को संज्ञा कहते हैं।

(१. प्रश्न क्र. ३५३ देखें। २. प्रश्न क्र. ११९ देखें।)

प्रश्न ४१७ – संज्ञी मार्गणा के कितने भेद हैं ?

उत्तर – संज्ञीमार्गणा के दो भेद हैं – संज्ञी और असंज्ञी।

३.१९ आहारकमार्गणा और उसके भेद

प्रश्न ४१८ – आहारक किसे कहते हैं ?

उत्तर – औदारिक आदि शरीरों और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्‌गलों के ग्रहण करने को आहारक कहते हैं।

प्रश्न ४१९ – आहारकमार्गणा के कितने भेद हैं ?

उत्तर – आहारकमार्गणा के दो भेद हैं – आहारक और अनाहारक।

प्रश्न ४२० – कौन-कौन से जीव अनाहारक होते हैं ?

उत्तर – विग्रहगति, केवली समुद्‌घात, अयोग केवली और सिद्ध अवस्था में जीव अनाहारक होता है।

३.२० विग्रहगति और उसके भेद

प्रश्न ४२१ – विग्रहगति किसे कहते हैं ?

उत्तर – एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर के प्रति जीव के गमन करने को विग्रहगति कहते हैं।

प्रश्न ४२२ – विग्रहगति में कौनसा योग होता है ?

उत्तर – विग्रहगति में कार्मण काययोग होता है।

प्रश्न ४२३ – विग्रहगति के कितने भेद हैं ?

उत्तर – विग्रहगति के चार भेद हैं – १.ऋजुगति, २. पाणिमुक्तागति, ३. लाङ्गलिकागति और ४. गोमूत्रिकागति।

प्रश्न ४२४ – इन विग्रहगतियों में जीव को कितना-कितना काल लगता है ?

उत्तर – १. ऋजुगति में एक समय २. पाणिमुक्तागति अर्थात् एक मोड़े वाली गति में दो समय, ३. लाङ्गलिकागति अर्थात् दो मोड़े वाली गति में तीन समय और ४. गोमूत्रिकागति अर्थात् तीन मोड़े वाली गति में चार समय लगते हैं।

प्रश्न ४२५ – चार प्रकार की विग्रहगति में अनाहारक अवस्था कितने समय तक रहती है ?

उत्तर – संसारी जीव ऋजुगति में अनाहारक नहीं होता, पाणिमुक्तागति में एक समय, लाङ्गलिकागति में दो समय और गोमूत्रिकागति में तीन समय तक अनाहारक रहता है।

प्रश्न ४२६ – मोक्ष जाने वाले जीव की कौनसी गति होती है ?

उत्तर – मोक्ष जाने वाले जीव की ऋजुगति होती है, परन्तु वह जीव अनाहारक ही होता है।

३.२१ जन्म और उसके भेद

प्रश्न ४२७ – जन्म कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर – जन्म तीन प्रकार का होता है – उपपाद जन्म, गर्भजन्म और सम्मूर्च्छन जन्म।

प्रश्न ४२८ – उपपाद जन्म किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो जीव देवों के उपपाद शय्या तथा नारकियों के योनिस्थान में पहुंचते ही अन्तर्मुहूर्त में

युवावस्था को प्राप्त हो जाते हैं, उनके जन्म को उपपादजन्म कहते हैं।

प्रश्न ४२९ - गर्भ जन्म किसे कहते हैं ?

उत्तर - माता-पिता के रज-वीर्य के मेल से जिनका शरीर बनता है, उनके जन्म को गर्भ जन्म कहते हैं।

(प्रश्न १. जन्म किसे कहते हैं ?

उत्तर - जब कोई जीव एक गति छोड़कर दूसरी गति में जाता है तो दूसरी गति में जाकर यथायोग्य शरीर धारण करने को जन्म कहते हैं।) (-तत्त्वार्थवार्तिक ४/४२)

प्रश्न ४३० - सम्मूर्छन जन्म किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो जीव माता-पिता की अपेक्षा के बिना इधर-उधर के परमाणुओं को शरीर रूप परिणमाता है, उनके जन्म को सम्मूर्च्छन जन्म कहते हैं।

प्रश्न ४३१ - किन-किन जीवों का कौन-कौन सा जन्म होता है ?

उत्तर - देव-नारकियों का उपपाद जन्म, जरायुज, अण्डज, पोत जीवों का गर्भ जन्म और शेष जीवों का सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है। जो योनि से निकलते ही भागने-दौड़ने लग जाते हैं और जिनके ऊपर जेर या झिल्ली आदि नहीं होती है, उन्हें पोत कहते हैं।

३.२२ लिङ्ग और उसके भेद

प्रश्न ४३२ - कौन-कौन से जीवों का कौन-कौनसा लिङ्ग होता है ?

उत्तर - नारकी और सम्मूर्च्छन जीवों के नपुंसकलिङ्ग होता है, देवों के पुलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग होते हैं तथा शेष जीवों के तीनों लिङ्ग होते हैं।

(प्रश्न - लिङ्ग किसे कहते हैं ?

उत्तर - सामान्यतया बाह्य चिह्न को लिङ्ग कहते हैं।) (प्रश्न क्र.४०३-४०४ देखें)

३.२३ जीवसमास और भेद-प्रभेद

प्रश्न ४३३ - जीव समास किसे कहते हैं ?

उत्तर - जीवों के रहने के स्थानों को जीवसमास कहते हैं।

(अनंतानंत संसारी जीव और उनके भेद-प्रभेदों का जिस विधि से संग्रह किया जाता है अथवा जहाँ जीव अच्छी तरह से रहते हैं, उन्हें जीवसमास कहते हैं।) (-धवला १/१, १८/१६०)

प्रश्न ४३४ - जीव समास के कितने भेद हैं ?

उत्तर - एक अपेक्षा से जीवसमास के ९८ भेद हैं - तिर्यञ्चों के ८५, मनुष्यों के ९, नारकियों के २ और देवों के २।

प्रश्न ४३५ - तिर्यञ्चों के ८५ जीवसमास या भेद कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - सम्मूर्च्छन जन्म वालों के ६९ और गर्भ जन्म वालों के १६-इस प्रकार तिर्यञ्चों के ८५ जीवसमास या भेद हैं।

प्रश्न ४३६ - सम्मूर्च्छन जन्म वाले तिर्यञ्चों के ६९ जीवसमास या भेद कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - एकेन्द्रिय के ४२, विकलत्रय के ९ और सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय के १८ - इस प्रकार सम्मूर्च्छन जन्म वाले तिर्यञ्चों के ६९ जीवसमास या भेद हैं।

प्रश्न ४३७ – एकेन्द्रिय के ४२ जीवसमास या भेद कौन-कौन से हैं ?

उत्तर – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद और इतरनिगोद इन छह भेदों के बादर और सूक्ष्म की अपेक्षा से १२ तथा सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक को मिलाने से १४ भेद हैं – इन चौदहों के पर्याप्तक, निर्वृत्त्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक – इन तीनों की अपेक्षा से ४२ जीवसमास या भेद एकेन्द्रिय के होते हैं।

प्रश्न ४३८ – विकलत्रय के ९ जीवसमास या भेद कौन-कौन से हैं ?

उत्तर – द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक की अपेक्षा से ९ जीवसमास या भेद होते हैं।

प्रश्न ४३९ – सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के १८ जीवसमास या भेद कौन-कौन से हैं ?

उत्तर – जलचर, थलचर और नभचर–इन तीनों पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के सैनी और असैनी की अपेक्षा से छह भेद होते हैं और इन छह भेदों के पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक की अपेक्षा से १८ जीवसमास या भेद सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के होते हैं।

प्रश्न ४४० – गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के १६ जीवसमास या भेद कौन-कौन से हैं ?

उत्तर – गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में कर्मभूमि के बारह और भोगभूमि के चार–इस प्रकार कुल १६ जीवसमास या भेद हैं।

प्रश्न ४४१ – गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में कर्मभूमि के १२ जीवसमास या भेद कौन-कौन से हैं ?

उत्तर – जलचर, थलचर और नभचर–इन तीनों सैनी और असैनी के भेद से छह भेद होते हैं और इनके पर्याप्तक और निर्वृत्त्यपर्याप्तक की अपेक्षा १२ जीवसमास या भेद गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के होते हैं।

प्रश्न ४४२ – गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में भोगभूमि के ४ जीवसमास या भेद कौन-कौन से हैं ?

उत्तर – थलचर और नभचर–इनके पर्याप्तक और निर्वृत्त्यपर्याप्तक की अपेक्षा ४ जीवसमास या भेद गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में भोगभूमि के होते हैं। भोगभूमि में असैनी तिर्यञ्च नहीं होते।

प्रश्न ४४३ – मनुष्यों के ९ जीवसमास या भेद कौन-कौन से हैं ?

उत्तर – आर्यखण्ड, म्लेच्छखण्ड, भोगभूमि और कुभोगभूमि इन चारों गर्भज मनुष्यों के पर्याप्तक और निर्वृत्त्यपर्याप्तक की अपेक्षा आठ जीवसमास या भेद होते हैं, इनमें आर्यखण्ड के सम्मूर्च्छन मनुष्यों का लब्ध्यपर्याप्तक भेद मिलाने से कुल ९ जीवसमास या भेद मनुष्यों के होते हैं।

प्रश्न ४४४ – नारकियों के २ जीवसमास या भेद कौन-कौन से हैं ?

उत्तर – नारकियों के पर्याप्तक और निर्वृत्त्यपर्याप्तक – ये २ जीवसमास या भेद होते हैं।

प्रश्न ४४५ – देवों के २ जीवसमास या भेद कौन-कौन से हैं ?

उत्तर – देवों के पर्याप्तक और निर्वृत्त्यपर्याप्तक –ये २ जीवसमास या भेद होते हैं।

प्रश्न ४४६ – देवों के विशेष भेद कितने हैं ?

उत्तर – देवों के विशेष चार भेद हैं – भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक।

प्रश्न ४४७ - भवनवासी देवों के कितने भेद हैं ?

उत्तर - भवनवासी देवों के दस भेद हैं–असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार।

प्रश्न ४४८ - व्यन्तर देवों के कितने भेद हैं ?

उत्तर - व्यंतर देवों के आठ भेद हैं–किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।

प्रश्न ४४९ - ज्योतिषी देवों के कितने भेद हैं ?

उत्तर - ज्योतिषी देवों के पाँच भेद हैं – सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारे।

प्रश्न ४५० - वैमानिक देवों के कितने भेद हैं ?

उत्तर - वैमानिक देवों के दो भेद हैं – कल्पोपपन्न देव और कल्पातीत देव।

प्रश्न ४५१ - कल्पोपपन्न देव किसे कहते हैं ?

उत्तर - जहाँ इन्द्र आदि की कल्पना होती है, उसे कल्प कहते हैं और जो कल्प में उत्पन्न होते हैं, उन्हें कल्पोपपन्न देव कहते हैं।

प्रश्न ४५२ - कल्पातीत देव किन्हें कहते हैं ?

उत्तर - जहाँ इन्द्र आदि की कल्पना नहीं होती अथवा जो कल्प से परे हैं, उन्हें कल्पातीत देव कहते हैं।

प्रश्न ४५३ - कल्पोपपन्न देवों के कितने भेद हैं ?

उत्तर - कल्पोपपन्न देवों के स्वर्गों की अपेक्षा १६ (आठ जोड़ियाँ) भेद हैं – सौधर्म – ऐशान, सानत्कुमार – माहेन्द्र, ब्रह्म – ब्रह्मोत्तर, लान्तव – कापिष्ठ, शुक्र – महाशुक्र, शतार – सहस्रार, आनत – प्राणत, आरण और अच्युत।

(इन्द्रों की अपेक्षा वैमानिक देवों के १२ भेद हैं, क्योंकि १६ स्वर्गों में से ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र–महाशुक्र और सतार–सहस्रार स्वर्ग के जोड़ों में एक–एक इन्द्र ही होते हैं।)

प्रश्न ४५४ - कल्पातीत देवों के कितने भेद हैं ?

उत्तर - कल्पातीत देवों के २३ भेद हैं – ९ ग्रैवेयक, ९ अनुदिश और ५ अनुत्तर (विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सवार्थसिद्धि)।

(इनमें इन्द्र आदि की कल्पना नहीं होने से सभी देव अहमिन्द्र होते हैं।)

प्रश्न ४५५ - नारकियों के विशेष भेद कितने हैं ?

उत्तर - अधोलोक में पृथ्वियों की अपेक्षा नारकियों के ७ भेद हैं।

प्रश्न ४५६ - अधोलोक की सात पृथ्वियों के नाम क्या-क्या हैं ?

उत्तर - अधोलोक की सात पृथ्वियों के नाम निम्न हैं– रत्नप्रभा, (धम्मा), शर्कराप्रभा (वंशा), बालुकाप्रभा (मेघा), पंकप्रभा (अञ्जना), धूमप्रभा (अरिष्टा), तम:प्रभा (मघवी) और महातम:प्रभा (माघवी)।

(मेरुतल के नीचे का क्षेत्र अधोलोक है। यह वेत्रासन के आकार वाला है। यह सात राजू ऊँचा और सात राजू मोटा है तथा नीचे सात राजू व ऊपर एक राजू प्रमाण चौड़ा है। अधोलोक में नीचे–नीचे सात पृथ्वियाँ हैं, जो

लगभग एक राजू अंतराल से स्थित हैं। प्रत्येक पृथ्वी में क्रमशः १३, ११, ९, ७, ५, ३, १ पटल हैं। ये पटल १००० योजन अंतराल से अवस्थित हैं। कुल पटल ४९ हैं। प्रत्येक भूमि क्रमशः घनाम्बुवातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय और आकाश के आधार पर उत्तरोत्तर प्रतिष्ठित है।

प्रथम रत्नप्रभा नामक पृथ्वी के तीन भाग हैं – खरभाग, पङ्कभाग और अब्बहुलभाग। प्रथम खरभाग, चित्रा, लोहिताङ्क आदि १६ प्रस्तरों में विभक्त है। प्रत्येक प्रस्तर १००० योजन मोटा है। चित्रा नामक प्रथम प्रस्तर अनेक रत्नों और धातुओं की खान है, अतः इस सम्पूर्ण पृथ्वी का नाम रत्नप्रभा है। खर और पङ्क भाग में भवनवासी देवों तथा व्यंतर देवों के भवन हैं। व्यंतर देवों के निवास सम्पूर्ण मध्यलोक में भी पुर, भवन, आवास के रूप में फैले हुए हैं। सातों पृथ्वियों के नीचे अंत में एक राजू प्रमाण क्षेत्र में कलकलपृथ्वी है, जहाँ नित्य निगोदिया जीव रहते हैं।

इन सात भूमियों के पटलों में क्रमशः तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच नरक या बिल हैं अर्थात् कुल नरकों की संख्या ८४ लाख है। प्रत्येक पटल का मध्यवर्ती बिल इन्द्रक कहलाता है। इसकी चारों दिशाओं व विदिशाओं में एक श्रेणी में अवस्थित बिल श्रेणीबद्ध कहलाते हैं और इनके बीच में रत्नराशिवत् बिखरे हुए बिल प्रकीर्णक कहलाते हैं।

इन बिलों में नारकी जीव रहते हैं। इनमें रहने वाले नारकी क्रमशः निरंतर अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया वाले हैं। परस्पर एक–दूसरे को दुःख उत्पन्न करते हैं तथा तीसरी भूमि के अंत तक संक्लेश परिणाम वाले असुरकुमार जाति के देवों के द्वारा भी उनमें दुःख उत्पन्न किये जाते हैं। नारकियों की उत्कृष्ट आयु क्रमशः एक, तीन, सात, दश, सत्रह, बाईस और तैंतीस सागर है, जबकि उनकी जघन्य आयु क्रमशः दस हजार वर्ष तथा एक, तीन, सात, दश, सत्रह और बाईस सागर हैं।)

(–तत्त्वार्थ सूत्र, तृतीय अध्याय, सूत्र १–६)

प्रश्न ४५७ – सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों के रहने का स्थान कहाँ हैं ?

उत्तर – सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों के रहने का स्थान सर्व लोक है।

प्रश्न ४५८ – बादर एकेन्द्रिय जीव कहाँ रहते हैं ?

उत्तर – बादर एकेन्द्रिय जीव किसी भी आधार का निमित्त पाकर निवास करते हैं।

प्रश्न ४५९ – त्रस जीव कहाँ रहते हैं ?

उत्तर – त्रस जीव त्रस नाली में ही रहते हैं।

प्रश्न ४६० – विकलत्रय जीव कहाँ रहते हैं ?

उत्तर – विकलत्रय जीव कर्मभूमियों में और अन्तिम आधे द्वीप तथा सम्पूर्ण स्वयंभूरमण समुद्र में रहते हैं।

प्रश्न ४६१ – पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च कहाँ–कहाँ रहते हैं ?

उत्तर – पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च मध्यलोक में रहते हैं, परन्तु जलचर तिर्यञ्च लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र और स्वयंभूरमण समुद्र के अलावा अन्य समुद्रों में नहीं हैं।

प्रश्न ४६२ – नारकी जीव कहाँ रहते हैं ?

उत्तर – नारकी जीव अधोलोक की सात पृथ्वियों के (८४ लाख) नरक–बिलों में रहते हैं।

प्रश्न ४६३ – भवनवासी और व्यंतर देव कहाँ रहते हैं ?

उत्तर – भवनवासी और व्यंतर देव अधोलोक की पहली रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग और पङ्कभाग में

तथा मध्यलोक में सर्वत्र रहते हैं।

प्रश्न ४६४ - ज्योतिषी देव कहाँ रहते हैं ?

उत्तर - पृथ्वी से सात सौ नब्बे (७९०) योजन की ऊँचाई से लगाकर नौ सौ (९००) योजन की ऊँचाई तक अर्थात् एक सौ दश (११०) योजन आकाश में एक राजू प्रमाण संपूर्ण मध्यलोक में ज्योतिषी देव निवास करते हैं।

प्रश्न ४६५ - वैमानिक देव कहाँ रहते हैं ?

उत्तर - वैमानिक देव ऊर्ध्वलोक में रहते हैं।

प्रश्न ४६६ - मनुष्य कहाँ रहते हैं ?

उत्तर - मनुष्य, मनुष्यलोक (अढ़ाई द्वीप) में रहते हैं।

३.२४ लोक और उसके भाग

प्रश्न ४६७ - लोक के कितने भाग हैं ?

उत्तर - लोक के तीन भाग हैं-ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक।

प्रश्न ४६८ - अधोलोक कहाँ है ?

उत्तर - मेरुपर्वत के नीचे सात राजू प्रमाण अधोलोक है।

प्रश्न ४६९ - ऊर्ध्वलोक कहाँ हैं ?

उत्तर - मेरुपर्वत के ऊपर लोक के अन्त पर्यन्त ऊर्ध्वलोक है।

प्रश्न ४७० - मध्यलोक कहाँ है ?

उत्तर - एक लाख चालीस (१,००,०४०) योजन मेरुपर्वत की ऊँचाई के बराबर मध्यलोक है।

प्रश्न ४७१ - मध्यलोक का विशेष स्वरूप क्या है ?

उत्तर - मध्यलोक के अत्यंत बीच में एक लाख योजन चौड़ाई वाला थाली के समान गोल जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीप के बीच में एक लाख चालीस योजन ऊँचा सुमेरुपर्वत है, जिसकी एक हजार योजन जमीन के भीतर मूल है, जो निन्यानवे हजार योजन पृथ्वी के ऊपर है और जिसकी चालीस योजन की चूलिका (चोटी) है।

जम्बूद्वीप के बीच में पश्चिम-पूर्व की तरफ लम्बायमान छह कुलाचल पर्वत हैं, जिनसे जम्बूद्वीप के सात खण्ड (क्षेत्र या वर्ष) हैं। इन सातों खण्डों के नाम इस प्रकार हैं-१. भरत, २. हैमवत, ३. हरि, ४. विदेह, ५. रम्यक, ६. हैरण्यवत और ७. ऐरावत। विदेह क्षेत्र में (गजदन्त पर्वतों के बीच में) सुमेरु पर्वत से उत्तर की तरफ उत्तरकुरु और दक्षिण की तरफ देवकुरु हैं।

जम्बूद्वीप के चारों तरफ वलय के आकार वाला खाई की तरह घेरे हुए दो लाख योजन चौड़ाई वाला लवण समुद्र है। लवण समुद्र को चारों तरफ से घेरे हुए चार लाख योजन चौड़ाई वाला धातकीखण्डद्वीप है। इस धातकीखण्डद्वीप में पूर्व और पश्चिम दिशा में दो मेरुपर्वत हैं। प्रत्येक

मेरु सम्बंधी क्षेत्र, कुलाचल आदि की सब रचना जम्बूद्वीप के समान, परन्तु अधिक विस्तारवाली रचना है।

धातकीखण्डद्वीप को चारों तरफ घेरे हुए आठ लाख योजन विस्तारवाला कालोदधि समुद्र है और कालोदधि को घेरे हुए सोलह लाख योजन विस्तारवाला पुष्करवर द्वीप है।

पुष्करवर द्वीप के बीचों-बीच वलय के आकारवाला, पृथ्वी पर एक हजार बाईस योजन चौड़ाई वाला, बीच में सात सौ तेईस योजन चौड़ाई वाला और ऊपर चार सौ चौबीस योजन चौड़ाई वाला तथा सतरह सौ इक्कीस योजन ऊँचाई वाला तथा जमीन के भीतर जिसकी जड़ चार सौ सवा तीस योजन है - ऐसा मानुषोत्तर नामक पर्वत है, जिससे पुष्करवर द्वीप के दो खण्ड हो जाते हैं। पुष्करवर द्वीप के पहले अर्द्धभाग में धातकीखण्ड द्वीप के समान, परन्तु अधिक विस्तारवाली सब रचना है।

इस प्रकार जम्बूद्वीप, लवणोदधिसमुद्र, धातकीखण्डद्वीप, कालोदधिसमुद्र और पुष्करवर द्वीप- इतने क्षेत्र को नरलोक या मनुष्यलोक कहते हैं।

पुष्कर द्वीप से आगे परस्पर एक दूसरे को वलयाकार में घेरे हुए दूने-दूने विस्तार वाले मध्यलोक के अंत पर्यन्त असंख्यात, द्वीप और समुद्र हैं।

पाँच मेरु से संबंधित पाँच भरत, पाँच ऐरावत, देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़कर पाँच विदेह- इस प्रकार सब मिलाकर पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं। पाँच हैमवत और पाँच हैरण्यवत-इन दस क्षेत्रों में जघन्य भोगभूमियाँ हैं, पाँच हरि और पाँच रम्यक-इन दश क्षेत्रों में मध्यम भोगभूमियाँ हैं तथा पाँच देवकुरु और पाँच उत्तर कुरु-इन दश क्षेत्रों में उत्तम भोगभूमियाँ हैं। जहाँ पर असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प-इन षट्कर्मों की प्रवृत्ति होती है, उसे कर्मभूमि कहते हैं। जहाँ इनकी प्रवृत्ति नहीं होती है, उसे भोगभूमि कहते हैं।

मनुष्य क्षेत्र से बाहर के समस्त ,द्वीपों में जघन्य भोगभूमि के समान रचना है, किन्तु अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीप के उत्तरार्द्ध तथा समस्त स्वयं भूरमण समुद्र में और चारों कोनों की पृथ्वियों में कर्मभूमि के समान रचना है। लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र में ९६ अन्तर्द्वीप हैं, इसी प्रकार विदेह क्षेत्रों की १६० कर्मभूमियों के मध्य ५६-५६ अन्तर्द्वीप हैं, इन सर्व अन्तर्द्वीपों में कुभोगभूमि की रचना है, वहाँ कुमनुष्य ही रहते हैं, उनमें मनुष्यों की नाना प्रकार की कुत्सित आकृतियाँ हैं।

१. जिनागम में मध्यलोक के असंख्यात द्वीप-समुद्रों में से जम्बूद्वीप से प्रारम्भ होकर सोलह द्वीप-समुद्रों के नाम निम्न प्रकार हैं- १. जम्बूद्वीप-लवणसमुद्र २. धातकीखण्डद्वीप-कालोदधिसमुद्र, ३. पुष्करवरद्वीप-पुष्करवरसमुद्र, ४. वारुणीवरद्वीप-वारुणीवरसमुद्र, ५. क्षीरवरद्वीप-क्षीरवरसमुद्र, ६. घृतवरद्वीप-घृतवरसमुद्र, ७. इक्षुवरद्वीप-इक्षुवरसमुद्र, ८. नन्दीश्वरद्वीप-नन्दीश्वरसमुद्र, ९. अरुणीवरद्वीप-अरुणीवरसमुद्र, १०. अरुणाभासद्वीप-अरुणाभाससमुद्र, ११. कुण्डलवरद्वीप-कुण्डलवरसमुद्र, १२. शंखवरद्वीप-शंखवरसमुद्र, १३. रुचकवरद्वीप-रुचकवरसमुद्र, १४. भुजगवरद्वीप-भुजगवरसमुद्र, १५. कुशवरद्वीप-कुशवरसमुद्र, १६. क्रौंचवरद्वीप-क्रौंचवरसमुद्र।

इसी प्रकार अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र से प्रारम्भ होकर सोलह समुद्र-द्वीपों के नाम निम्न प्रकार हैं-

१. स्वयंभूरमणसमुद्र-स्वयंभूरमणद्वीप, २. अहीन्द्रवरसमुद्र-अहीन्द्रवरद्वीप, ३. देववरसमुद्र-देववरद्वीप, ४. यक्षवरसमुद्र-यक्षवरद्वीप, ५. भूतवरसमुद्र-भूतवरद्वीप, ६. नागवरसमुद्र-नागवरद्वीप, ७. वैड्र्यसमुद्र-वैड्र्यद्वीप, ८. वज्रवरसमुद्र-वज्रवरद्वीप, ९. काञ्चनसमुद्र-काञ्चनद्वीप, १०. रुप्यवरसमुद्र-रुप्यवरद्वीप, ११. हिंगुलसमुद्र-हिंगुलद्वीप, १२. अञ्जनवरसमुद्र-अञ्जनवरद्वीप, १३. श्यामसमुद्र-श्यामद्वीप, १४. सिन्दूरसमुद्र-सिन्दूरद्वीप, १५. हरितासससमुद्र-हरितासद्वीप, १६. मन:शिलसमुद्र-मन:शिलद्वीप। हरिवंशपुराण, त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों में कुछ समुद्रों के रसों का वर्णन किया गया है। उक्त द्वीप-समुद्रों की अनेक विशेषताओं का वर्णन भी वहाँ से जानना चाहिये।

(जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग ३, पृष्ठ ४७०)

२. वरैयाजी ने 'जैन जागरकी' नामक एक विस्तृत लेख लिखा है, जिसमें तीन लोक का वर्णन किया गया है। (स्मृति ग्रन्थ पृष्ठ २४३-२५२ देखें।)

॥ इति तृतीयोऽध्याय: समाप्त: ॥

....

(ब) मुक्ति के सोपान - चौदह गुणस्थान वर्णन

चतुर्थ अध्याय

मुक्ति के सोपान

गुणस्थान की वृद्धि को, जान मुक्ति सोपान ।
शीघ्र मिले निर्वाण पद, निश्चय से यह मान ।।

प्रश्न ४७२ - संसार में समस्त प्राणी सुख को चाहते हैं और सुख का ही उपाय करते हैं, फिर भी सुख को प्राप्त क्यों नहीं होते ?

उत्तर - संसारी जीव असली सुख का स्वरूप और उसका उपाय न तो जानते हैं और न उसका साधन करते हैं, इसलिये सुख को प्राप्त नहीं होते।

प्रश्न ४७३ - असली सुख का क्या स्वरूप है ?

उत्तर - आह्लाद स्वरूप जीव के अनुजीवीगुण को असली सुख कहते हैं, यही जीव का विशेष स्वभाव है, परन्तु संसारी जीवों ने भ्रमवश साता वेदनीयकर्म के उदयजनित साता परिणाम (असली सुख की वैभाविक परिणति) को ही सुख मान रखा है।

प्रश्न ४७४ - संसारी जीव को असली सुख क्यों नहीं मिलता है ?

उत्तर - कर्मोदय के निमित्त से उस सुख का घात हो रहा है, इस कारण संसारी जीव को असली सुख नहीं मिलता है।

प्रश्न ४७५ - संसारी जीव को असली सुख कब मिल सकता है ?

उत्तर - संसारी जीव को असली सुख मोक्ष होने पर मिल सकता है।

प्रश्न ४७६ - मोक्ष का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - आत्मा से समस्त कर्मों के विप्रमोक्ष (अत्यंत वियोग) को मोक्ष कहते हैं।

प्रश्न ४७७ - मोक्ष की प्राप्ति का उपाय क्या है ?

उत्तर - मोक्ष की प्राप्ति का उपाय संवर और निर्जरा है।

प्रश्न ४७८ - संवर किसे कहते हैं ?

उत्तर - आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं अर्थात् नवीन कर्मों का आत्मा के साथ सम्बंध न होना, संवर है।

प्रश्न ४७९ - निर्जरा किसे कहते हैं ?

उत्तर - आत्मा से पूर्वबद्ध कर्मों का एकदेश वियोग होना निर्जरा है।

प्रश्न ४८० - संवर और निर्जरा होने का उपाय क्या है ?

उत्तर - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-इन तीनों पूर्ण गुणों की एकता ही संवर और निर्जरा होने का उपाय है।

(यहाँ पर 'पूर्ण गुणों की एकता' - ऐसा बारम्बार कहा गया है। उसका तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्णता होने पर ही मोक्षमार्ग की वास्तविक पूर्णता होती है, तभी साक्षात् केवलज्ञान या मोक्ष की

प्राप्ति होती है, अपूर्ण एकता साक्षात् केवलज्ञान या मोक्ष का कारण नहीं है, वह परम्परा से केवलज्ञान या मोक्ष का कारण है। सम्यग्दर्शन में क्षायिक सम्यग्दर्शन को, सम्यग्ज्ञान में केवलज्ञान को तथा सम्यक्‌चारित्र में यथाख्यातचारित्र को पूर्ण माना गया है। केवलज्ञान के बाद परमयथाख्यातचारित्र होने पर ही मोक्ष होता है।)

प्रश्न ४८१ - इन तीनों पूर्ण गुणों की एकता युगपत् होती है या क्रम से ?

उत्तर - इन तीनों पूर्ण गुणों की एकता क्रम से होती है।

प्रश्न ४८२ - इन तीनों पूर्ण गुणों की एकता होने का क्रम किस प्रकार है ?

उत्तर - जैसे-जैसे गुणस्थान बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे ही ये गुण भी बढ़ते हुए अन्त में पूर्ण होते हैं।

प्रश्न ४८३ - गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर - मोह और योग के निमित्त से आत्मा के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र रूप गुणों की तारतम्य रूप (उत्तरोत्तर वृद्धिङ्गत) अवस्था-विशेष को गुणस्थान कहते हैं।

प्रश्न ४८४ - गुणस्थान के कितने भेद हैं ?

उत्तर - गुणस्थान के चौदह भेद हैं-१. मिथ्यात्व, २. सासादन, ३. मिश्र, ४. अविरतसम्यग्दृष्टि, ५. देशविरत, ६. प्रमत्तविरत, ७. अप्रमत्तविरत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मसाम्पराय, ११. उपशान्तमोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगकेवली और १४. अयोग केवली।

प्रश्न ४८५ - गुणस्थानों के इन नामों का कारण कौन है ?

उत्तर - गुणस्थानों के इन नामों का कारण मोहनीयकर्म और योग है।

प्रश्न ४८६ - किस-किस गुणस्थान के क्या-क्या निमित्त हैं ?

उत्तर - शुरु के चार गुणस्थान तो दर्शन मोहनीयकर्म के निमित्त से होते हैं, पाँचवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान पर्यंत आठ गुणस्थान **चारित्रमोहनीयकर्म के निमित्त** से होते हैं तथा तेरहवाँ और चौदहवाँ ये दो गुणस्थान **योग के निमित्त** से होते हैं।

पहला, मिथ्यात्व गुणस्थान दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से होता है, इसमें आत्मा के परिणाम मिथ्यात्वरूप होते हैं।

चौथा, अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम से होता है। इस गुणस्थान में आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का प्रादुर्भाव हो जाता है।

तीसरा, मिश्र गुणस्थान सम्यक् मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीयकर्म की प्रकृति के उदय से होता है। इस गुणस्थान में आत्मा के परिणाम सम्यक् मिथ्यात्व अर्थात् उभय रूप होते हैं।

पहले गुणस्थान में औदयिक भाव, चौथे गुणस्थान में औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक भाव और तीसरे गुणस्थान में औदयिक भाव होते हैं।

(यद्यपि इस गुणस्थान में सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने से यहाँ औदयिक भाव कहा है, तथापि षट्खण्डागम, गोम्मटसार, राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में इस गुणस्थान के भाव को पाँचवें गुणस्थान के समान जात्यन्तर रूप क्षायोपशमिक भाव माना है, क्योंकि यहाँ अभी सम्यक्‌श्रद्धान का पूर्ण अभाव नहीं हुआ है।)

(-धवला, १/१, १,११/१६८)

दूसरा, सासादन गुणस्थान दर्शन मोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम– इन चार अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था की अपेक्षा नहीं रखता है, इसलिये यहाँ पर दर्शन मोहनीय कर्म की अपेक्षा पारिणामिक भाव है, किन्तु अनंतानुबंधी रूप चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होने से इस गुणस्थान में चारित्र मोहनीय कर्म की अपेक्षा औदयिक भाव भी कहा जा सकता है। इस गुणस्थान में अनंतानुबंधी के उदय से सम्यक्त्व का घात हो गया है, इसलिये यहाँ सम्यक्त्व नहीं है लेकिन मिथ्यात्व का उदय भी नहीं आया है, इसलिये मिथ्यात्व परिणाम भी नहीं है। अतएव यह गुणस्थान मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अपेक्षा से अनुदय रूप है।

पाँचवें, देशविरत गुणस्थान से दसवें, सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक छह गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से होते हैं, इसलिये इन गुणस्थानों में क्षायोपशमिक भाव होते हैं। इन गुणस्थानों में सम्यक्चारित्र गुण की क्रम से वृद्धि होती जाती है।

ग्यारहवाँ, उपशान्तमोह गुणस्थान चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम से होता है, इसलिये ग्यारहवें गुणस्थान में औपशमिक भाव होता हैं। यद्यपि यहाँ पर चारित्र मोहनीयकर्म का पूर्णतया उपशम हो जाता है, तथापि योग का सद्भाव होने से पूर्ण चारित्र नहीं है, क्योंकि सम्यक्चारित्र के लक्षण में ''योग और कषाय के अभाव से सम्यक्चारित्र होता है''–ऐसा लिखा है।

बारहवाँ, क्षीणमोह गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से होता है, इसलिये यहाँ क्षायिक भाव होता है। इस गुणस्थान में भी ग्यारहवें गुणस्थान के समान सम्यक्चारित्र की पूर्णता नहीं है।

सम्यग्ज्ञान गुण यद्यपि चौथे गुणस्थान में ही प्रगट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि आत्मा का ज्ञानगुण (मति–श्रुतज्ञान के रूप में) अनादिकाल से प्रवाह रूप चला आ रहा है, तथापि दर्शनमोहनीय कर्म का उदय होने से वह ज्ञान मिथ्या रूप था, परन्तु चौथे गुणस्थान में जब दर्शन मोहनीय कर्म के उदय का अभाव हो जाता है, तब वही आत्मा का ज्ञानगुण, सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है।

पंचम–षष्ठम आदि गुणस्थानों में तपश्चरणादि के निमित्त से अवधिज्ञान–मनःपर्यय ज्ञान भी किसी–किसी जीव के प्रगट हो जाते हैं, तथापि केवलज्ञान के बिना सम्यग्ज्ञान की पूर्णता नहीं होती, इसलिये इस बारहवें गुणस्थान में यद्यपि सम्यग्दर्शन की पूर्णता हो गई है (क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व के बिना क्षपकश्रेणी नहीं चढ़ता और क्षपकश्रेणी के बिना बारहवाँ गुणस्थान नहीं होता) तथापि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र गुण अभी तक अपूर्ण हैं, इसीलिये बारहवें गुणस्थान से भी मोक्ष नहीं होता।

तेरहवाँ, सयोग केवली गुणस्थान योगों के सद्भाव की अपेक्षा कहा गया है, इसीलिये यह सयोग है और केवलज्ञान के कारण इसका नाम सयोग केवली है। इस गुणस्थान में सम्यग्ज्ञान की पूर्णता हो जाती है, परन्तु चारित्रगुण की पूर्णता नहीं होने से मोक्ष नहीं होता।

चौदहवाँ, अयोग केवली गुणस्थान योगों के अभाव की अपेक्षा रखता है, इसलिये इसका नाम अयोग केवली है। इस गुणस्थान में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-इन तीनों गुणों की पूर्णता हो जाती है, अतएव मोक्ष भी अब दूर नहीं रहा अर्थात् अ इ उ ऋ लृ-इन पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण करने में जितना काल लगता है, उतने ही काल में मोक्ष हो जाता है।

प्रश्न ४८७ - मिथ्यात्व गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर - मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से अतत्त्वार्थ-श्रद्धान रूप आत्मा के विशेष परिणाम को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं।

मिथ्यात्व गुणस्थान में रहने वाला जीव विपरीत श्रद्धान करता है और सच्चे धर्म की तरफ उसकी रुचि नहीं होती। जैसे पित्त-ज्वर वाले रोगी को दुग्ध आदि रस कटुक (कड़वे) लगते हैं, उसी प्रकार इसको भी समीचीन धर्म अच्छा नहीं लगता।

प्रश्न ४८८ - मिथ्यात्व गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है ?

उत्तर - अभेद विवक्षा से कर्म की १४८ प्रकृतियों में से स्पर्श आदि बीस प्रकृतियों का चार में और पाँच बंधन तथा पाँच संघात का पाँच शरीरों में अन्तर्भाव होता है। अत: कुल प्रकृतियाँ भेद विवक्षा से १४८ और अभेद विवक्षा से मात्र १२२ हैं।

सम्यक्-मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति-इन दो प्रकृतियों का बंध नहीं होता है, क्योंकि इन दोनों का आविर्भाव सम्यक्त्व परिणामों से सत्ताभूत मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खण्ड करने पर होता है, इस कारण अनादि मिथ्यादृष्टि जीव की बन्ध-योग्य प्रकृतियाँ १२० और सत्त्व-योग प्रकृतियाँ १४६ हैं।

मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति, आहारक शरीर और आहारक आङ्गोपाङ्ग - इन तीन प्रकृतियों का बंध नहीं होता है, क्योंकि इन तीनों प्रकृतियों का बंध सम्यग्दृष्टि जीवों को ही होता है। इसलिये इस मिथ्यात्व गुणस्थान में एक सौ बीस में से तीन घटाने पर ११७ प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है।

प्रश्न ४८९ - मिथ्यात्व गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय हो सकता है ?

उत्तर - मिथ्यात्व गुणस्थान में सम्यक्प्रकृति, सम्यक्-मिथ्यात्व, आहारक शरीर, आहारक आङ्गोपाङ्ग और तीर्थङ्करप्रकृति-इन पाँच प्रकृतियों का उदय नहीं होता। इसलिये १२२ में पाँच घटाने पर ११७ प्रकृतियों का उदय हो सकता है।

प्रश्न ४९० - मिथ्यात्व गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्त्व (सत्ता) रह सकता है ?

उत्तर - मिथ्यात्व गुणस्थान में १४८ प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है।

(प्रश्न - बंध सत्त्व और उदय में क्या अन्तर है ?

उत्तर - योग और कषाय के निमित्त से जब कार्मण वर्गणा कर्म रूप से परिणत होकर जीव के प्रदेशों में बन्ध को प्राप्त होती है, तब प्रथम समय में वह कर्म 'बंध' कहलाता है। पश्चात् वे ही कर्म द्वितीय समय से लेकर जब तक उदय को प्राप्त नहीं होते, तब तक उन कर्मों का 'सत्त्व' कहलाता है तथा तत्पश्चात् जब वे कर्म फल देते हैं, वह उन कर्मों का 'उदय' कहलाता है।) (-कषायपाहुड़, १/२५०/२९१)

प्रश्न ४९१ – सासादन गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर – प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में जब अधिक से अधिक छह आवली और कम से कम एक समय बाकी रहता है, उस समय किसी एक अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व का नाश हो जाता है, उसे सासादन गुणस्थान कहते हैं।

प्रश्न ४९२ (अ)-सम्यक्त्व के कितने भेद-प्रभेद हैं, उनका स्वरूप क्या है ?

उत्तर – सम्यक्त्व के तीन भेद हैं–

१. दर्शन मोहनीय की तीन और अनन्तानुबन्धी की चार–इन सात प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

२. इन सात प्रकृतियों के क्षय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं।

३. इन्हीं सात में से छह प्रकृतियों के अनुदय और सम्यक् प्रकृति नामक दर्शन मोहनीय कर्म की एक देशघाति प्रकृति के उदय से जो सम्यक्त्व होता है, उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

उपशम सम्यक्त्व के दो भेद हैं–प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीयोपशम सम्यक्त्व।

प्रश्न ४९२ (ब) -प्रथमोपशम सम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर – अनादि मिथ्यादृष्टि के पाँच और सादि मिथ्यादृष्टि के सात प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

प्रश्न ४९३ – द्वितीयोपशम सम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर – सातवें गुणस्थान में क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव उपशम श्रेणी चढ़ने के सम्मुख अवस्था में अनन्तानुबन्धी कषाय–चतुष्टय का अप्रत्याख्यानादि कषाय रूप विसंयोजन करके तथा दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों का उपशम करके जो सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

प्रश्न ४९४ – आवली से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर – असंख्यात समय की एक आवली होती है।

प्रश्न ४९५ – सासादन गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध हो सकता है ?

उत्तर – मिथ्यात्व गुणस्थान में जिन ११७ प्रकृतियों का बंध हो सकता है, उसमें से मिथ्यात्व गुणस्थान में जिनकी व्युच्छित्ति हो सकती है–ऐसी सोलह व्युच्छिन्न प्रकृतियों के घटाने पर १०१ प्रकृतियों का बंध सासादन गुणस्थान में हो सकता है। वे सोलह प्रकृतियाँ हैं–मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, नरक गत्यानुपूर्वी, हुण्डक संस्थान, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, एकेन्द्रिय जाति, विकलत्रय की तीन जातियाँ, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण।

प्रश्न ४९६ – व्युच्छित्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर – व्युच्छित्ति का अर्थ सम्बंध–विच्छेद है। जिस गुणस्थान में जिन कर्म–प्रकृतियों के बन्ध, उदय अथवा सत्त्व की व्युच्छित्ति कही जाती है, उस गुणस्थान तक ही उन प्रकृतियों का बंध, उदय अथवा सत्त्व पाया जाता है। उसके बाद किसी भी गुणस्थान में उन प्रकृतियों का बंध, उदय

अथवा सत्त्व नहीं होता है, इसी को व्युच्छित्ति कहते हैं।

प्रश्न ४९७ – सासादन गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय हो सकता है ?

उत्तर – मिथ्यात्व गुणस्थान में जिन ११७ प्रकृतियों का उदय कहा है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ– मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण–इन पाँच के घटाने पर ११२ बचती हैं, परन्तु नरकगत्यानुपूर्वी का भी सासादन गुणस्थान में उदय नहीं होता, इसलिये सासादन गुणस्थान में १११ प्रकृतियों का उदय हो सकता है।

प्रश्न ४९८ – सासादन गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है ?

उत्तर – सासादन गुणस्थान में १४५ प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है, क्योंकि इस गुणस्थान में कुल १४८ प्रकृतियों में से तीर्थङ्कर प्रकृति, आहारक शरीर और आहारक आङ्गोपाङ्ग–इन तीन प्रकृतियों की सत्ता नहीं रहती।

प्रश्न ४९९ – मिश्र गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर – सम्यक् मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव में न तो केवल सम्यक्त्व रूप परिणाम होता है और न केवल मिथ्यात्व रूप परिणाम होता है, किन्तु दही–गुड़ के मिले हुए स्वाद की तरह एक भिन्न जाति का मिश्र परिणाम होता है, इसी को मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

प्रश्न ५०० – मिश्र गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध हो सकता है ?

उत्तर – सासादन गुणस्थान में बंध योग्य प्रकृतियाँ १०१ होती हैं, इनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ–अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, न्यग्रोध संस्थान, स्वाति संस्थान, कुब्जक संस्थान, वामन संस्थान, वज्रनाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्द्धनाराच संहनन, कीलित संहनन, अप्रशस्त–विहायोगति, स्त्रीवेद, नीच गोत्र, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, तिर्यगायु, उद्योत–इन २५ प्रकृतियों की बंध–व्युच्छित्ति हो जाती है, अतः ७६ प्रकृतियाँ शेष रहती हैं, परन्तु इस गुणस्थान में किसी भी आयुकर्म का बंध नहीं होता है। इन ७६ में से मनुष्यायु और देवायु–दो के घटाने पर ७४ प्रकृतियों का बंध हो सकता है क्योंकि नरकायु की पहले गुणस्थान में और तिर्यगायु की दूसरे गुणस्थान में ही व्युच्छित्ति हो जाती है।

प्रश्न ५०१ – मिश्र गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय हो सकता है ?

उत्तर – सासादन गुणस्थान में १११ प्रकृतियों का उदय हो सकता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ – अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, एकेन्द्रिय आदि चार जातियाँ और स्थावर–इन ९ प्रकृतियों की उदय–व्युच्छित्ति दूसरे गुणस्थान में हो जाती है, अतः १०२ प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। साथ ही चार आनुपूर्वी में से नरक–गत्यानुपूर्वी की व्युच्छित्ति पहले ही हो जाने से बाकी तीन आनुपूर्वी का भी उदय नहीं होता, इस प्रकार शेष ९९ प्रकृतियाँ तथा एक सम्यक्–मिथ्यात्व प्रकृति को मिलाकर कुल १०० प्रकृतियों का उदय मिश्र गुणस्थान में हो सकता है।

प्रश्न ५०२ – मिश्र गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है ?

उत्तर – मिश्र गुणस्थान में तीर्थङ्कर प्रकृति के बिना १४७ प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है।

प्रश्न ५०३ – अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर – दर्शन मोहनीय की तीन और अनंतानुबंधी की चार–इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम से सम्यक्त्व सहित और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से व्रतरहित परिणाम को अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान कहते हैं।

प्रश्न ५०४ – अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध हो सकता है ?

उत्तर – मिश्र गुणस्थान में ७४ प्रकृतियों का बंध हो सकता है, परन्तु अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में मनुष्यायु, देवायु और तीर्थङ्कर प्रकृति–इन तीन सहित ७७ प्रकृतियों का बंध हो सकता है।

प्रश्न ५०५ – अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय हो सकता है ?

उत्तर – मिश्र गुणस्थान में १०० प्रकृतियों का उदय हो सकता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृति–सम्यक् मिथ्यात्व के घटाने पर शेष ९९ बचती हैं, परन्तु इनमें चार आनुपूर्वी और एक सम्यक् प्रकृति–इन पाँच प्रकृतियों को मिलाने पर १०४ प्रकृतियों का उदय अविरत–सम्यक्त्व गुणस्थान में हो सकता है।

प्रश्न ५०६ – अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है ?

उत्तर – अविरत–सम्यक्त्व गुणस्थान में सब अर्थात् १४८ प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है, किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा इस गुणस्थान में मात्र १४१ प्रकृतियों का ही सत्त्व रह सकता है। (यहाँ चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवों में 'सत्त्व' की अपेक्षा अन्तर बताया जायेगा, परन्तु बंध और उदय की अपेक्षा गुणस्थानों के भावों में क्षायिक सम्यग्दृष्टि और अन्य सम्यग्दृष्टि जीवों में अंतर नहीं है।)

प्रश्न ५०७ – देश विरत गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर – जहाँ प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से यद्यपि संयमभाव नहीं होता, तथापि अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के क्षयोपशम से श्रावक–व्रतरूप देशचारित्र होता है, इसी को देशविरत गुणस्थान कहते हैं।

पाँचवें आदि ऊपर के समस्त गुणस्थानों में सम्यग्दर्शन और उसका अविनाभावी सम्यग्ज्ञान अवश्य होता है, क्योंकि इनके बिना पाँचवें, छटवें आदि गुणस्थान नहीं होते।

प्रश्न ५०८ – देशविरत गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध होता है ?

उत्तर – अविरत–सम्यक्त्व गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बंध हो सकता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ–अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, औदारिक शरीर, औदारिक आङ्गोपाङ्ग, वज्रऋषभनाराच संहनन–इन दस के घटाने पर शेष ६७ प्रकृतियों का बंध देशविरत गुणस्थान में हो सकता है।

प्रश्न ५०९ – देश विरत गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय हो सकता है ?

उत्तर – चौथे गुणस्थान में १०४ प्रकृतियों का उदय हो सकता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ–प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, देवगति, देव–गत्यानुपूर्वी, देवायु, नरकगति, नरक–गत्यानुपूर्वी, नरकायु, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक आङ्गोपाङ्ग, मनुष्य–गत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी,

दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति–इन १७ के घटाने पर शेष ८७ प्रकृतियों का उदय देशविरत गुणस्थान में हो सकता है।

प्रश्न ५१० – देश विरत गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है ?

उत्तर – चौथे गुणस्थान में १४८ प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है, उनमें व्युच्छिन्न प्रकृति–एक नरकायु के बिना १४७ प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है, किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा इस गुणस्थान में १४० प्रकृतियों का सत्त्व देशविरत गुणस्थान में रह सकता है।

प्रश्न ५११ – प्रमत्तविरत गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर – इस गुणस्थान में संज्वलन कषाय और हास्यादि नोकषाय के तीव्र उदय से संयम भाव के साथ मलजनक प्रमादयुक्त परिणाम होते हैं, यद्यपि संज्वलन और नोकषाय का उदय चारित्रगुण का विरोधी है, तथापि प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से उत्पन्न सकल संयम को घातने में वह समर्थ नहीं है, इस कारण उसे भी उपचार से संयम का उत्पादक कहा है, इसलिये इस गुणस्थानवर्ती मुनि को प्रमत्तविरत अर्थात् चित्रलाचरणी कहते हैं–यह प्रमत्तविरत गुणस्थान है।

प्रश्न ५१२ – प्रमत्तविरत गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध हो सकता है ?

उत्तर – देश विरत गुणस्थान में जो ६७ प्रकृतियों का बंध हो सकता है, उनमें से प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ–इन चार व्युच्छिन्न प्रकृतियों के घटाने पर शेष ६३ प्रकृतियों का बन्ध छठवें प्रमत्तविरत गुणस्थान में हो सकता है।

प्रश्न ५१३ – प्रमत्तविरत गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय हो सकता है ?

उत्तर – देशविरत गुणस्थान में ८७ प्रकृतियों का उदय हो सकता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ–प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, तिर्यग्गति, तिर्यगायु, उद्योत और नीचगोत्र–इन आठ के घटाने पर शेष ७९ प्रकृतियाँ बचती हैं, उनमें आहारक शरीर और आहारक आङ्गोपाङ्ग–ये दो प्रकृतियाँ मिलाने से ८१ प्रकृतियों का उदय प्रमत्तविरत गुणस्थान में हो सकता है।

प्रश्न ५१४ – प्रमत्तविरत गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है ?

उत्तर – देशविरत गुणस्थान में १४७ प्रकृतियों की सत्ता कही है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृति–एक तिर्यग्गायु के घटाने पर १४६ प्रकृतियों का सत्त्व प्रमत्तविरत गुणस्थान में रह सकता है, किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा इस गुणस्थान में १३९ प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है।

प्रश्न ५१५ – अप्रमत्तविरत गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर – अप्रमत्तविरत गुणस्थान में संज्वलन और नोकषाय का मन्द उदय होने से प्रमादरहित संयम भाव होता है, इस कारण इस गुणस्थानवर्ती मुनि का सातवाँ अर्थात् अप्रमत्तविरत गुणस्थान होता है।
(अप्रमत्तविरत गुणस्थान की बन्ध योग्य, उदय योग्य और सत्त्व योग्य प्रकृतियों का वर्णन प्रश्न क्र. ५३२ से ५३४ में दिया गया है, लेकिन वहाँ स्वस्थान अप्रमत्तविरत और सातिशय अप्रमत्तविरत की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है।)

प्रश्न ५१६ – अप्रमत्तविरत गुणस्थान के कितने भेद हैं ?

उत्तर – अप्रमत्तविरत गुणस्थान के दो भेद हैं–स्वस्थान अप्रमत्तविरत और सातिशय अप्रमत्तविरत।

प्रश्न ५१७ – स्वस्थान अप्रमत्तविरत किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो मुनि हजारों बार छटवें से सातवें में और सातवें से छठवें गुणस्थान में आने-जाने रूप परिणाम करते हैं, उनके सातवें गुणस्थान को स्वस्थान अप्रमत्तविरत कहते हैं।

प्रश्न ५१८ – सातिशय अप्रमत्तविरत किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो मुनि श्रेणी चढ़ने के सन्मुख होते हैं, उनके सातवें गुणस्थान को सातिशय अप्रमत्तविरत कहते हैं।

प्रश्न ५१९ – श्रेणी चढ़ने का पात्र कौन है ?

उत्तर – क्षायिक सम्यग्दृष्टि और द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि मुनि ही श्रेणी चढ़ते हैं। प्रथमोपशम सम्यक्त्व वाला तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाले मुनि श्रेणी नहीं चढ़ सकते हैं। प्रथमोपशम सम्यक्त्व वाले (मुनि) प्रथमोपशम सम्यक्त्व को छोड़कर, क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होकर, प्रथम ही अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का विसंयोजन करके, दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम करके, द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि होकर अथवा तीनों प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर श्रेणी चढ़ने के पात्र होते हैं।

प्रश्न ५२० – श्रेणी किसे कहते हैं ?

उत्तर – जहाँ (सातिशय अप्रमत्तसंयत मुनि के द्वारा) चारित्र मोहनीय कर्म की समस्त प्रकृतियों का क्रम से उपशम या क्षय होता है, उसे श्रेणी कहते हैं।

प्रश्न ५२१ – श्रेणी के कितने भेद हैं ?

उत्तर – श्रेणी के दो भेद हैं–उपशम श्रेणी और क्षपकश्रेणी।

प्रश्न ५२२ – उपशम श्रेणी किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस श्रेणी में चारित्र मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का उपशम होता है, उसे उपशम श्रेणी कहते हैं।

प्रश्न ५२३ – क्षपकश्रेणी किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस श्रेणी में चारित्र मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का क्षय होता है, उसे क्षपकश्रेणी कहते हैं।

प्रश्न ५२४ – दोनों श्रेणियों में कौन-कौन से जीव चढ़ते हैं ?

उत्तर – क्षायिक सम्यग्दृष्टि (मुनि) तो दोनों श्रेणी चढ़ सकते हैं, परन्तु द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि मुनि उपशम श्रेणी में ही चढ़ सकते हैं, क्षपकश्रेणी नहीं।

प्रश्न ५२५ – उपशमश्रेणी के कौन-कौन से गुणस्थान हैं ?

उत्तर – उपशमश्रेणी के गुणस्थान चार हैं–आठवाँ, नववाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ।

प्रश्न ५२६ – क्षपकश्रेणी के कौन-कौन से गुणस्थान हैं ?

उत्तर – क्षपकश्रेणी के गुणस्थान चार हैं–आठवाँ, नववाँ, दसवाँ और बारहवाँ।

प्रश्न ५२७ – चारित्रमोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का उपशम तथा क्षय करने के लिए आत्मा के कौन से परिणाम निमित्तकारण हैं ?

उत्तर – चारित्रमोहनीय की समस्त प्रकृतियों के उपशम तथा क्षय करने के लिए आत्मा के तीन करण के परिणाम निमित्तकारण हैं–अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।

(यद्यपि सम्यग्दर्शन होने के पूर्व तथा ऊपर के गुणस्थान में आरोहण करने के पूर्व भी ये करण होते हैं, परन्तु चारित्रमोहनीय के उपशम और क्षय करने की अपेक्षा से उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी के इन तीन करणों में अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण–इन दो करणों को पृथक से गुणस्थान की संज्ञा भी दी गयी है। जबकि सातवें गुणस्थान में सातिशय अप्रमत्तविरत को अध:करण होता है।)

प्रश्न ५२८ – अध:करण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस करण (परिणामसमूह) में उपरितन (ऊपर के) समयवर्ती तथा अधस्तन (नीचे के समयवर्ती जीवों के परिणाम अर्थात् भिन्न समयवर्ती अनेक जीवों के परिणाम सदृश अथवा विसदृश होते हैं, उसे अध:करण कहते हैं। यह अध:करण सातवें गुणस्थान में सातिशय अप्रमत्तविरत के होता है।

प्रश्न ५२९ – अपूर्वकरण गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस करण में उत्तरोत्तर अपूर्व–अपूर्व परिणाम होते जाते हैं अर्थात् भिन्न समयवर्ती अनेक जीवों के परिणाम सदा विसदृश ही होते हैं, परन्तु एक समयवर्ती अनेक जीवों के परिणाम सदृश या विसदृश होते हैं, उसे अपूर्वकरण कहते हैं–यही अपूर्वकरण गुणस्थान कहलाता है।

प्रश्न ५३० – अनिवृत्तिकरण गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस करण में भिन्न समयवर्ती अनेक जीवों के परिणाम विसदृश ही होते हैं और एक समयवर्ती अनेक जीवों के परिणाम सदृश ही होते हैं, उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं–यही अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहलाता है।

(अपूर्वकरण गुणस्थान और अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का बंध योग्य, उदय योग्य और सत्त्व योग्य प्रकृतियों का वर्णन क्रमश: प्रश्न क्र.५३५ से ५३७ और ५३८ से ५४० में दिया गया है।)

अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण–इन तीनों ही करणों के परिणाम उत्तरोत्तर प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धता सहित होते हैं।

प्रश्न ५३१ – अध:करण का दृष्टान्त क्या है ?

उत्तर – जैसे–देवदत्त नामक राजा के ३०७२ (तीन हजार बहत्तर) आदमी सेवक हैं, जो १६ विभागों में विभाजित हैं–क्रमश: विभाग क्र. १ में १६२, २ में १६६, ३ में १७०, ४ में १७४, ५ में १७८, ६ में १८२, ७ में १८६, ८ में १९०, ९ में १९४, १० में १९८, ११ में २०२, १२ में २०६, १३ में २१०, १४ में २१४, १५ में २१८, १६ में २२२ आदमी काम करते हैं।

पहले विभाग के १६२ आदमियों में पहले आदमी का वेतन १ रुपया, दूसरे का २ रुपया, तीसरे का ३ रुपया, इसी प्रकार क्रम से एक–एक बढ़ते हुए १६२ वें आदमी का वेतन १६२ रुपया है। दूसरे विभाग के १६६ आदमियों में पहले आदमी का वेतन ४० रुपया और दूसरे आदि आदमियों का वेतन क्रम से एक–एक रुपया बढ़ते हुए १६६ वें आदमी का वेतन २०५ रुपया

है। तीसरे विभाग के १७० आदमियों में पहले आदमी का वेतन ८० रुपया और दूसरे आदि आदमियों का वेतन क्रम से एक-एक रुपया बढ़ते हुए १७० वें आदमी का वेतन २४९ रुपया है।

चौथे विभाग में १७४ आदमियों में पहले आदमी का वेतन १२१ रुपया और क्रम से अन्तिम आदमी का वेतन २९४ रुपया होता है।

इसी प्रकार क्रम में पन्द्रहवें विभाग में २१८ आदमियों में से पहले आदमी का वेतन ६३८ रुपया और क्रम से अन्तिम आदमी का वेतन ८८५ रुपया होता है।

तथा अन्तिम सोलहवें विभाग में २२२ आदमियों में पहले का वेतन ६९१ रुपया और २२२ वें आदमी का वेतन ९१२ रुपया है।

इस सम्पूर्ण दृष्टान्त में पहले विभाग के प्रारम्भिक ४० आदमियों का वेतन ऊपर के विभागों के किसी भी आदमी के वेतन से नहीं मिलता तथा अन्तिम सोलहवें विभाग के आखिरी ४४ आदमियों का वेतन नीचे के विभागों के किसी भी आदमी के वेतन से नहीं मिलता है। शेष आदमियों के वेतन ऊपर-नीचे के विभागों के आदमियों के वेतनों के साथ यथासंभव सदृश भी हैं।

इसी प्रकार यथार्थ में भी अधःकरण के ऊपर के समय वाले जीवों के परिणामों और नीचे के समय वाले जीवों के परिणामों में सदृशता यथासंभव जानना चाहिये।

इसका विशेष स्वरूप गोम्मटसार जी के गुणस्थानाधिकार में तथा सुशीला उपन्यास के सोलहवें पर्व में देख सकते हैं।

प्रश्न ५३२ - अप्रमत्तविरत गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है ?

उत्तर - प्रमत्तविरत गुणस्थान में जिन ६३ प्रकृतियों का बंध हो सकता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ- अस्थिर, अशुभ, असाता, अयशकीर्ति, अरति और शोक-इन छह के घटाने पर शेष ५७ में आहारक शरीर और आहारक आङ्गोपाङ्ग-इन दो प्रकृतियों को मिलाकर ५९ प्रकृतियों का बन्ध अप्रमत्तविरत गुणस्थान में हो सकता है।

प्रश्न ५३३ - अप्रमत्तविरत गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय हो सकता है ?

उत्तर - प्रमत्तविरत गुणस्थान में जिन ८१ प्रकृतियों का उदय हो सकता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ- आहारक शरीर, आहारक आङ्गोपाङ्ग, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि-इन पाँच के घटाने पर शेष ७६ प्रकृतियों का उदय अप्रमत्तविरत गुणस्थान में हो सकता है।

प्रश्न ५३४ - अप्रमत्तविरत गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है ?

उत्तर - प्रमत्तविरत गुणस्थान की तरह अप्रमत्तविरत गुणस्थान में भी १४६ प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है और क्षायिक सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा इस गुणस्थान में १३९ प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है।

प्रश्न ५३५ - अपूर्वकरण गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध हो सकता है ?

उत्तर - अप्रमत्तविरत गुणस्थान में जिन ५९ प्रकृतियों का बंध हो सकता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृति-

एक देवायु के घटाने पर ५८ प्रकृतियों का बंध अपूर्वकरण गुणस्थान में हो सकता है।

प्रश्न ५३६ – अपूर्वकरण गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय हो सकता है ?

उत्तर – अप्रमत्तविरत गुणस्थान में जिन ७६ प्रकृतियों का उदय हो सकता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ–सम्यक् प्रकृति, अर्धनाराच, कीलक संस्थान और असंप्राप्तासृपाटिका संहनन–इन चार के घटाने पर शेष ७२ प्रकृतियों का उदय अपूर्वकरण गुणस्थान में हो सकता है।

प्रश्न ५३७ – अपूर्वकरण गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है ?

उत्तर – अप्रमत्तविरत गुणस्थान में जिन १४६ प्रकृतियों का सत्त्व हो सकता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ–अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ–इन चार को घटाकर द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि उपशमश्रेणी वालों की अपेक्षा १४२ प्रकृतियों का सत्त्व अपूर्वकरण गुणस्थान में रह सकता है, किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशमश्रेणी वालों की अपेक्षा इस गुणस्थान में दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृति रहित १३९ प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है। क्षपकश्रेणी वालों की अपेक्षा सातवें गुणस्थान की व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ–अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा दर्शनमोहनीय की तीन और एक देवायु–इन आठ को घटाने पर इस गुणस्थान में शेष १३८ प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है।

प्रश्न ५३८ – अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है ?

उत्तर – अपूर्वकरण गुणस्थान में जिन ५८ प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ–निद्रा, प्रचला, तीर्थङ्कर, निर्माण, प्रशस्त–विहायोगति, पंचेन्द्रिय जाति, तैजस शरीर, कार्माण शरीर, आहारक शरीर, आहारक आङ्गोपाङ्ग, समचतुरस्र संस्थान, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक आङ्गोपाङ्ग, देवगति, देव गत्यानुपूर्वी, रूप, रस, गंध, स्पर्श, अगुरुलघुत्व, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, जुगुप्सा और भय–इन छत्तीस को घटाने पर शेष २२ प्रकृतियों का बंध अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में हो सकता है।

प्रश्न ५३९ – अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय हो सकता है ?

उत्तर – अपूर्वकरण गुणस्थान में जिन ७२ प्रकृतियों का उदय हो सकता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ–हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा–इन छह को घटाने पर शेष ६६ प्रकृतियों का उदय अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में हो सकता है।

प्रश्न ५४० – अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्त्व हो सकता है ?

उत्तर – अपूर्वकरण गुणस्थान के समान इस अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में भी द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि उपशमश्रेणी वालों की अपेक्षा १४२ और क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशमश्रेणी वालों की अपेक्षा इस गुणस्थान में १३९ प्रकृतियों का सत्त्व तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षपकश्रेणी वालों की अपेक्षा इस गुणस्थान में १३८ प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है।

प्रश्न ५४१ – सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर – तीन करण के बाद अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त लोभ कषाय के उदय का अनुभव करते हुए

जीव को सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान होता है।

प्रश्न ५४२ – सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध हो सकता है ?

उत्तर – अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में जिन २२ प्रकृतियों का बंध हो सकता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ–पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ–इन पाँच को घटाकर शेष १७ प्रकृतियों का बंध सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में हो सकता है।

प्रश्न ५४३ – सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय हो सकता है ?

उत्तर – अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में जिन ६६ प्रकृतियों का उदय हो सकता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ–स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसंकवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया–इन छह को घटा देने पर शेष ६० प्रकृतियों का उदय सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में हो सकता है।

प्रश्न ५४४ – सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्त्व रहता है ?

उत्तर – अनिवृत्तिकरण गुणस्थान की तरह द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि उपशमश्रेणी वालों की अपेक्षा १४२ प्रकृतियों का सत्त्व और क्षायिक सम्यग्दृष्टि के १३९ प्रकृतियों का सत्त्व सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में भी रह सकता है, परन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षपकश्रेणी वालों की अपेक्षा नववें गुणस्थान में १३८ प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ–नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, विकलत्रय की तीन, निद्रा–निद्रा, प्रचला–प्रचला, स्त्यानगृद्धि, उद्योत, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर, अप्रत्याख्यानावरण की चार, प्रत्याख्यानावरण की चार, नोकषाय की नौ, संज्वलन क्रोध, मान, माया तीन इन छत्तीस को घटा देने पर शेष १०२ प्रकृतियों का सत्त्व इस गुणस्थान में रह सकता है।

प्रश्न ५४५ – उपशान्तमोह गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर – चारित्र मोहनीय की २१ प्रकृतियों का उपशम होने से यथाख्यातचारित्र को धारण करने वाले मुनिराज को उपशान्तमोह गुणस्थान होता है।

इस गुणस्थान का काल समाप्त होने पर मोहनीय के उदय से जीव नीचे के गुणस्थानों में क्रम से आ जाता है। वह छटवें से लेकर पहले गुणस्थान तक यथासंभव आ सकता है।

प्रश्न ५४६ – उपशान्तमोह गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध होता है ?

उत्तर – सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में जिन १७ प्रकृतियों का बंध होता था, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ–ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की चार, अंतराय की पाँच, यशःकीर्ति और उच्च गोत्र–इन सोलह को घटा देने पर शेष एकमात्र सातावेदनीय प्रकृति का बंध होता है।

प्रश्न ५४७ – उपशान्तमोह गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय हो सकता है ?

उत्तर – सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में जिन ६० प्रकृतियों का उदय हो सकता है, उनमें से (उपशमश्रेणी की अपेक्षा) एक व्युच्छिन्न प्रकृति संज्वलन लोभ को घटा देने पर शेष ५९ प्रकृतियों का उदय उपशान्तमोह गुणस्थान में हो सकता है।

(उपशांत मोह गुणस्थान में क्षपकश्रेणी वाला जीव नहीं जाता।)

प्रश्न ५४८ – उपशान्तमोह गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्त्व हो सकता है ?

उत्तर – आठवें, नववें और दसवें गुणस्थान की तरह द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि के १४२ प्रकृतियों का सत्त्व और क्षायिक सम्यग्दृष्टि के १३९ प्रकृतियों का सत्त्व इस उपशान्तमोह गुणस्थान में रह सकता है।

प्रश्न ५४९ – क्षीणमोह गुणस्थान किसे कहते हैं और वह किसे होता है ?

उत्तर – मोहनीय कर्म के अत्यन्त क्षय होने से स्फटिक के बर्तन में रखे हुए जल के समान अत्यंत निर्मल, अविनाशी, यथाख्यात चारित्र रूप परिणामों के धारक मुनिराज को बारहवाँ क्षीणमोह गुणस्थान होता है।

प्रश्न ५५० – क्षीणमोह गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध होता है ?

उत्तर – उपशान्तमोह गुणस्थान के समान क्षीणमोह गुणस्थान में भी एकमात्र सातावेदनीय प्रकृति का बंध होता है।

प्रश्न ५५१ – क्षीणमोह गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय होता है ?

उत्तर – उपशान्तमोह गुणस्थान में जिन ५९ प्रकृतियों का उदय होता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ– वज्रनाराच और नाराच–इन दो को घटा देने पर शेष ५७ प्रकृतियों का उदय क्षीणमोह गुणस्थान में हो सकता है।

(यद्यपि क्षपकश्रेणी वाला जीव सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान से सीधे क्षीणमोह गुणस्थान में आता है तथापि यहाँ मात्र उपशान्तमोह गुणस्थान के साथ मात्र तुलनात्मक विश्लेषण किया गया है। हम ऐसा भी कह सकते हैं कि सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में जिन ६० प्रकृतियों का उदय होता है उनमें से (क्षपक श्रेणी की अपेक्षा) व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ– संज्वलन लोभ, वज्रनाराच और नाराच–इन तीन को घटा देने पर शेष ५७ प्रकृतियों का उदय क्षीणमोह गुणस्थान में हो सकता है।)

प्रश्न ५५२ – क्षीणमोह गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्त्व रहता है ?

उत्तर – सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में क्षपकश्रेणी वालों की अपेक्षा १०२ प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृति संज्वलन लोभ को घटा देने पर शेष १०१ प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है।

प्रश्न ५५३ – सयोग केवली गुणस्थान किसे कहते हैं ? और वह किसे होता है ?

उत्तर – जब घातिया कर्मों की सैंतालीस प्रकृतियाँ–ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, मोहनीय की अट्ठाईस और अंतराय की पाँच तथा अघातिया कर्मों की सोलह प्रकृतियाँ–नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, विकलत्रय की तीन, आयु की तीन, उद्योत, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म और स्थावर–इन त्रेसठ प्रकृतियों का क्षय हो जाने से लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। वे अपनी दिव्यध्वनि से भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर संसार में मोक्षमार्ग का प्रकाश करते हैं, तब मनोयोग, वचनयोग और काययोग के धारक परम भट्टारक अरहन्त भगवान को सयोगकेवली नामक तेरहवाँ गुणस्थान होता है।

प्रश्न ५५४ – सयोगकेवली गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है ?

उत्तर – उपशान्तमोह गुणस्थान और क्षीणमोह गुणस्थान के समान सयोगकेवली गुणस्थान में भी एकमात्र सातावेदनीय प्रकृति का बन्ध होता है।

प्रश्न ५५५ – सयोगकेवली गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय होता है ?

उत्तर – क्षीणमोह गुणस्थान में जिन ५७ प्रकृतियों का उदय हो सकता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ– ज्ञानावरण की पाँच, अन्तराय की पाँच, दर्शनावरण की चार, निद्रा और प्रचला–इन सोलह को घटा देने पर शेष ४१ प्रकृतियाँ और तीर्थङ्कर प्रकृति को मिलाकर कुल ४२ प्रकृतियों का उदय सयोगकेवली गुणस्थान में हो सकता है।

प्रश्न ५५६ – सयोगकेवली गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्त्व होता है ?

उत्तर – क्षीणमोह गुणस्थान में जिन १०१ प्रकृतियों का सत्त्व हो सकता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ– ज्ञानावरण की पाँच, अंतराय की पाँच, दर्शनावरण की चार, निद्रा और प्रचला–इन सोलह को घटा देने पर सयोगकेवली गुणस्थान में शेष ८५ प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है।

प्रश्न ५५७ – अयोग केवली गुणस्थान किसे कहते हैं ? और वह किसे होता है ?

उत्तर – मन, वचन, काय नामक योगों से रहित और केवलज्ञान सहित परमभट्टारक अरहन्त भगवान के परिणाम को अयोगकेवली गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थान का काल अ इ उ ऋ लृ– इन पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण करने के बराबर है। इस गुणस्थान के द्विचरम समय में सत्ताभूत ८५ प्रकृतियों में से ७२ प्रकृतियों का और चरम समय में १३ प्रकृतियों का नाश करके अरहन्त भगवान मोक्षधाम (सिद्धशिला) में जाकर सादि–अनन्त काल तक विराजमान रहते हैं।

प्रश्न ५५८ – अयोगकेवली गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध होता है ?

उत्तर – सयोगकेवली गुणस्थान में जो एकमात्र सातावेदनीय का बंध होता था, उसकी उसी गुणस्थान में व्युच्छित्ति होने से इस चौदहवें अयोग केवली गुणस्थान में किसी भी प्रकृति का बंध नहीं होता।

प्रश्न ५५९ – अयोगकेवली गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का उदय होता है ?

उत्तर – सयोगकेवली गुणस्थान में जिन ४२ प्रकृतियों का उदय होता है, उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ– एक वेदनीय, वज्रऋषभनाराच संहनन, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, प्रशस्त–विहायोगति, अप्रशस्त–विहायोगति, औदारिक शरीर, औदारिक आङ्गोपाङ्ग, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोध संस्थान, स्वाति संस्थान, कुब्जक संस्थान, वामन संस्थान, हुण्डक संस्थान, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, अगुरुलघुत्व, उपघात, परघात, उच्छ्वास और प्रत्येक–इन ३० प्रकृतियों को घटाने पर शेष १२ प्रकृतियों का उदय इस अन्तिम गुणस्थान में होता है। वे १२ प्रकृतियाँ हैं–वेदनीय की शेष एक, मनुष्यगति, मनुष्यायु, पंचेन्द्रिय जाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थङ्कर प्रकृति और उच्चगोत्र।

प्रश्न ५६० – अयोगकेवली गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का सत्त्व रहता है ?

उत्तर – सयोगकेवली गुणस्थान की तरह इस गुणस्थान में भी ८५ प्रकृतियों का सत्त्व रह सकता है, परन्तु द्विचरम-समय में इनमें से ७२ प्रकृतियाँ-शरीर की पाँच, बन्धन की पाँच, संघात की पाँच, संस्थान की छह, संहनन की छह, आङ्गोपाङ्ग की तीन, वर्ण की पाँच, गंध की दो, रस की पाँच, स्पर्श की आठ, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दु:स्वर, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, प्रशस्त विहायोगति, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, निर्माण, अयश, अनादेय, प्रत्येक, पर्याप्त अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, अनुदय रूप एक वेदनीय, नीच गोत्र-इनका सत्त्व नष्ट होता है तथा अन्तिम समय में शेष १३ प्रकृतियाँ-एक शेष वेदनीय, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, पंचेन्द्रिय, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त, आदेय, यश, तीर्थङ्कर, उच्चगोत्र-इनका सत्त्व नष्ट करके अरहन्त भगवान मोक्ष को पधारते हैं।

जिस प्रकार बन्धन युक्त प्राणी बेड़ी आदि के छूट जाने पर स्वतंत्र होकर यथेच्छ गमन करता हुआ सुखी होता है, उसी प्रकार कर्म-बन्धन का वियोग (मोक्ष) हो जाने पर आत्मा स्वाधीन होकर आत्यन्तिक ज्ञान-दर्शन व अनुपम सुख का अनुभव करता है।

(-तत्त्वार्थिवार्तिक, १/४)

जब आत्मा कर्ममल (अष्टकर्म) कलङ्क (राग-द्वेष-मोहरूपी भावकर्म) और शरीर (नोकर्म) को अपने से सर्वथा जुदा कर देता है, तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुण रूप और अव्याबाध सुख रूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, उसे मोक्ष कहते हैं।

(-सर्वार्थसिद्धि, १/१ उत्थानिका)

कर्मों के निर्मूल करने में समर्थ, ऐसा शुद्धात्मा की उपलब्धि रूप जीव का परिणाम, भावमोक्ष है और उस भावमोक्ष के निमित्त से जीव व कर्मों के प्रदेशों का निरवशेष रूप से पृथक् हो जाना, द्रव्यमोक्ष है।

(-पंचास्तिकाय संग्रह, तात्पर्यवृत्ति १०८)

मनुष्यगति से जीव का मोक्ष होना संभव है। आयु के अंत में मुक्त जीव का शरीर कपूरवत् उड़ जाता है और वे स्वाभाविक ऊर्ध्वगति के कारण लोक-शिखर पर जा विराजते हैं, जहाँ वे अनन्तकाल तक अनन्त अतीन्द्रिय सुख का उपभोग करते हुए अपने चरम शरीर के आकार रूप में स्थित रहते हैं और पुनः शरीर धारण करके जन्म-मरण के चक्कर में कभी नहीं पड़ते हैं। ज्ञान ही उनका शरीर होता है।

(-जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृष्ठ २३१)

।। इति चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।।

....

(स) अधिगम के उपाय - लक्षण, प्रमाण, नय, निक्षेप

पंचम अध्याय

अधिगम के उपाय

प्रमाण नय निक्षेप अरु लक्षण से सुज्ञान ।
अधिगम हेतु इन्हें कहा, अन्य नहीं है जान ।।

प्रश्न ५६१ - पदार्थों को जानने के कितने उपाय हैं ?

उत्तर - पदार्थों को जानने के चार उपाय हैं-लक्षण, प्रमाण, नय और निक्षेप।

५.१ लक्षण और उसके भेद

प्रश्न ५६२ - लक्षण किसे कहते हैं ?

उत्तर - बहुत से मिले हुए पदार्थों में से किसी एक पदार्थ को पृथक् करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं। जैसे-जीव का लक्षण चेतना।

(जिसके द्वारा यथार्थ पदार्थ का लक्ष्य किया जाता है, उसे लक्षण कहते हैं।)

(-न्यायविनिश्चय टीका, १/३/८५)

प्रश्न ५६३ - लक्षण के कितने भेद हैं ?

उत्तर - लक्षण के दो भेद हैं-आत्मभूत लक्षण और अनात्मभूत लक्षण।

प्रश्न ५६४ - आत्मभूत लक्षण किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो वस्तु के स्वरूप में मिला रहता है, उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे-अग्नि का लक्षण ऊष्णपना।

प्रश्न ५६५ - अनात्मभूत लक्षण किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो वस्तु के स्वरूप में नहीं मिला रहता, उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे-दण्डी पुरुष का लक्षण दण्ड।

प्रश्न ५६६ - लक्षणाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर - सदोष लक्षण को लक्षणाभास कहते हैं।

प्रश्न ५६७ - लक्षणाभास के भेद अथवा लक्षण के दोष कितने हैं ?

उत्तर - लक्षणाभास के भेद अथवा लक्षण के दोष तीन हैं-अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव।

प्रश्न ५६८ - अव्याप्ति दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर - लक्ष्य के एकदेश में लक्षण के रहने को अव्याप्ति दोष कहते हैं। जैसे-पशु का लक्षण सींग।

प्रश्न ५६९ - अतिव्याप्ति दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर - लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में लक्षण के रहने को अतिव्याप्ति दोष कहते हैं। जैसे-गाय का लक्षण सींग।

प्रश्न ५७० - असंभव दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर - लक्ष्य में लक्षण की असंभवता को असंभव दोष कहते हैं। जैसे-जीव का लक्षण अचेतनपना।

प्रश्न ५७१ – लक्ष्य किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिसका लक्षण किया जाता है, उसे लक्ष्य कहते हैं।

प्रश्न ५७२ – अलक्ष्य किसे कहते हैं ?

उत्तर – लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य पदार्थों को अलक्ष्य कहते हैं।

५.२ प्रमाण और उसके भेद-प्रभेद

प्रश्न ५७३ – प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर – सच्चे ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) को प्रमाण कहते हैं।

(स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।) (परीक्षामुख सूत्र १/१)

प्रश्न ५७४ – प्रमाण के कितने भेद हैं ?

उत्तर – प्रमाण के दो भेद हैं–प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण।

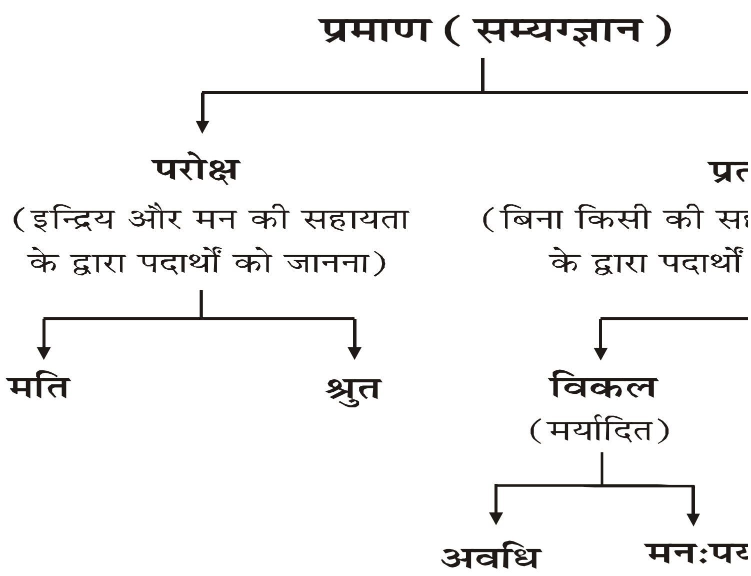

प्रश्न ५७५ – प्रत्यक्ष प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो ज्ञान, पदार्थ को स्पष्ट (विशद) जानता है, उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

प्रश्न ५७६ – प्रत्यक्ष प्रमाण के कितने भेद हैं ?

उत्तर – प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं–सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष।

प्रश्न ५७७ – सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो ज्ञान, इन्द्रिय और मन की सहायता से पदार्थ को एकदेश स्पष्ट जानता है, उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

(यहाँ परीक्षामुख आदि न्यायग्रन्थों की पद्धति से वर्णन किया गया है, अतः इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले मतिज्ञान को भी एकदेश सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं और प्रत्यक्षादि पर आधारित स्मृति आदि ज्ञानों को परोक्ष

कहते हैं। लेकिन तत्त्वार्थ सूत्र आदि सिद्धान्त ग्रन्थों में स्पष्टत: इन्द्रिय-मन की सहायता से होने वाले मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है। इसी प्रकार अध्यात्मग्रन्थों में भी आत्मा को लक्ष्य बनाकर उत्पन्न हुए मति-श्रुतज्ञान को अनुभव-प्रत्यक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष तथा पर को लक्ष्य बनाकर उत्पन्न हुए मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा जाता है।)

प्रश्न ५७८ - पारमार्थिक प्रत्यक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो ज्ञान, बिना किसी की सहायता के पदार्थ को स्पष्ट जानता है, उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

प्रश्न ५७९ - पारमार्थिक प्रत्यक्ष के कितने भेद हैं ?

उत्तर - पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं-विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष और सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष।

प्रश्न ५८० - विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो ज्ञान, रूपी पदार्थों को बिना किसी की सहायता के स्पष्ट जानता है, उसे विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

प्रश्न ५८१ - विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष के कितने भेद हैं ?

उत्तर - विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं-अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान।

प्रश्न ५८२ - अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो ज्ञान, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा सहित रूपी पदार्थ को स्पष्ट जानता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

प्रश्न ५८३ - मन:पर्ययज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो ज्ञान, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादासहित दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थ को स्पष्ट जानता है, उसे मन:पर्ययज्ञान कहते हैं।

प्रश्न ५८४ - सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर - सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष, केवलज्ञान को कहते हैं।

प्रश्न ५८५ - केवलज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो ज्ञान त्रिकालवर्ती और त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् (एक साथ) स्पष्ट जानता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

प्रश्न ५८६ - परोक्ष प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो ज्ञान दूसरे की सहायता से पदार्थों को सत्य जानता है, उसे परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

प्रश्न ५८७ - परोक्ष प्रमाण के कितने भेद हैं ?

उत्तर - परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

प्रश्न ५८८ - स्मृति किसे कहते हैं ?

उत्तर - पहले जाने हुए या देखे हुए पदार्थ को याद करना स्मृति है।

प्रश्न ५८९ - प्रत्यभिज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर - प्रत्यक्ष और स्मृति के विषयभूत पदार्थों में जोड़ रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे-यह वही मनुष्य है, जिसे कल देखा था।

प्रश्न ५९० – प्रत्यभिज्ञान के कितने भेद हैं ?

उत्तर – प्रत्यभिज्ञान के अनेक भेद हैं–एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान आदि।

प्रश्न ५९१ – एकत्व प्रत्यभिज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर – प्रत्यक्ष और स्मृति के विषयभूत पदार्थ की एकता के सूचक जोड़ रूप ज्ञान को एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे–यह वही मनुष्य है, जिसे कल देखा था।

प्रश्न ५९२ – सादृश्य प्रत्यभिज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर – प्रत्यक्ष और स्मृति के विषयभूत पदार्थों की समानता के सूचक जोड़ रूप ज्ञान को सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे–यह गाय, गवय (नील गाय) के सदृश है।

प्रश्न ५९३ – तर्क किसे कहते हैं ?

उत्तर – व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।

प्रश्न ५९४ – व्याप्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर – अविनाभाव सम्बंध को व्याप्ति कहते हैं।

प्रश्न ५९५ – अविनाभाव सम्बंध किसे कहते हैं ?

उत्तर – जहाँ–जहाँ साधन (हेतु) होता है, वहाँ–वहाँ साध्य होता है और जहाँ–जहाँ साध्य नहीं होता है, वहाँ–वहाँ साधन भी नहीं होता है, यही अविनाभाव सम्बंध है। जैसे–जहाँ–जहाँ धूम है, वहाँ–वहाँ अग्नि है और जहाँ–जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ–वहाँ धूम भी नहीं है।

(प्रश्न – अविनाभाव के कितने भेद हैं ?

उत्तर – अविनाभाव के दो भेद हैं – सहभावनियम और क्रमभावनियम। सहचारी और व्याप्य–व्यापक रूप पदार्थों में सहभावनियम होता है। जैसे – रूप और रस, रूप और पुद्गल अथवा नीम और वृक्ष तथा पूर्वोत्तरचारी और कारण–कार्यरूप पदार्थों में क्रमभावनियम होता है। जैसे–रविवार और सोमवार अथवा मोक्षमार्ग और मोक्ष।)

(–परीक्षामुख, ३/१६–१८)

प्रश्न ५९६ – साधन या हेतु किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो साध्य के बिना नहीं होता है, उसे साधन या हेतु कहते हैं। जैसे–अग्नि को जानने का साधन, धूम है।

प्रश्न ५९७ – साध्य किसे कहते हैं ?

उत्तर – इष्ट, अबाधित और असिद्ध को साध्य कहते हैं।

प्रश्न ५९८ – इष्ट किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिसे वादी और प्रतिवादी सिद्ध करना चाहते हैं, उसे इष्ट कहते हैं।

प्रश्न ५९९ – अबाधित किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं होता है, उसे अबाधित कहते हैं। जैसे–अग्नि का ठण्डापना प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है, अतः अग्नि का ठण्डापना साध्य नहीं हो सकता।

प्रश्न ६०० – असिद्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध नहीं हो, उसे असिद्ध कहते हैं अथवा जिसका पहले से निश्चय

नहीं है, उसे असिद्ध कहते हैं।

प्रश्न ६०१ – अनुमान किसे कहते हैं ?

उत्तर – साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

(प्रश्न – अनुमान के कितने भेद हैं ?

उत्तर – अनुमान के दो भेद हैं–स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। जो अनुमान, परोपदेश के बिना स्वयमेव ही होता है, वह स्वार्थानुमान है तथा जो अनुमान, परोपदेश से होता है, वह परार्थानुमान है।) (–न्यायदीपिका, ३/६२८–२९)

प्रश्न ६०२ – हेत्वाभास (साधनाभास) किसे कहते हैं ?

उत्तर – सदोष हेतु को हेत्वाभास (साधनाभास) कहते हैं।

प्रश्न ६०३ – हेत्वाभास (साधनाभास) के कितने भेद हैं ?

उत्तर – हेत्वाभास (साधनाभास) के चार भेद हैं–असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक (व्यभिचारी) और अकिंचित्कर।

प्रश्न ६०४ – असिद्ध हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस हेतु के अभाव का निश्चय हो, अथवा जिसके सद्भाव में संदेह (शक) हो, उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे–'शब्द नित्य है, क्योंकि नेत्र का विषय है।' यहाँ शब्द, कर्ण का विषय होने से नेत्र का विषय नहीं हो सकता, अत: 'नेत्र का विषय' हेतु असिद्ध हेत्वाभास है।

प्रश्न ६०५ – विरुद्ध हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस हेतु की साध्य से विरुद्ध पदार्थ के साथ व्याप्ति होती है, उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे–'शब्द नित्य है, क्योंकि परिणामी है।' यहाँ परिणामीपने की व्याप्ति अनित्य के साथ है, नित्य के साथ नहीं है, इसलिये नित्यत्व की सिद्धि के लिए 'परिणामी' हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।

प्रश्न ६०६ – अनैकान्तिक (व्यभिचारी) हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष–इन तीनों में व्याप्त होता है, उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं। जैसे–'यह स्थान धूमवाला है, क्योंकि यहाँ अग्नि है।' यहाँ 'अग्नि' हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष–तीनों में व्यापक होने से अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

प्रश्न ६०७ – पक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर – जहाँ साध्य सिद्ध किया जाता है, उसे पक्ष कहते हैं। जैसे–उक्त दृष्टांत के अनुसार 'यह स्थान' पक्ष है।

प्रश्न ६०८ – सपक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर – अन्यत्र जहाँ साध्य के सद्भाव का निश्चय होता है, उसे सपक्ष कहते हैं। जैसे–उक्त दृष्टांत के अनुसार धूमयुक्त गीले ईंधन की अग्निवाला 'अन्य रसोई घर' सपक्ष है।

प्रश्न ६०९ – विपक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर – जहाँ साध्य के अभाव का निश्चय होता है, उसे विपक्ष कहते हैं। जैसे–निर्धूम अग्नि से तपा हुआ लोहे का गोला।

प्रश्न ६१० – अकिंचित्कर हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो हेतु साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ होता है, उसे अकिंचित्कर हेत्वाभास कहते हैं।

प्रश्न ६११ – अकिंचित्कर हेत्वाभास के कितने भेद हैं ?

उत्तर – अकिंचित्कर हेत्वाभास के दो भेद हैं–सिद्धसाधन और बाधितविषय।

प्रश्न ६१२ – सिद्ध साधन हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस हेतु का साध्य पहले से ही सिद्ध होता है, उसे सिद्धसाधन हेत्वाभास कहते हैं। जैसे–अग्नि गर्म है, क्योंकि स्पर्शन इन्द्रिय से ऐसा ही प्रतीत होता है।

प्रश्न ६१३ – बाधित विषय हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस हेतु के साध्य में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधा आती है, उसे बाधित विषय हेत्वाभास कहते हैं। जैसे–आत्मा अचेतन है, क्योंकि यह द्रव्य है।

प्रश्न ६१४ – बाधित विषय हेत्वाभास के कितने भेद हैं ?

उत्तर – बाधित विषय हेत्वाभास के अनेक भेद हैं–प्रत्यक्ष बाधित, अनुमानबाधित, आगमबाधित, स्ववचनबाधित आदि।

प्रश्न ६१५ – प्रत्यक्षबाधित हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस हेतु के साध्य में प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधा आती है, उसे प्रत्यक्षबाधित हेत्वाभास कहते हैं। जैसे–अग्नि ठण्डी है, क्योंकि यह द्रव्य है।

प्रश्न ६१६ – अनुमानबाधित हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस हेतु के साध्य में अनुमान प्रमाण से बाधा आती है, उसे अनुमान बाधित हेत्वाभास कहते हैं। जैसे–'घास आदि किसी कर्ता के द्वारा बनायी है, क्योंकि ये कार्य है।' परन्तु यहाँ इस अनुमान से बाधा आती है कि घास आदि किसी के द्वारा बनायी नहीं है, क्योंकि इनको बनाने वाला कोई शरीरधारी नहीं है। जो वस्तुएँ किसी शरीरधारी के द्वारा बनायी नहीं है, वे किसी कर्ता के द्वारा बनाई नहीं हैं। जैसे–आकाश।

प्रश्न ६१७ – आगमबाधित हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस हेतु के साध्य में शास्त्रप्रमाण से बाधा आती है, उसे आगमबाधित हेत्वाभास कहते हैं। जैसे–पाप सुख को देने वाला है, क्योंकि यह कर्म है। जो–जो कर्म होते हैं, वे–वे सुख को देने वाले होते हैं। यथा–पुण्यकर्म। यहाँ शास्त्रप्रमाण से बाधा आती है, क्योंकि शास्त्र में पाप को सुख का नहीं, दु:ख का देने वाला लिखा है।

प्रश्न ६१८ – स्ववचनबाधित हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर – जिस हेतु के साध्य में अपने वचन से ही बाधा आती है, उसे स्ववचनबाधित हेत्वाभास कहते हैं। जैसे–मेरी माता बाँझ (बन्ध्या) है, क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर भी उसके गर्भ नहीं रहता है।

प्रश्न ६१९ – अनुमान के कितने अङ्ग हैं ?

उत्तर – अनुमान के पाँच अङ्ग हैं–प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन आदि।

(परीक्षामुख आदि न्यायग्रन्थों में अनुमान के दो ही अङ्ग बताये गये हैं–प्रतिज्ञा और हेतु। वहाँ उदाहरण आदि को अनुमान का अङ्ग नहीं माना गया है, क्योंकि अन्य मतों के साथ वाद करते समय सबल हेतु ही साध्य को सिद्ध करता है, उदाहरण नहीं। उपनय और निगमन भी उसी बात को दोहराते हैं, अतः उदाहरण, उपनय और निगमन को अनुमान का अङ्ग नहीं माना है, लेकिन शिष्यों को समझाते समय अथवा स्वमतवादियों के साथ वीतराग चर्चा करते समय उदाहरण आदि का प्रयोग करने में दोष नहीं है।) (–परीक्षामुखसूत्र ३/३३, ४२ एवं न्यायदीपिका ३/६३६)

प्रश्न ६२० – प्रतिज्ञा किसे कहते हैं ?

उत्तर – पक्ष में साध्य के कहने को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे–'इस पर्वत पर अग्नि है।'

प्रश्न ६२१ – हेतु किसे कहते हैं ?

उत्तर – साध्य के अविनाभावी साधन के वचन को हेतु कहते हैं। जैसे–क्योंकि यह धूमवान है।

प्रश्न ६२२ – उदाहरण किसे कहते हैं ?

उत्तर – व्याप्ति के कथनपूर्वक दृष्टांत के कहने को उदाहरण कहते हैं। जैसे–जहाँ–जहाँ धूम है, वहाँ–वहाँ अग्नि है, यथा–रसोईघर तथा जहाँ–जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ–वहाँ धूम भी नहीं है, यथा–तालाब।

प्रश्न ६२३ – दृष्टांत किसे कहते हैं ?

उत्तर – जहाँ पर साध्य और साधन का सद्भाव या असद्भाव दिखाया जाता है, उसे दृष्टांत कहते हैं। जैसे–रसोईघर अथवा तालाब।

प्रश्न ६२४ – दृष्टांत के कितने भेद हैं ?

उत्तर – दृष्टांत के दो भेद हैं–अन्वय दृष्टांत और व्यतिरेक दृष्टांत।

प्रश्न ६२५ – अन्वय दृष्टांत किसे कहते हैं ?

उत्तर – जहाँ साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव दिखाया जाता है,उसे अन्वय दृष्टांत कहते हैं। जैसे–रसोईघर में धूम का सद्भाव होने पर अग्नि का सद्भाव दिखाया गया है।

प्रश्न ६२६ – व्यतिरेक दृष्टांत किसे कहते हैं ?

उत्तर – जहाँ साध्य के असद्भाव में साधन का असद्भाव दिखाया जाता है, उसे व्यतिरेक दृष्टांत कहते हैं। जैसे–तालाब में अग्नि का अभाव होने से धूम का अभाव दिखाया गया है।

प्रश्न ६२७ – उपनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – दृष्टांत की सदृशता दिखाकर पुनः पक्ष में साधन या हेतु का उपसंहार करना या दुहराना, उपनय है। जैसे–'यह पर्वत भी वैसा ही धूमवान है।'

प्रश्न ६२८ – निगमन किसे कहते हैं ?

उत्तर – साधन के उपसंहार के बाद निष्कर्ष निकालकर प्रतिज्ञा का उपसंहार करना या दुहराना, निगमन है। जैसे–'इसलिये यह पर्वत भी अग्निवान् है।'

प्रश्न ६२९ – हेतु के कितने भेद हैं ?

उत्तर – हेतु के तीन भेद हैं– केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वय–व्यतिरेकी।

(हेतु के संक्षेप में दो भेद हैं–विधि रूप और निषेध रूप। उनके भी विधि साधक और निषेधसाधक के भेद से दो–दो भेद हैं। अर्थात् जब हेतु स्वयं विधि रूप होता है और उसका साध्य भी विधि रूप होता है, तब विधि साधक–विधि रूप

हेतु कहलाता है। जब हेतु विधि रूप होता है, परन्तु उसका साध्य निषेध रूप होता है तो निषेध साधक विधि रूप हेतु कहलाता है। इसी प्रकार जब हेत निषेध रूप होता है, परन्तु उसका साध्य विधि रूप होता है, तब विधि साधक-निषेध रूप हेतु कहलाता है। लेकिन जब हेतु निषेध रूप होता है और उसका साध्य भी निषेध रूप होता है, तब निषेध साधक-निषेध रूप हेतु कहलाता है।) (न्यायदीपिका, ३/५२, ५८)

प्रश्न ६३० - केवलान्वयी हेतु किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिस हेतु की पुष्टि में सिर्फ अन्वयदृष्टांत होता है अथवा जो हेतु पक्ष और सपक्ष में रहता है तथा विपक्ष से रहित होता है, उसे केवलान्वयी हेतु कहते हैं। जैसे-जीव अनेकान्त स्वरूप है, क्योंकि सत्स्वरूप है, जो-जो सत्स्वरूप होता है, वह-वह अनेकांत स्वरूप होता है; यथा-पुद्गल आदि।

प्रश्न ६३१ - केवलव्यतिरेकी हेतु किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिस हेतु की पुष्टि में सिर्फ व्यतिरेक दृष्टांत पाया जाता है अथवा जो हेतु पक्ष में रहता है, विपक्ष में नहीं रहता है और सपक्ष से रहित होता है, उसे केवलव्यतिरेकी हेतु कहते हैं। जैसे-जिन्दा शरीर में आत्मा है, क्योंकि इसमें श्वासोच्छ्वास है, जहाँ-जहाँ आत्मा नहीं होता, वहाँ-वहाँ श्वासोच्छ्वास भी नहीं होता, यथा-चौकी आदि।

प्रश्न ६३२ - अन्वयव्यतिरेकी हेतु किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिस हेतु की पुष्टि में अन्वय दृष्टांत और व्यतिरेकदृष्टांत दोनों होते हैं अथवा जो पक्ष और सपक्ष में रहता है और विपक्ष में नहीं रहता है, उसे अन्वयव्यतिरेकी हेतु कहते हैं। जैसे-इस पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि यह धूमवाला है, जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, यथा-रसोईघर। जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती है, वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं होता है, यथा-तालाब।

प्रश्न ६३३ - आगमप्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर - आप्त के वचन आदि से उत्पन्न होने वाले पदार्थ के ज्ञान को आगमप्रमाण कहते हैं।

प्रश्न ६३४ - आप्त किसे कहते हैं ?

उत्तर - परम हितोपदेशक वीतरागी सर्वज्ञदेव को आप्त कहते हैं।

५.३ प्रमाण का विषय

प्रश्न ६३५ - प्रमाण का विषय क्या है ?

उत्तर - सामान्य अथवा धर्मी और विशेष अथवा धर्म-दोनों अंशों के समूह रूप वस्तु प्रमाण का विषय है।

(सामान्य-विशेषात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय है।) (-परीक्षामुख सूत्र ४/१)

(प्रश्न १- सामान्य किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो समस्त विशेषों में रहता हुआ भी अपने एकत्व स्वभाव को नहीं छोड़ता है, उसे सामान्य कहते हैं।

प्रश्न २- सामान्य के कितने भेद हैं ?

उत्तर - सामान्य के दो भेद हैं-विस्तारसामान्य और आयतसामान्य अथवा तिर्यक्सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य।

प्रश्न ३- विस्तारसामान्य या तिर्यक्सामान्य किसे कहते हैं ?

उत्तर - विस्तार विशेष स्वरूप गुणों या प्रदेशों में रहने वाला सामान्य विस्तार सामान्य है। अथवा एक काल में अनेक व्यक्तियों में रहने वाला सामान्य तिर्यक्सामान्य है।

प्रश्न ४ - आयतसामान्य या ऊर्ध्वतासामान्य किसे कहते हैं ?

उत्तर - आयत विशेष स्वरूप क्रमभावी पर्यायों में रहने वाला सामान्य आयतसामान्य है अथवा अनेक कालों में एक व्यक्ति में रहने वाला सामान्य ऊर्ध्वतासामान्य है।)

(प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका एवं तात्पर्यवृत्ति, ९३)

प्रश्न ६३६ - विशेष किसे कहते हैं ?

उत्तर - वस्तु के किसी अंश अथवा भाग को विशेष कहते हैं।

प्रश्न ६३७ - विशेष के कितने भेद हैं ?

उत्तर - विशेष के दो भेद हैं-सहभावीविशेष और क्रमभावीविशेष।

(विशेष के दो भेद हैं-विस्तारविशेष और आयतविशेष अर्थात् सहभावीविशेष, गुण और विस्तारविशेष एकार्थवाची है तथा क्रमभावीविशेष, पर्याय और आयतविशेष एकार्थवाची हैं।)

(-प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका एवं तात्पर्यवृत्ति, ९३)

प्रश्न ६३८ - सहभावीविशेष किसे कहते हैं ?

उत्तर - वस्तु के सम्पूर्ण भाग और उसकी सब अवस्थाओं में रहने वाले विशेष को सहभावी विशेष अथवा गुण कहते हैं।

प्रश्न ६३९ - क्रमभावीविशेष किसे कहते हैं ?

उत्तर - वस्तु में क्रम से होने वाले विशेष को क्रमभावीविशेष अथवा पर्याय कहते हैं।

५.४ प्रमाणाभास और उसके भेद

प्रश्न ६४० - प्रमाणाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर - मिथ्याज्ञान को प्रमाणाभास कहते हैं।

प्रश्न ६४१ - प्रमाणाभास के कितने भेद हैं ?

उत्तर - प्रमाणाभास के तीन भेद हैं-संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय।

प्रश्न ६४२ - संशय किसे कहते हैं ?

उत्तर - विरुद्ध अनेक कोटियों को स्पर्श करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं। जैसे-यह सीप है या चाँदी।

प्रश्न ६४३ - विपर्यय किसे कहते हैं ?

उत्तर - विपरीत एक कोटी का निश्चय करने वाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जैसे-सीप को चाँदी जानना।

प्रश्न ६४४ - अनध्यवसाय किसे कहते हैं ?

उत्तर - यह कुछ है-ऐसे प्रतिभास रूप ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे-मार्ग चलते हुए तृण आदि का ज्ञान।

५.५ नय और उसके भेद-प्रभेद

प्रश्न ६४५ – नय किसे कहते हैं ?

उत्तर – वस्तु के एकदेश को जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं।

प्रश्न ६४६ – नय के कितने भेद हैं ?

उत्तर – नय के दो भेद हैं-निश्चयनय और व्यवहारनय (उपनय)।

(नयों के भेद-प्रभेदों का विस्तार नयचक्र आदि ग्रन्थों से जानना चाहिये।)

प्रश्न ६४७ – निश्चयनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – वस्तु के किसी वास्तविक अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को निश्चय कहते हैं। जैसे-मिट्टी के घड़े को, मिट्टी का घड़ा कहना।

प्रश्न ६४८ – व्यवहारनय (उपनय) किसे कहते हैं ?

उत्तर – किसी निमित्त के वश से एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ रूप जानने वाले ज्ञान को व्यवहारनय अथवा उपनय कहते हैं। जैसे-मिट्टी के घड़े को, घी के रहने के निमित्त से घी का घड़ा कहना।

प्रश्न ६४९ – निश्चय के कितने भेद हैं ?

उत्तर – निश्चयनय के दो भेद हैं-द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय।

प्रश्न ६५० – द्रव्यार्थिकनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो नय, द्रव्य अर्थात् सामान्य को ग्रहण करता है, उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं।

प्रश्न ६५१ – पर्यायार्थिकनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो नय, विशेष (गुण अथवा पर्याय) को विषय करता है, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

प्रश्न ६५२ – द्रव्यार्थिकनय के कितने भेद हैं ?

उत्तर – द्रव्यार्थिकनय के तीन भेद हैं-नैगम, संग्रह और व्यवहार।

प्रश्न ६५३ – नैगमनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो नय दो पदार्थों में से एक को गौण और दूसरे को प्रधान करके भेद अथवा अभेद को विषय करने वाला होता है, उसे नैगमनय कहते हैं। अथवा पदार्थ के संकल्प को ग्रहण करने वाला ज्ञान नैगमनय है। जैसे-कोई आदमी रसोई में चावल लेकर चुन रहा था। किसी ने उससे पूछा कि 'क्या कर रहे हो?' तब उसने कहा कि 'भात बना रहा हूँ।' यहाँ चावल और भात में अभेदविवक्षा है। अथवा चावलों में भात का संकल्प है।

प्रश्न ६५४ – संग्रहनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो नय अपनी जाति का विरोध नहीं करके अनेक विषयों को एकपने से ग्रहण करता है, उसे संग्रहनय कहते हैं। जैसे-जीव के कहने से चारों गति के सब जीवों का ग्रहण होता है।

प्रश्न ६५५ – व्यवहारनय (द्रव्यार्थिकनय का एक भेद) किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो नय, संग्रहनय से ग्रहण किये हुए पदार्थों में विधि पूर्वक भेद करता है, उसे व्यवहारनय

(द्रव्यार्थिकनय का एक भेद) कहते हैं। जैसे–जीव के त्रस, स्थावर आदि भेद करना।

प्रश्न ६५६ – पर्यायार्थिकनय के कितने भेद हैं ?

उत्तर – पर्यायार्थिकनय के चार भेद हैं–ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत।

प्रश्न ६५७ – ऋजुसूत्र किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो नय, भूत–भविष्यत् की अपेक्षा नहीं करके वर्तमान पर्यायमात्र को ग्रहण करता है, उसे ऋजुसूत्र कहते हैं।

प्रश्न ६५८ – शब्दनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो नय, लिङ्ग, कारक, वचन, काल, उपसर्ग आदि के भेद से पदार्थ को भेद रूप ग्रहण करता है, उसे शब्दनय कहते हैं। जैसे–दार, भार्या, कलत्र। ये तीनों भिन्न–भिन्न लिङ्ग के शब्द एक ही स्त्री पदार्थ के वाचक हैं, अत: यह नय, स्त्री पदार्थ को तीन भेद रूप को ग्रहण करता है। इसी प्रकार कारक आदि के भी दृष्टांत जानना चाहिये।

प्रश्न ६५९ – समभिरूढ़नय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो नय, लिङ्ग आदि का भेद न होने पर भी पर्यायवाची शब्दों के भेद से पदार्थ को भेद रूप ग्रहण करता है, उसे समभिरूढ़नय कहते हैं। जैसे–इन्द्र, शक्र, पुरन्दर। यद्यपि ये तीनों एक ही लिङ्ग के पर्यायवाची शब्द देवराज के वाचक हैं, तथापि यह नय, देवराज को तीन भेद रूप ग्रहण करता है।

प्रश्न ६६० – एवंभूतनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो नय, जिस शब्द का जो क्रियारूप अर्थ है, उसी क्रिया रूप से परिणमित पदार्थ को ग्रहण करता है, उसे एवंभूतनय कहते हैं। जैसे–किसी व्यक्ति को पूजा करते समय ही पुजारी कहना।

प्रश्न ६६१ – व्यवहारनय (उपनय) के कितने भेद हैं ?

उत्तर – व्यवहारनय (उपनय) के तीन भेद हैं–सद्भूत व्यवहारनय, असद्भूत व्यवहारनय और उपचरित व्यवहारनय अथवा उपचरित–असद्भूत व्यवहारनय।

प्रश्न ६६२ – सद्भूत व्यवहारनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो नय, एक अखण्ड द्रव्य को भेद रूप से विषय करता है, उसे सद्भूत व्यवहारनय कहते हैं। जैसे–जीव के केवलज्ञान आदि अथवा मतिज्ञान आदि गुण हैं।

प्रश्न ६६३ – असद्भूत व्यवहारनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो नय, मिले हुए भिन्न पदार्थों को अभेद रूप से ग्रहण करता है, उसे असद्भूत व्यवहारनय कहते हैं। जैसे–यह शरीर मेरा है अथवा मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहना।

प्रश्न ६६४ – उपचरित व्यवहारनय अथवा उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय किसे कहते हैं ?

उत्तर – जो नय, अत्यंत भिन्न पदार्थों को अभेद रूप से ग्रहण करता है, उसे उपचरित–असद्भूत व्यवहारनय कहते हैं। जैसे–हाथी, घोड़ा, महल मकान आदि मेरे हैं।

५.६ निक्षेप और उसके भेद

प्रश्न ६६५ - निक्षेप किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो युक्तिपूर्वक युक्तिसंगत मार्ग से होते हुए प्रयोजनवश नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव में पदार्थ को स्थापन करता है, उसे निक्षेप कहते हैं।

प्रश्न ६६६ - निक्षेप के कितने भेद हैं ?

उत्तर - निक्षेप के चार भेद हैं-नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप।

प्रश्न ६६७ - नामनिक्षेप किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिस पदार्थ में जो गुण नहीं है, उसको उस नाम से कहना नामनिक्षेप है। जैसे-किसी ने अपने लड़के का नाम हाथीसिंह रखा है, परन्तु उसमें हाथी और सिंह दोनों के गुण नहीं हैं।

प्रश्न ६६८ - स्थापनानिक्षेप किसे कहते हैं ?

उत्तर - साकार (तदाकार) अथवा निराकार (अतदाकार) पदार्थ में 'यह वही हैं'-इस प्रकार अवधान (मनायोगपूर्वक निश्चय) करके निक्षेप करने को स्थापनानिक्षेप कहते हैं। (स्थापना निक्षेप आदि का स्वरूप इस प्रसंग के सबसे अंत में दिये हुए विवरण के माध्यम से जानें)

प्रश्न ६६९ - नामनिक्षेप और स्थापनानिक्षेप में क्या अंतर है ?

उत्तर - नामनिक्षेप में मूल पदार्थ की तरह सत्कार आदि की प्रवृत्ति नहीं होती, परन्तु स्थापनानिक्षेप में वैसी प्रवृत्ति होती है।

प्रश्न ६७० - द्रव्यनिक्षेप किसे कहते हैं ?

उत्तर - आगामी पर्याय की योग्यता रखने वाले पदार्थ को द्रव्यनिक्षेप कहते हैं। जैसे-राजा के पुत्र को राजा कहना।

प्रश्न ६७१ - भावनिक्षेप किसे कहते हैं ?

उत्तर - वर्तमान पर्यायसंयुक्त वस्तु को भावनिक्षेप कहते हैं। जैसे-राज्य करते हुए पुरुष को राजा कहना।

॥ इति पंचमोऽध्यायः समाप्तः॥

चिंतन का विषय - निक्षेप

लक्षण - काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिसु सोऽयं इति स्थाप्यमानास्थापना।

काष्ठ कर्म, पुस्त कर्म, चित्र कर्म, अक्ष निक्षेप आदि में 'यह वह है' ऐसी मनोभावना करना स्थापना है। इसमें बुद्धि के द्वारा अन्य वस्तु का अन्य वस्तु में आरोपित कथन होता है।

नाम निक्षेप से जिस वस्तु की संज्ञा कर ली गई हो उसी में मनोभावना से आरोप करना स्थापना है।
(सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक)

भेद - स्थापना निक्षेप के तदाकार, अतदाकार अथवा साकार अनाकार ऐसे दो भेद कहे गये हैं। जो स्थापना कृति है वह काष्ठ कर्मों में, चित्र कर्मों में, पोत कर्मों में, लेप्य कर्मों में, लयन कर्मों में, शैल कर्मों में, गृह कर्मों में, भित्ति कर्मों में, दन्त कर्मों में, भेंड़ कर्मों में अथवा अक्ष या वराटक (कौड़ी व शतरंज का पांसा) तथा इनको आदि लेकर अन्य भी जो कृति इस स्थापना में स्थापित किये जाते हैं, वह सब स्थापना कृति कहलाती है। (षट्खंडागम ९/४,१/सूत्र ५२, २४८)

सद्भाव या तदाकार स्थापना - भाव निक्षेप के द्वारा कहे गये अर्थात् वास्तविक पर्याय से परिणत इन्द्र आदि के समान बनी हुई काष्ठ आदि की प्रतिमा में आरोपे हुए उन इन्द्र आदि की स्थापना सद्भाव (तदाकार अथवा साकार) स्थापना है।

काष्ठ कर्म से भेंडकर्म तक जितने कर्म निर्दिष्ट किये गये हैं उनकी सद्भाव स्थापना कही गई है।

असद्भाव सा अतदाकार स्थापना - मुख्य आकारों से शून्य केवल वस्तु में ''यह वह है'' ऐसी मान्यता कर लेना असद्भाव स्थापना है। अक्ष वराटक (कौड़ी) व शतरंज के पांसों में असद्भाव (अतदाकार अथवा निराकार) स्थापना कही गई है।

काष्ठ कर्म आदि का स्वरूप -

०१. काष्ठ कर्म - नाचना, हंसना, गाना तथा तुरही एवं वीणा आदि वाद्यों के बजाने रूप क्रियाओं में प्रवृत्त हुए देव, नारकी, तिर्यञ्च और मनुष्यों की काष्ठ से निर्मित प्रतिमाओं को काष्ठ कर्म कहते हैं।

०२. चित्र कर्म - पट, कुड्य (भित्ति) एवं फलहिका (काष्ठ आदि का तख्ता) आदि में नाचने आदि क्रिया में प्रवृत्त देव, नारकी, तिर्यञ्च और मनुष्यों की प्रतिमाओं को चित्र कर्म कहते हैं, क्योंकि चित्र से जो किये जाते हैं वे चित्र कर्म हैं ऐसी व्युत्पत्ति है।

०३. पोत्त कर्म - पोत्त का अर्थ है वस्त्र, उससे की गई प्रतिमाओं को पोत्त कर्म कहते हैं।

०४. लेप्य कर्म - कूट (तृण), शर्करा (बालू) व मृत्तिका (मिट्टी), आदि के लेप का नाम लेप्य है, उससे निर्मित प्रतिमायें लेप्य कर्म कही जाती हैं।

०५. लयन कर्म - लयन का अर्थ है पर्वत, उसमें निर्मित प्रतिमाओं का नाम लयन कर्म है।

०६. शैल कर्म - शैल का अर्थ है पत्थर, उससे निर्मित प्रतिमाओं का नाम शैल कर्म है।

०७. गृह कर्म - घोड़ा, हाथी, मनुष्य एवं वराह (शूकर) आदि के स्वरूप से निर्मित घर गृह कर्म है।

०८. भित्ति कर्म - घर की दीवालों में उनसे अभिन्न रची गई प्रतिमाओं का नाम भित्ति कर्म है।

०९. दन्त कर्म - हाथी दांत पर खोदी हुई प्रतिमाओं का नाम दन्त कर्म है।

१०. भेंड़ कर्म – भेंड़ सुप्रसिद्ध है, उस पर खोदी गई प्रतिमाओं का नाम भेंड़ कर्म है।

११. अक्ष कर्म – अक्ष का अर्थ द्यूताक्ष या शकटाक्ष लेना चाहिये अर्थात् हार जीत के अभिप्राय से ग्रहण किये गये जुआ खेलने के अथवा शतरंज व चौसर आदि के पांसों को अक्ष कहते हैं।

१२. वराटक का अर्थ कपर्दिका (कौड़ी) समझना चाहिये। (धवला – १३/५,३,१०/९/८)

यहाँ यह सम्पूर्ण विवरण स्थापना निक्षेप का विभिन्न ग्रंथों के माध्यम से इसलिये स्पष्ट किया गया है कि इस विषय को सभी भव्य जीव यथार्थ रूप में समझ सकें।

निक्षेप का अर्थ क्या है, इसे अपनी भाषा में आर्ष ग्रंथों से समझ लेना आवश्यक है।

राजवार्तिक ग्रंथ में आचार्य अकलंक देव कहते हैं – ''न्यसनं न्यस्त इति वा न्यासो निक्षेप इत्यर्थः'' अर्थात् सौंपना या धरोहर रखना निक्षेप कहलाता है अर्थात् नाम आदिकों में वस्तु को रखने का नाम निक्षेप है। इसका आशय यह है कि संसार में लोक व्यवहार चलाने हेतु कुछ व्यवस्था होती है, इसके लिये वस्तुओं के नामकरण करना, संज्ञा रखना आदि आवश्यक होता है। इसलिये धवला और तिलोय पण्णत्ति ग्रंथ में कहा है – ''नाम आदि के द्वारा वस्तु में भेद करने के उपाय को न्यास या निक्षेप कहते हैं।'' धवला ग्रंथ में निक्षेप की उपयोगिता के बारे में स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं –

संशये विपर्यये अनध्यवसाये वा स्थित तेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः।

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय में अनवस्थित वस्तु को उनसे निकाल कर जो निश्चय में क्षेपण करता है अर्थात् रखता है उसे निक्षेप कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि जो अनिर्णीत वस्तु का नाम आदि के द्वारा निर्णय करावे उसे निक्षेप कहते हैं। कषायपाहुड़ ग्रंथ में भी निक्षेप का इसी प्रकार स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

जैसे – गुण जाति या क्रिया की अपेक्षा किये बिना किसी का यथेच्छ नाम रख लेना नाम निक्षेप है। किसी व्यक्ति का नाम जिनदत्त रख लिया सो यह नाम लोक व्यवहार में पहिचान के लिये है। इसी प्रकार अन्य अनेकों पदार्थ हैं जिनके नामों से हम उन्हें पहिचानते हैं। अभिप्राय यह है कि वस्तु की पहिचान के लिये उसकी जो संज्ञा रख ली जाती है उसे नाम निक्षेप कहते हैं। इसी प्रकार लोक व्यवहार के अंतर्गत स्थापना निक्षेप भी आता है। जैसे – किसी अनुपस्थित (अविद्यमान) वस्तु का किसी दूसरी उपस्थित वस्तु में सम्बंध बैठाकर मन से कल्पना कर लेना कि ''यह वही है'' ऐसी भावना को स्थापना निक्षेप कहते हैं। पुनश्च, बुद्धि के द्वारा स्थापित किया जाने वाला जो पदार्थ वर्ण और आकार आदि के द्वारा अन्य पदार्थ जैसा प्रतीत हो उसे तदाकार या सद्भाव स्थापना कहते हैं।

आकार शून्य वस्तु में अपनी इच्छानुसार 'यह वह है' ऐसी कल्पना करना अतदाकार या असद्भाव स्थापना है। जैसे – शतरंज की गोटियों को हाथी, घोड़ा, वजीर आदि कहना।

तदाकार स्थापना का उदाहरण इस प्रकार है –

जैसे – पिता जी का फोटो देखकर कहा यही जाता है कि ''यह पिता जी हैं'' किन्तु वास्तव में वहाँ पिता जी नहीं हैं, फोटो मात्र है। इसलिये तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ में प्रथम अध्याय के पाँचवें सूत्र की टीका में कहा है

– ''सदृश्यता को स्थापना निक्षेप का कारण नहीं मान लेना चाहिये, उसका कारण तो केवल मनोभावना ही है। जन समुदाय की यह मानसिकता भावना जहाँ होती है वहाँ स्थापना निक्षेप समझना चाहिये।''

(तत्त्वार्थ सूत्र टीका जयपुर प्रकाशन सन् १९९२ ई.)

लोक व्यवहार में जो वस्तु जैसी होती है उसे वैसी ही स्वीकारने में सत्यता का आधार रहता है। उदाहरण स्वरूप सद्भाव स्थापना के अंतर्गत काष्ठ कर्म, चित्र कर्म, पोत्त कर्म, लेप्य कर्म, लयन कर्म, शैल कर्म, गृह कर्म, भित्ति कर्म, दन्त कर्म, भेंड़ कर्म आदि का लोक व्यवहार में प्रचलन देखा जाता है। कलापूर्ण हमारी संस्कृति ने विभिन्न आयामों में यश प्राप्त किया है, इन सभी काष्ठ कर्म आदि में जीव अपनी धारणाओं से अनेक प्रकार के मनोभाव बनाता है। इन मनोभावों में मूल वस्तु का अभाव रहता है। जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ की अंग्रेजी टीका में कहा गया है – In sthapana the connotation is merly attributed. It is never there. It can not be there अर्थात् निक्षेप में बताना मात्र आरोपित है,उसमें वह (मूल वस्तु) कदापि नहीं है, मूल वस्तु वहाँ कदापि नहीं हो सकती।

सत्य अनन्त है, असीम है। सत्य को मन की कल्पनाओं की सीमा में बांधा जाना संभव नहीं है। परमात्मा अरिहंत सिद्ध भगवान सच्चे देव हैं, पंच परमेष्ठी पदों में जिनका स्थान सर्वोपरि है। निज शुद्धात्मा निश्चय से सच्चा देव है। परमात्मा मन की कल्पनाओं में नहीं, हृदय के पवित्र भावों में वास करता है। दिगम्बर जैनाचार्य योगीन्दुदेव ने अपनी अत्यंत महिमामय कृति परमात्मप्रकाश और योगसार में देह देवालयवासी परमात्मा का उल्लेख किया है, कतिपय गाथा सूत्र दृष्टव्य हैं –

देहादेवलि जो वसइ देउ अणाइ अणंतु ।
केवल णाण फुरंत तणु सो परमप्पु णिभंतु ।। १/३३।।

अर्थ – जो देह रूपी देवालय में रहता है वह देव अनादि अनंत, प्रगट केवल ज्ञानाकार है, नि:संदेह वह परमात्मा है।

जो परमप्पा णाणमउ सो हउँ देउ अणंतु ।
जो हउँ सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु ।। २/१७५।।

अर्थ – जो ज्ञानमय परमात्मा है, वह मैं अनन्त देव हूँ, जो मैं हूँ वह परमात्मा हैं इस प्रकार नि:संदेह भावना करो। जिन आचार्य श्री योगीन्दुदेव ने अपने आत्मा को ही परमात्मा रूप में भावना भाने की प्रेरणा प्रदान की है यही आचार्य इसी ग्रंथ में प्रथम अध्याय की १२३ वीं गाथा में कहते हैं –

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति ।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम चित्ति ।। १/१२३ ।।

अर्थ – देव, देवालय में नहीं है, शिला अथवा पाषाण की प्रतिमा में नहीं है, लेप में भी नहीं है, चित्र की मूर्ति में भी नहीं है। वह देव अविनाशी है, कर्म रूपी अंजन से रहित है, केवलज्ञान कर पूर्ण है, शिवस्वरूप देव तो समचित्त – साम्यभाव में तिष्ठ रहा है।

इन्हीं आचार्य योगीन्दुदेव की अन्य रचना योगसार में आचार्य देव कहते हैं -

तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइ केवलि वुत्तु ।
देहा देवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु ।। ४२ ।।

अर्थ - श्रुत केवली ने कहा है कि तीर्थों में देवालयों में देव नहीं है, जिनदेव तो देह देवालय में विराजमान हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत बोध पाहुड़ की टीका में उद्धरण उल्लिखित है -

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये ।
भावेषु विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणं ।। १ ।।

अर्थ - काष्ठ की प्रतिमा में, पाषाण की प्रतिमा में अथवा मिट्टी की प्रतिमा में देव नहीं है, देव तो भावों में है, इसलिये भाव ही कारण है।

मोक्षार्थी पुरुष का कर्तव्य है कि अरिहंत, सिद्ध भगवान को आदर्श रूप में स्वीकार करके उनके गुणों का स्मरण आराधन करते हुए अपने हृदय में भाव पूर्वक परमात्मा के बहुमान सहित देह देवालयवासी परमात्मा का दर्शन अनुभवन करे यही वीतराग धर्म का मूल आधार है। लोक व्यवहार की परम्परा लोक व्यवहार तक सीमित रहती है जबकि परमार्थ का मार्ग मुक्ति की प्राप्ति कराता है। इसी श्रृंखला में द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप भी जानने योग्य हैं।

भूत और भविष्यत् पर्याय की मुख्यता को लेकर उसे वर्तमान में कहना द्रव्य निक्षेप है। जैसे - आगे सेठ बनने वाले बालक को अभी से सेठ कहना अथवा जो राजा दीक्षित होकर श्रमण (साधु) अवस्था में विद्यमान हैं उसे भी राजा कहना द्रव्य निक्षेप है।

अंत में भाव निक्षेप का स्वरूप कहते हैं -

केवल वर्तमान पर्याय की मुख्यता से जो पदार्थ वर्तमान जिस दशा में है उसे उस रूप कहना जानना भाव निक्षेप है।

वर्तमान विदेह क्षेत्र के सीमंधर भगवान को तीर्थंकर और महावीर भगवान को सिद्ध कहना भाव निक्षेप है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ के प्रथम अध्याय के पाँचवें सूत्र में जैसा उल्लेख किया है -

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ।। १/५ ।।

नाम स्थापना द्रव्य और भाव (इन चार निक्षेपों) से जीव आदि सात तत्त्वों और सम्यग्दर्शन आदि का लोक व्यवहार होता है।

इसी सूत्र के आधार पर उपरोक्त व्याख्या की गई है। जैन दर्शन के महान ग्रंथ धवला में कहा गया है - ''बाह्यार्थ विकल्पो निक्षेप:'' बाहरी पदार्थों के विकल्प को निक्षेप कहते हैं। इसलिये निक्षेप लोक व्यवहार में साधन हैं। ऐसा जानकर बाह्य विकल्पों से परे होकर अपने उपयोग को अरिहंत सिद्ध परमात्म स्वरूप की अनुभूति में स्थिर कर मोक्षमार्गी बनें यही मंगल भावना है।

....

श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय

मॉडल प्रश्न पत्र

तृतीय वर्ष (प्रवीण)

प्रथम प्रश्न पत्र - श्री तारण तरण श्रावकाचार जी

मॉडल प्रश्न पत्र

समय - ३ घंटा | पूर्णांक - १००

नोट - सभी प्रश्न हल करना अनिवार्य है। शुद्ध व स्पष्ट लेखन पर अंक दिये जावेंगे।

प्रश्न ०१ - रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये । (अंक २×५=१०)

(क) देव देवं नमस्कृतं .... प्रकाशकं। (ख) श्री श्रावकाचार जी .... मत का ग्रंथ है।

(ग) कंठ कमल आसन पर .... विद्यमान है। (घ) आत्मा को .... प्रकार से कहा गया है।

(ङ) संग्रह करने की वृत्ति या तृष्णा को .... कषाय कहते हैं।

प्रश्न ०२ - सत्य/असत्य कथन चुनकर लिखिये । (अंक २×५=१०)

(क) राग के अंतर्गत २५ कषाय आती हैं। (ख) ऊँकार में छह परमेष्ठी समाहित हैं।

(ग) श्रीं अर्थात् मोक्षलक्ष्मी स्वरूप निज शुद्धात्मा। (घ) ममत्व भाव को ही मद्यपान कहा गया है।

(ङ) मांस भक्षण करना रौद्र ध्यान का परिणाम है।

प्रश्न ०३ - निम्नलिखित शब्दों की सही जोड़ी बनाइये । (अंक २×५=१०)

स्तंभ क	-	**स्तंभ ख**
सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी	-	भोग
पंचेन्द्रिय विषय	-	सच्चे देव
दर्शन चारित्र	-	नोकषाय
तीन वेद	-	मायाचारी
धन यश की चाह	-	मोहनीय

प्रश्न ०४ - सही विकल्प चुनकर लिखिये । (अंक २×५=१०)

(क) जीव को कर्म बंध का कारण -	(१) कषाय	(२) क्रोध	(३) मान	(४) माया
(ख) शरीर मैं हूँ, ऐसी मान्यता है -	(१) ज्ञान	(२) मिथ्यात्व	(३) सम्यक्त्व	(४) धर्म
(ग) शुद्ध षट्कर्म किसको होते हैं -	(१) मनुष्य	(२) मिथ्यादृष्टि	(३) सम्यग्दृष्टि	(४) अन्य को
(घ) कुटुम्ब के धनबल को अपना मानना है -	(१) कुलमद	(२)जातिमद	(३) जातिकुलमद	(४) कोई नहीं।
(ङ) बहिरात्मा किसे देखता है -	(१) शुद्धात्मा	(२) अंतरात्मा	(३) पर का वैभव	(४) स्व वैभव

प्रश्न ०५ - किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर ३० शब्दों में लिखिये । (अंक ४×५=२०)

(१.) श्री श्रावकाचार जी में कुल कितनी गाथाएँ हैं और मंगलाचरण में कितनी गाथाएँ हैं ?

(२.) सच्चे गुरु का स्वरूप श्रावकाचार जी के आधार पर लिखिये ?

(३.) चोरी करने का व्यसन क्या है ? (४.) रौद्र ध्यान किसे कहते हैं ? (५.) अधर्म के कितने लक्षण हैं ?

(६.) सम्यक्‌दर्शन होने से क्या लाभ हैं ? (७.) श्री श्रावकाचार जी की कोई एक गाथा शुद्ध रूप में लिखिये।

प्रश्न ०६ - किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर लगभग ५० शब्दों में लिखिये । (अंक ६×५=३०)

(१) सप्त व्यसनों से बचने के लिये क्या करना चाहिये ? (२) मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप और कर्म बंध का कारण क्यों है?

(३) राग के अंतर्गत आने वाली कषायों को लिखिये । (४) सम्यग्दर्शन क्या है और उसकी प्राप्ति का क्या उपाय है?

(५) सच्चे देव गुरु शास्त्र का स्वरूप बताइये । (६) पाँच इन्द्रियों के विषय बताइये ।

(७) मूढ़ता कितनी होती हैं ? उनका स्वरूप बताइये ।

प्रश्न ०७ - किसी एक प्रश्न का उत्तर लगभग २०० शब्दों में लिखिये । (अंक १×१०=१०)

(अ) सम्यग्दर्शन के २५ दोषों का वर्णन कीजिये । अथवा

(ब) श्री तारण तरण श्रावकाचार जी ग्रन्थ के अनुसार अधर्म का लक्षण विस्तार से बताइये ।

श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय

मॉडल प्रश्न पत्र

तृतीय वर्ष (प्रवीण)

द्वितीय प्रश्न पत्र - तत्त्वार्थ सूत्र : अध्याय १ से ५

मॉडल प्रश्न पत्र

समय - ३ घंटा　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　पूर्णांक - १००

नोट - सभी प्रश्न हल करना अनिवार्य है। शुद्ध स्पष्ट लेखन पर अंक दिये जावेंगे।

प्रश्न ०१ - रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये। (अंक २×५=१०)

(क) तत्त्वार्थ सूत्र कर्तारं गृद्ध ....।　　(ख) सम्यग्दर्शन ....,............ मोक्षमार्गस्य।

(ग)....... का लक्षण सत् (अस्तित्व) है।　　(घ)......की उत्कृष्ट स्थिति ३ पल्य और जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है।

(ङ) अंतर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्प्रकाश को .... कहते हैं।

प्रश्न ०२ - सत्य/असत्य कथन चुनकर लिखिये। (अंक २×५=१०)

(क) तत्त्वार्थ सूत्र ग्रंथ संस्कृत भाषा में लिखा गया है। (ख) मुक्त जीव का गमन वक्रता से रहित सीधा होता है।

(ग) आकाश के जितने क्षेत्र को दो पुद्गल परमाणु रोके उतने क्षेत्र को एक प्रदेश कहते हैं।

(घ) जीवजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्।

(ङ) सम्यग्ज्ञान का उपदेश देने के लिये प्रवृत्त हुए अधिकार को अनुयोग कहते हैं।

प्रश्न ०३ - सही जोड़ी बनाइये। (अंक २×५=१०)

स्तंभ क	-	**स्तंभ ख**
द्रव्य का स्वभाव	-	पर्याय
गुण का विकार	-	श्रुतज्ञान
मन का विषय	-	निर्देश
वस्तु स्वरूप का कथन	-	उपयोग
जीव का लक्षण	-	परिणाम

प्रश्न ०४ - सही विकल्प चुनकर लिखिये। (अंक २×५=१०)

(क) जीव के असाधारण भावों में है - (१) क्षायिक (२) पापभाव (३) पुण्यभाव (४) अनुभाव

(ख) मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता पर्यायवाची हैं - (१) श्रुतज्ञान (२) मतिज्ञान (३) केवलज्ञान (४) ज्ञान

(ग) सारस्वत, आदित्य वन्हि आदि के नाम हैं - (१) भवनवासी (२) वैमानिक (३) ज्योतिष्क (४) लौकांतिक

(घ) पुद्गल द्रव्य की पर्याय हैं - (१) दस (२) बीस (३) दो (४) चार

(ङ) सूर्य, चंद्रमा, प्रकीर्णक, तारे आदि भेद हैं - (१) लौकांतिक (२) वैमानिक (३) ज्योतिषी (४) भवनवासी

प्रश्न ०५ - किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर लगभग ३० शब्दों में दीजिये। (अंक ४×५=२०)

(१) प्रदेश किसे कहते हैं, प्रत्येक द्रव्य कितने प्रदेशी है ? (२) मंगलाचरण का अर्थ लिखिये ?

(३) जीवों की उत्पत्ति के स्थान को क्या कहते हैं ? उसके कितने भेद हैं ?

(४) एक जीव को एक साथ अधिक से अधिक और कम से कम कितने ज्ञान होते हैं ?

(५) जम्बूद्वीप के छह कुलाचल के नाम वर्ण सहित लिखिये ? (६) कल्पोपपन्न और कल्पातीत किसे कहते हैं ?

प्रश्न ०६ - किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर लगभग ५० शब्दों में लिखिये। (अंक ६×५=३०)

(१) संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय की परिभाषा लिखिये ? (२) पाँच भावों के कितने और कौन से भेद हैं ? लिखिये।

(३) पारिणामिक भाव को समझाइये ? (४) चार प्रकार के देवों के सामान्य भेद बताइये ?

(५) छह द्रव्यों का उपकार बताइये ? (६) 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' को समझाइये ?

प्रश्न ०७ - किसी एक प्रश्न का उत्तर लगभग २०० शब्दों में दीजिये। (अंक १×१०=१०)

(अ) टिप्पणी लिखिये - (१) जीव के असाधारण भाव (२) तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं (३) अधोलोक और नारकी

अथवा

(ब) तत्त्वार्थ सूत्र जी का सारांश ग्रंथकर्ता के परिचय सहित दिजिये।

श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय

मॉडल प्रश्न पत्र

तृतीय वर्ष (प्रवीण)

तृतीय प्रश्न पत्र - श्री तत्त्वार्थ सूत्र जी : अध्याय ६ से १०

मॉडल प्रश्न पत्र

समय : ३ घंटा पूर्णांक : १००

नोट - सभी प्रश्न अनिवार्य हैं। शुद्ध एवं स्पष्ट लेखन पर अंक दिये जावेंगे।

प्रश्न ०१ - रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये। (अंक २×५=१०)

(क) चार घातिया कर्मों में सबसे पहले .... कर्म का क्षय होता है। (ख) आस्रव को रोकना .... है।

(ग) मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग .... के कारण हैं। (घ) व्रती ...... से रहित होता है।

(ङ) मन, वचन और काय के अवलंबन से आत्मा के प्रदेशों का सकंप होना...... है।

प्रश्न ०२ - सत्य/असत्य कथन चुनकर लिखिये। (अंक २×५=१०)

(क) शुभ: पुण्यस्याशुभ: पापस्य। (ख) द्रव्य की स्वशक्ति विशेष को वीर्य (बल) कहते हैं।

(ग) तप से केवल संवर होता है। (घ) कर्म सूक्ष्म और इंद्रियगोचर हैं।

(ङ) विपरीत श्रद्धान वाले जीव से राग-द्वेष पूर्वक व्यवहार करना माध्यस्थ भाव है।

प्रश्न ०३ - सही जोड़ी बनाइये। (अंक २×५=१०)

स्तंभ क	-	**स्तंभ ख**
जीव अधिकरण के भेद	-	५-५
व्रत की भावनाएँ	-	८
प्रकृति बंध के मूल भेद	-	सवा सौ धनुष
सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहन	-	स्नातक
केवली भगवान	-	१०८

प्रश्न ०४ - सही विकल्प चुनकर लिखिए। (अंक २×५=१०)

(क) लोकांत विराजने वाले जीव होते हैं - (१) सम्यग्दृष्टि (२) ज्ञानी (३) संसारी (४) मुक्त

(ख) मोहनीय कर्म की कितनी प्रकृतियां हैं - (१) तेरानवे (२) सत्ताईस (३) पच्चीस (४) अट्ठाईस

(ग) शहद लपेटी तलवार है - (१) मोहनीय (२) वेदनीय (३) आयु (४) नाम

(घ) तीर्थंकरों के भेद है - (१) एक (२) दो (३) तीन (४) चौबीस

(ङ) अल्प आरंभ परिग्रह किस आयु का कारण है - (१) मनुष्य (२) देव (३) तिर्यंच (४) नरक

प्रश्न ०५ - किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर लगभग ३० शब्दों में लिखिए। (अंक ४×५=२०)

(१) ऊर्ध्वगमन करते हुए जीव अलोकाकाश में क्यों नहीं जाता ? (२) सम्यक् वैयावृत्य तप के भेदों के नाम लिखिये ?

(३) फल देने के बाद कर्मों का क्या होता है, समझाइये ? (४) दान का स्वरूप एवं विशेषता बताइये ?

(६) असाता वेदनीय कर्मास्रव के कारण संक्षेप में बताइये ? (५) दातार की विशेषता बताइये ?

प्रश्न ०६ - किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर लगभग ५० शब्दों में लिखिए। (अंक ६×५=३०)

(१) अनुप्रेक्षाओं का नाम लिखकर किसी दो अनुप्रेक्षाओं का स्वरूप बताइये ?

(२) आत्मा अमूर्तिक है, कर्म मूर्तिक हैं तब वह कर्मों को कैसे ग्रहण करता है ?

(३) सप्तशील क्या हैं, समझाइये ? (४) अहिंसा एवं सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ बताइये

(५) मोक्ष का कारण और उसके लक्षण बताइये ? (६) ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मास्रव के कारण बताइये?

प्रश्न ०७ - किसी एक प्रश्न का उत्तर २०० शब्दों में लिखिये। (अंक १×१०=१०)

(अ) टिप्पणी लिखिये - (१) मोक्ष (२) निर्जरा अथवा किसी एक अध्याय का सारांश लिखिये ?

अथवा

(ब) आस्रव पर संक्षिप्त निबंध लिखिये ?

मॉडल प्रश्न पत्र

श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय

तृतीय वर्ष (प्रवीण)

चतुर्थ प्रश्न पत्र - जैन सिद्धांत प्रवेशिका

मॉडल प्रश्न पत्र

समय : ३ घंटा पूर्णांक - १००

नोट - सभी प्रश्न अनिवार्य हैं। शुद्ध एवं स्पष्ट लेखन पर अंक दिये जायेंगे।

प्रश्न ०१ - रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये। (अंक २×५=१०)

(क) राज्य करते हुए पुरुष को राजा कहना .... है।

(ख) सदोष लक्षण को .... कहते हैं।

(ग) जो भाव कर्मों के उदय के निमित्त से हो उसे ....भाव कहते हैं।

(घ) जिसका स्वामी एक ही जीव होता है, उसे .... कहते हैं।

(ङ) आत्मा से समस्त कर्मों के विप्रमोक्ष को .... कहते हैं।

प्रश्न ०२ - सत्य/असत्य कथन चुनकर लिखिये। (अंक २×५=१०)

(क) प्रदेशों की सामान्य रचना को निर्वृत्ति कहते हैं। (ख) जिसका लक्षण किया जाता हो उसे लक्ष्य कहते हैं।

(ग) विग्रहगति में कार्मण काय योग होता है। (घ) मोक्षप्राप्ति का उपाय बंध और आस्रव है।

(ङ) 'तालाब में अग्नि का अभाव होने से धूम का अभाव होना' यह व्यतिरेक दृष्टांत है।

प्रश्न ०३ - सही जोड़ी बनाइये। (अंक २×५=१०)

स्तंभ क	-	**स्तंभ ख**
केवलान्वयी	-	सदोष हेतु
उपशम क्षपक	-	आवली
असंख्यात समय	-	व्युच्छित्ति
हेत्वाभास	-	श्रेणी
संबंध विच्छेद	-	विपक्ष रहित

प्रश्न ०४ - सही विकल्प चुनकर लिखिए। (अंक २×५=१०)

(क) पूर्वबद्ध कर्मों का एकदेश वियोग है - (१) संवर (२) निर्जरा (३) बंध (४) मोक्ष

(ख) दूसरा गुणस्थान है - (१) मिथ्यात्व (२) मिश्र (३) सासादन (४) क्षीणमोह

(ग) कषाय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति को कहते हैं - (१) लेश्या (२) कषाय (३) पाप (४)अधर्म

(घ) ज्ञानावरणादि कर्म के विशेष क्षयोपशम को कहते हैं - (१) ज्ञान (२) भावना (३) लब्धि (४)उपकरण

(ङ) परम हितोपदेशी वीतरागी सर्वज्ञ देव को कहते हैं - (१)सम्यक्त्वी (२) महात्मा (३)आप्त (४)आगम

प्रश्न ०५ - किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर ३० शब्दों में लिखिए। (अंक ४×५=२०)

(१) अयोगकेवली गुणस्थान किसे कहते हैं और वह किसे होता है ?

(२) नय के कितने भेद हैं ? परिभाषा लिखिए ? (३) हेतु और हेत्वाभास में अंतर लिखिए ?

(४) आत्मभूत और अनात्मभूत लक्षण में अंतर लिखिये ? (५) गुण स्थानों के नाम क्रम से लिखिए ?

(६) मार्गणा किसे कहते हैं ? उसके कितने भेद हैं ?

प्रश्न ०६ - किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर ५० शब्दों में लिखिए। (अंक ५×६=३०)

(१) असली सुख क्या है ? वह कब और कैसे मिल सकता है ? (२) श्रेणी चढ़ने का पात्र कौन है ?

(३) लक्षणाभास किसे कहते हैं ? भेद सहित बताइए ? (४) प्रमाण और प्रमाणभास में अंतर बताइए ?

(५) संयम मार्गणा और उसके भेद बताइए ? (६) जन्म और उसके भेद बताइए ?

प्रश्न ०७ - किसी एक पर २०० शब्दों में टिप्पणी लिखिए। (अंक १×१०=१०)

(अ) मार्गणा (ब) गुणस्थान (स) वस्तु को जानने के उपाय

।। वन्दे श्री गुरु तारणम् ।।

श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय

संचालन संस्था - श्रीमद् तारण तरण ज्ञान संस्थान, संबद्ध - श्री सम्मेद शिखर जी मधुबन जिला - गिरिडीह (झारखंड)

संचालन कार्यालय - श्री तारण भवन, संत तारण तरण मार्ग, छोटी बाजार, छिन्दवाड़ा (म.प्र.) फोन : ०७१६२-२४५२७८

प्रवेश आवेदन पत्र

मैं श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय में ज्ञानोपार्जन की भावना से अध्ययन हेतु प्रवेश पाने हेतु इच्छुक हूँ। अत: निवेदन है कि आप मुझे प्रवेश हेतु स्वीकृति प्रदान करें।

प्रवेशार्थी स्वयं का पासपोर्ट साइज फोटो लगायें

मेरी व्यक्तिगत आवश्यक जानकारी निम्नानुसार है -

१. नाम - श्री/कु./श्रीमती/सुश्री : ....

२. पिता/ पति श्री : .... ३. जन्म तिथि : ...../...../..... उम्र : .... जन्मस्थान: ....

४. पुरुष/महिला : .... जाति : .... लौकिक शिक्षा : ....

५. पत्र व्यवहार का पूरा पता (पिनकोड सहित) : ....

विकासखंड : .... तहसील : .... जिला/प्रदेश : ....पिनकोड : ....

६. फोन व मोबाइल : .... ईमेल/फेक्स : .... प्रवेश शुल्क : ....

७. प्रवेश वर्ष (जिस वर्ष में प्रवेश लेना हो उस वर्ष में सही का चिन्ह लगायें)(प्रथम वर्ष उत्तीर्ण होने पर ही अगले वर्ष की पात्रता होगी)

प्रथम वर्ष (प्रवेश) ☐ द्वितीय वर्ष (परिचय) ☐ तृतीय वर्ष (प्रवीण) ☐

चतुर्थ वर्ष (प्रज्ञ) ☐ पंचम वर्ष (शास्त्री) ☐

८. प्रवेश वर्ग - (प्रवेशार्थी अपनी उम्र के अनुसार प्रवेश वर्ग में सही का चिन्ह लगायें)

दर्शन वर्ग ☐ (१५ से २५ वर्ष) ज्ञान वर्ग ☐ (२६ से ४० वर्ष) ममल वर्ग ☐ (४१ वर्ष से ऊपर)

९. श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय द्वारा संचालित गत वर्ष की परीक्षा का विवरण -

प्रवेश वर्ष का नाम	उत्तीर्ण वर्ष	प्राप्तांक	प्रतिशत	श्रेणी	अनुक्रमाँक

एतद् द्वारा मैं प्रमाणित करता हूँ/करती हूँ कि मुझसे संबंधित उपरोक्त जानकारी सत्य है। श्री तारण तरण मुक्त महाविद्यालय द्वारा निर्देशित समस्त नियम मुझे स्वीकार हैं और मैं इन नियमों का निष्ठापूर्वक पालन करूँगा/करूँगी।

पालक का नाम एवं हस्ताक्षर

विद्यार्थी के हस्ताक्षर एवं पूरा नाम

दिनाँक : ....../...../......

स्थान : ....